भरत का संगीत सिद्धान्त

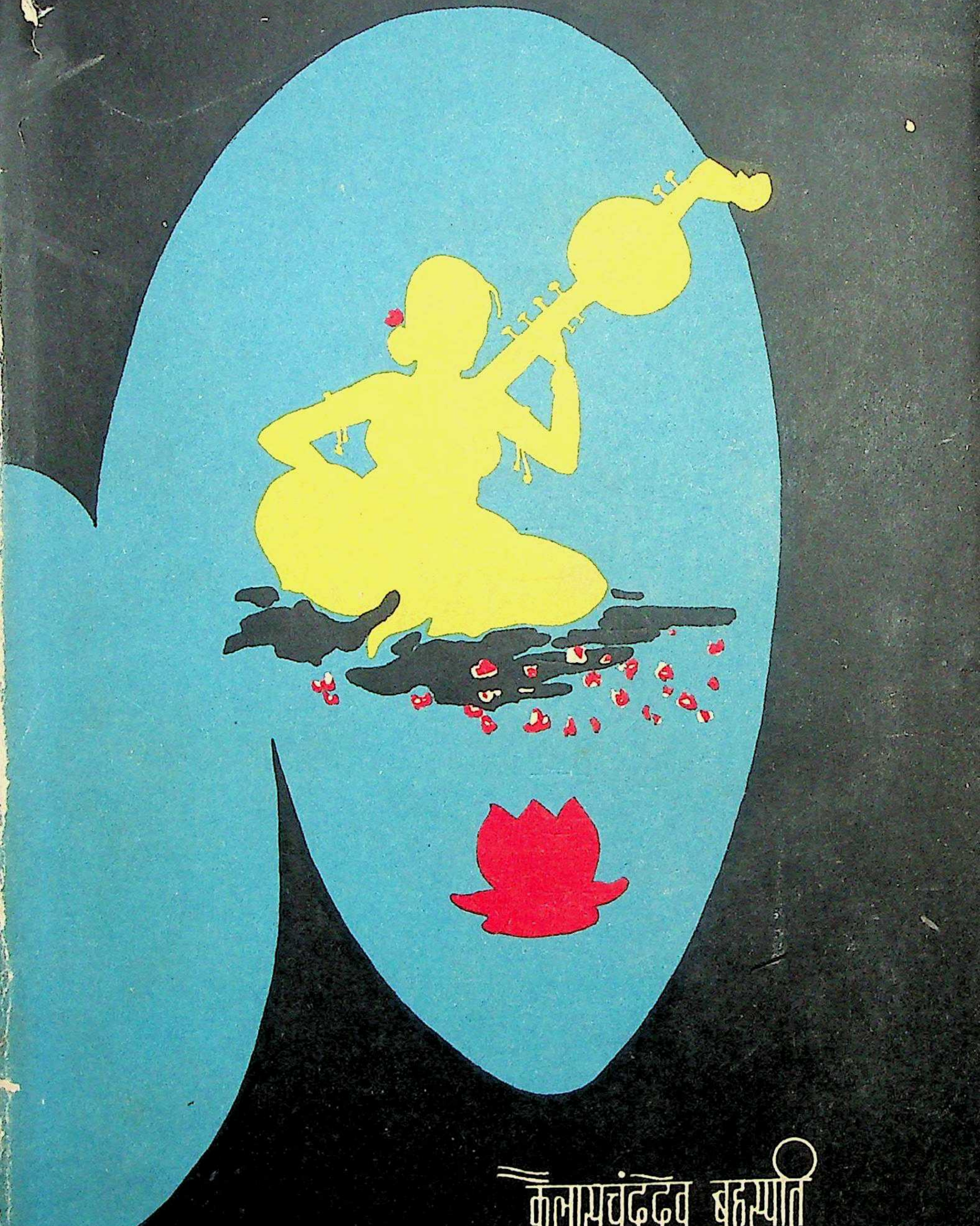

कैलासचंद्रदेव बृहस्पति

भरत का संगीत-सिद्धान्त

भरत का संगीत-सिद्धान्त

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—२८

भरत का संगीत-सिद्धान्त

लेखक
श्री कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति
एम. ए., शास्त्री

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

State Museum Library
Lucknow

प्रथम संस्करण
१९५९

मूल्य
साढ़े छः रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य की समुन्नति एवं संवृद्धि के लिए उत्तर प्रदेश प्रशासन ने हिन्दीसमिति के तत्त्वावधान में विविध विषयों के ग्रन्थ प्रकाशित करने की जो योजना बनायी थी, उसी के अन्तर्गत यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। इसमें महर्षि भरत के संगीत-सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन किया गया है । इसके लेखक हैं सनातनधर्म कालेज, कानपुर के यशस्वी प्राध्यापक श्री कैलासचन्द्र देव बृहस्पति । यह हिन्दी समिति ग्रन्थमाला का २८वाँ पुष्प है ।

लेखक के पूर्वज, कम से कम चार पीढ़ियों से, रामपुर राज्य के दरबार में रहे हैं, अतः संगीतसम्बन्धी संस्कार उन्हें प्रायः आनुषंगिक रूप से ही प्राप्त हुए हैं। उन्हें ऐसे "सद्गुरुओं" के चरणों में बैठकर स्वर-साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ है जिन पर आज के अनेक सुप्रसिद्ध एवं सुसम्मानित संगीत-शास्त्रियों की भी अपार श्रद्धा है। अनेक विद्वानों की सत्संगति और अभ्रान्त पथ-प्रदर्शन का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ है। इसके सिवा उन्होंने भरत के मूल नाटचशास्त्र, शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर आदि अनेक ग्रन्थों का वर्षों से अनुशीलन और मनन किया है, जिसकी स्पष्ट छाप हमें इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में देखने को मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ महर्षि भरत के "नाटच-शास्त्र" का अनुवाद नहीं है। यह उनके संगीतसम्बन्धी सिद्धान्तों का व्याख्यात्मक विवेचन एवं मण्डनात्मक विश्लेषण है । भरत मुनि ने संगीत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, कालगति के प्रभाव से वह दुर्बोध होने लगा था, अतः उनके विचारों को स्पष्ट करने के लिए मतंग, नान्यदेव, कुंभ, शार्ङ्गदेव आदि ने अपनी-अपनी रचनाओं में उनका पर्याप्त विवेचन किया । हिन्दी में

इस विषय पर कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं लिखा गया था। बृहस्पतिजी ने प्रस्तुत पुस्तक की रचना कर इस अभाव की पूर्त्ति कर दी है। मूल विषय का वर्णन और स्पष्टीकरण समाप्त कर चुकने के बाद आपने अन्त के चार अनुबन्धों में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और परमोपयोगी है। ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और बड़ी खोज के साथ लिखा गया है। हमें पूरी आशा है कि संगीत के प्रेमियों और उसका विशिष्ट अध्ययन करनेवालों के लिए यह पुस्तक परम लाभदायक प्रमाणित होगी।

भगवतीशरण सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

भूमिका

जर्मनी के महाकवि गेटे ने कहा है कि एक महान् चिन्तक जो सबसे बड़ा सम्मान आगामी पीढ़ियों को अपने प्रति अर्पण करने के लिए बाध्य करता है, वह है उसके विचारों को समझने का सतत प्रयत्न। महर्षि भरत ऐसे ही महान् चिन्तक थे, जिन्हें समझने की चेष्टा मनीषियों ने शताब्दियों से की है, परन्तु जिनके विषय में कदाचित् कोई भी यह न कहेगा कि अब कुछ कहने को शेष नहीं है। उनके रस-सिद्धान्त पर बड़े-बड़े कवियों और समालोचकों ने बहुत कुछ लिखा है और अभी न जाने कितने ग्रन्थ लिखे जायँगे। उन्होंने सङ्गीत पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा, उनका ग्रन्थ है नाटच-शास्त्र। अपने यहाँ सङ्गीत नाटच का प्रधान अङ्ग माना गया है। भरत ने नाटच में सङ्गीत का महत्त्व इन शब्दों में स्वीकार किया है—

"गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्यां हि नाटचस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाटच-प्रयोगो न विपत्तिमेति ॥"

अर्थात् नाटच-प्रयोक्ता को पहले गीत का ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि गीत नाटच की शय्या है। यदि गीत और वाद्य का अच्छे प्रकार से प्रयोग हो, तो फिर नाटच-प्रयोग में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होती।

अतः भरत ने अपने नाटचशास्त्र में सङ्गीत पर भी कुछ अध्याय लिखे हैं, किन्तु इन थोड़े से ही अध्यायों में उन्होंने सङ्गीत के सब मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया है और उनके साथ ही अपने समय के 'जातिगान' का भी वर्णन किया है। काल-गति से भरतकालीन सङ्गीत में कुछ अन्तर आ गया और उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह दुर्बोध होने लगा। मतङ्ग के समय में भी—जिनका काल प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार नवीं शती ई० है—भरत के सिद्धान्तों का समझना कठिन हो गया था। फिर भी भरत-सम्प्रदाय के समझनेवाले शार्ङ्गदेव के काल (१३वीं शती ई०) तक वर्तमान थे। उसके अनन्तर भरत-सम्प्रदाय का लोप-सा ही हो गया। भरत ने सङ्गीत

---

१. भरत ना. शा. सा., नि. सा. सं., अध्याय ३५श्लोक ४४१, पृ. ६०२

पर जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही संक्षिप्त रूप में है। साथ ही उनके समय के सङ्गीत की संज्ञाएँ भी धीरे-धीरे बदलती गयीं, इसलिए उनके सिद्धान्त को समझना कठिन हो गया। अतीत में उनके विचारों को स्पष्ट करने के लिए मतङ्ग, नान्यदेव, अभिनव-गुप्त, कुम्भ, शार्ङ्गदेव इत्यादि विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से लिखा। इधर बीसवीं शती में भरत पर फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। श्री क्लेमेण्ट्स्, श्री देवल, प्रो० पराञ्जपे, पं० विष्णुनारायण भातखण्डे, श्री कृष्णराव गणेश मुले और पं० ओंकारनाथ ठाकुर इत्यादि विद्वानों ने भरत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। श्री कृष्णराव गणेश मुले ने अपने मराठी ग्रन्थ 'भारतीय सङ्गीत' में भरत-सिद्धान्त का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। मैंने कुछ मराठी मित्रों की सहायता से यह ग्रन्थ पढ़ा। इससे मुझे भरत-सिद्धान्त को समझने में बड़ी सहायता मिली। मैं यह सोचता था कि यदि इसका अनुवाद हिन्दी में हो जाता तो बहुत अच्छा होता। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ का अभाव मुझे खटकता रहा। यह बड़े हर्ष का विषय है कि पं० कैलासचन्द्र देव बृहस्पति ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। आपका 'भरत का संगीत-सिद्धान्त' किसी ग्रन्थ का अनुवाद नहीं है। आपने भरत के मूल नाटचशास्त्र, मतङ्ग की बृहद्देशी, शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर इत्यादि ग्रन्थों का बीस वर्ष से अध्ययन और मंथन किया है। आप संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं और साथ ही आपको सङ्गीत का क्रियात्मक ज्ञान भी है। अतः आप भरत पर लिखने के लिए बहुत ही उपयुक्त अधिकारी हैं। आपने छः अध्यायों में भरत के मुख्य सिद्धान्तों का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है और कुछ ज्ञातव्य विषयों पर चार अनुबन्ध भी जोड़ दिये हैं। आपने मूल ग्रन्थों का परिशीलन तो किया ही है, प्रो० रामकृष्ण कवि के 'भरत-कोश' का भी पूरा उपयोग किया है। ग्रन्थ भर में आपने किसी अन्य ग्रन्थकार का कहीं व्यक्तिगत खण्डन नहीं किया है। आपका ग्रन्थ केवल मण्डनात्मक है, इसे पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं नीर-क्षीर-विभेद कर सकेंगे।

भूमिका-लेखक के लिए एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि यदि वह ग्रन्थ के विषयों पर अपनी भूमिका में ही बहुत कुछ कह देता है तो वह ग्रन्थकार के साथ अन्याय करता है, क्योंकि प्रतिपाद्य विषयों पर ग्रन्थकार का विचार पाठक को ग्रन्थ से ही मिलना चाहिए। यदि वह प्रतिपाद्य विषयों पर कुछ नहीं कहता, तो भी वह ग्रन्थकार के साथ अन्याय करता है, क्योंकि फिर वह ग्रन्थ के प्रति पाठकों का ध्यान ही नहीं आकृष्ट कर सकता। मैंने इस उभयापत्ति के मध्य का मार्ग ग्रहण किया है। अतः इस भूमिका में कुछ संकेत मात्र कर रहा हूँ जिससे पाठक यह जान जायँ कि प्रतिपाद्य विषय क्या है, परन्तु उनको विस्तृत रूप से जानने की उत्सुकता बनी रहे।

पहले अध्याय में लेखक ने ग्राम, श्रुति और स्वर पर विचार किया है। स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। स्वरों से ग्राम और श्रुतियों से स्वर बने हैं। परस्पर-सम्बद्ध होने के कारण इन सबका एक साथ विचार इस अध्याय में किया गया है। महाराज कुम्भ ने ग्राम की बहुत सुन्दर परिभाषा की है :—

"व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र संवादिनः स्वराः।
मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति संज्ञितः॥"[१]

अर्थात् ग्राम 'संवादी स्वरों' का वह समूह है जिसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्च्छना इत्यादि का आश्रय हो। भरत ने केवल षड्ज और मध्यम ग्राम का वर्णन किया है। उन्होंने गान्धार ग्राम की चर्चा नहीं की है। लेखक ने यह स्पष्ट रूप से बतलाया है कि भरत ने श्रुतियों की व्यवस्था संवादित्व के आधार पर की है। पहले क्रियात्मक रूप से देख लिया कि कौन-कौन स्वर परस्पर संवादी हैं, फिर उन्होंने यह जानने की चेष्टा की कि संवादी स्वर कितनी श्रुतियों के अन्तर पर स्थित हैं, फिर क्रमशः उन्होंने प्रत्येक स्वर की श्रुतिसंख्या प्राप्त की।

लेखक ने पहले यह दिखलाया है कि किस प्रकार नवतन्त्री विपञ्ची वीणा पर षड्ज, ऋषभ, भरतोक्त शुद्ध गान्धार, अन्तरगान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकलीनिषाद प्राप्त होते हैं। इस अध्याय का 'श्रुति-दर्शन-विधान' बहुत ही पाण्डित्य-पूर्ण है। इसमें लेखक ने पहले भरत की चतुःसारणाएँ विस्तारपूर्वक समझायी हैं और यह दिखलाया है कि उनसे किस प्रकार श्रुतियों की संख्याएँ प्राप्त होती हैं। इसके अनन्तर लेखक ने यह दिखलाया है कि उनके द्वारा निर्मित 'श्रुतिदर्पण' वाद्य पर किस प्रकार समस्त सारणाएँ सम्पन्न हो जाती हैं और श्रुतियों की संख्याएँ सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकती हैं। यदि यह 'श्रुति-दर्पण' बनवाकर संगीत-विद्यालयों को दे दिया जाय, तो श्रुतियों के समझने में छात्रों का बहुत उपकार होगा। भरत का श्रुति-सम्बन्धी मत नाटचशास्त्र के एक पृष्ठ में दिया हुआ है, किन्तु वह इतना संक्षिप्त है कि विद्वानों के लिए विवाद का विषय बन गया है। लेखक का स्पष्टीकरण प्रो॰ मुले के स्पष्टीकरण से बहुत मिलता है। यदि किसी प्रयोगशाला में विज्ञान और गणित के आधार पर इन श्रुतियों का विश्लेषण किया जाय, तो मैं समझता हूँ कि यह विवाद सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

इसके अनन्तर लेखक ने श्रुतियों के परिमाण पर विचार किया है और यह सिद्ध

---

१. भरतकोश पृ॰ १८९

किया है कि श्रुतियों का परस्पर अन्तर बराबर नहीं है। प्रो० मुले ने भी अपने ग्रन्थ में 'श्रुतीचें गणितमूल्य' शीर्षक के अन्तर्गत प्रो० वी० जी० परांजपे के एक लेख के आधार पर गणित द्वारा यह सिद्ध किया है कि श्रुतियों के अन्तर सम नहीं, विषम हैं।

दूसरे अध्याय में लेखक ने मूर्च्छना पर विचार किया है। भरत का मूर्च्छना से क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण लेखक ने शास्त्र के प्रचुर प्रमाणों से किया है। मूर्च्छन का अर्थ उभरना या चमकना है। भरत के मत में सप्त स्वरों का क्रमपूर्वक प्रयोग ही मूर्च्छना है—

"क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।"

लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सप्तस्वरता मूर्च्छना का मुख्य लक्षण है। अतः भरत-मत से सम्पूर्ण अवस्था को ही मूर्च्छना कह सकते हैं। 'औडुवित' और 'षाडवित' अवस्थाएँ मूर्च्छना नहीं, तान हैं। इसके अनन्तर लेखक ने षड्ज और मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम और स्वर दिये हैं और दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं का मण्डल-प्रस्तार द्वारा स्पष्टीकरण किया है। इसके बाद मूर्च्छनाओं पर आश्रित तानों के नाम और 'सरगम' दिये गये हैं।

मूर्च्छनाओं के प्रयोजन को लेखक ने बहुत सुन्दर रीति से समझाया है। इसका इतना विशद और पाण्डित्यपूर्ण वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता।

आपने यह दिखलाया है कि भरतोक्त जाति के वादन के लिए मन्द्र स्थान और तार स्थान में जाने के लिए परावधि निश्चित थी। ये दोनों पराकाष्ठाएँ मत्तकोकिला वीणा पर उस समय सरलतापूर्वक संभव होती थीं जब कि तीनों सप्तकों में एक विशिष्ट मूर्च्छना उस पर मिली हो। मूर्च्छनाओं का आश्रय लेने से मन्द्र और तार की अवधियों की प्राप्ति हो जाती थी। भरत के अनन्तर मन्द्रावधि और तारावधि के नियम में शिथिलता आ गयी और वादक को यह स्वतन्त्रता मिल गयी कि वह इन दोनों स्थानों में इच्छापूर्वक घूम सके। अतः अब अंशबाहुल्य को देखकर विद्वान् मूर्च्छना का निश्चय करने लगे। इस सम्बन्ध में लेखक ने मतङ्ग के द्वादश-स्वर-मूर्च्छना-वाद का आलोचनात्मक विवेचन किया है और अन्त में वादन में मूर्च्छना द्वारा किस प्रकार सौकर्य होता था इसे विस्तारपूर्वक समझाया है।

तृतीय अध्याय में जाति-लक्षण पर विचार किया गया है। जाति-गान वस्तुतः गान्धर्व-गान था जो बहुत ही प्राचीन समय से चला आ रहा था। भरत ने जाति-गान का आविष्कार नहीं किया, उसके लक्षण बतलाये हैं। जाति-गान बहुत ही पावन समझा जाता था और उसके नियमों में कोई हेर-फेर नहीं किया जा सकता था। जातियाँ

वेदमन्त्रों के समान पवित्र समझी जाती थीं। यह बात रघुनाथ की सङ्गीत-सुधा के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है—

"यथैव सामानि ऋचो यजूंषि नैवान्यथा कैश्चिदिह क्रियन्ते ।
सामप्रभूता अति जातयोऽमूरिहान्यथाष्टादश नैव कार्याः ॥"[१]

मतङ्ग के समय तक जाति-प्रयोग का इस प्रकार लोप हो गया कि उनके लिए उसकी निश्चित रूप से परिभाषा देना भी कठिन हो गया। आजकल विद्वानों में जातिस्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। मेरी समझ से इसकी अभिनवगुप्त-कृत परिभाषा सर्वोत्तम और ग्राह्य है। उन्होंने कहा है—

"तत्र केयं जातिर्नाम। उच्यते—स्वरा एव विशिष्टाः सन्निवेशभाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदयं च जनयन्तो जातिरित्युक्ताः। कोऽसौ सन्निवेश इति चेज्जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेशः[२]।"

अर्थात् रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को निष्पन्न करनेवाले विशिष्ट स्वर विशेष प्रकार के सन्निवेश में जाति कहलाते हैं। इस परिभाषा में दो बातें ऐसी हैं जो बिलकुल स्पष्ट हैं—

(१) स्वरों का विशेष सन्निवेश या विन्यास।

(२) इस सन्निवेश में रञ्जकता का होना।

स्वरों के विशेष सन्निवेश से क्या तात्पर्य है, इसको अभिनवगुप्त ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—"जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेशः" अर्थात् सन्निवेश से तात्पर्य है जाति के दस लक्षण। वे दस लक्षण निम्नलिखित हैं—

"ग्रहाँशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च।
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडुविते तथा[३] ॥"

जिसमें ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व के नियमों द्वारा स्वर-सन्निवेश किया गया हो वह 'जाति' है। जाति-गान सङ्गीत की एक बहुत विकसित अवस्था में प्रादुर्भूत हुआ था। तभी वह इतने लक्षणों द्वारा व्यक्त होता था।

विद्वान् लेखक ने इन दस लक्षणों को इस ग्रन्थ में भली-भाँति समझाया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण अंशस्वर है। अंश-स्वर के ही महत्त्व को समझने से 'जाति' का रहस्य समझ में आ सकता है। लेखक ने इन सब लक्षणों को समझाते

---

१. भ० को० पृ. २२८ २. भ० को० २२७ ३. ना० शा० अध्याय २८, श्लोक ७४

हुए जाति-गान और वादन पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होंने १८ जातियों का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें से सात जातियों के नाम सात स्वरों पर हैं। जातियाँ दो प्रकार की हैं—शुद्ध और विकृत। शुद्ध जातियाँ वे हैं जिनमें कोई स्वर कम नहीं होता और नामस्वर ही जिनमें अंश, ग्रह और न्यास होता है। न्यासस्वर के अतिरिक्त एक, दो या अनेक लक्षणों में विकार होने से ये जातियाँ विकृत कहलाने लगती हैं।

अंशस्वर के संवादी स्वर का कभी लोप नहीं होता—इस आधार पर ग्रन्थकर्त्ता ने बहुत सुन्दर रूप से जातियों के प्रकार को समझाया है और विभिन्न आचार्यों के जाति-लक्षण दिखलाकर उन्होंने यह दर्शाया है कि उनमें भरत-परम्परा अक्षुण्ण रही है। अन्त में उन्होंने जातियों के ध्यान भी दिये हैं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने सङ्गीत-रत्नाकर में दिये हुए जाति-प्रस्तारों को विशद रूप से समझाकर लिखा है और उनके अनुसार स्वर-लिपि से जातियों का प्रत्यक्षीकरण किया है। लेखक का यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसके द्वारा विद्यार्थी समझ सकता है कि जातियाँ किस प्रकार गायी जाती थीं और इन्हें वह गा भी सकता है।

पञ्चम अध्याय में स्वर-साधारण और जाति-साधारण का विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण किया गया है। शार्ङ्गदेव ने स्वर-साधारण के विषय में बहुत ही ठीक कहा है—

"साधारण्यमतस्तस्य यत्तत्साधारणं विदुः।"

(अडयार संस्करण, अ० १, पृ० १४७)

अर्थात् जो स्वर न तो पूर्व स्थिति को पूर्णतया छोड़ चुका हो और न पर-स्थिति को पूर्णतया ग्रहण किये हो, जो दोनों का आधार लिये हो, वह है साधारण 'स्वर'।

"सह आधारणेन वर्तते इति साधारणः।"

(अमरकोश, भानुजी दीक्षित की व्याख्या)

लेखक ने एक मण्डल-प्रस्तार में साधारण स्वरों का श्रुति-स्थान भली-भाँति समझाया है।

छठे अध्याय में लेखक ने राग का विशद वर्णन किया है। इन्होंने पहले राग की परिभाषा समझायी है और फिर यह बतलाया है कि भरतोक्त ग्रामराग जाति से उत्पन्न हुए हैं। कल्लिनाथ ने मतङ्ग का उद्धरण देते हुए स्पष्ट कहा है—

"तथा चाह भरतमुनिः—जातिसंभूतत्वाद् ग्रामरागाणाम्।"

(सं० र०, अडयार संस्करण, अध्याय, २, पृ० ८)

जिस रूढ अर्थ में आजकल हम 'राग' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका वस्तुतः 'जाति' पूर्वरूप है। लेखक ने ग्रामरागों का उदाहरण-सहित वर्णन किया है।

लेखक ने कहा है—"जातियों के दस लक्षणों में प्रमुखतया लक्षण 'अंश' का वर्णन करते हुए उसके लक्षण में महर्षि ने कहा है कि 'राग का जिसमें निवास होता है और राग जिससे प्रवृत्त होता है......वह अंशस्वर है।' इससे यह सिद्ध है कि महर्षि जातियों को भी राग ही मानते हैं।"

मेरी समझ में महर्षि ने जहाँ यह कहा है कि "रागश्च यस्मिन् वसति, यस्माच्चैव प्रवर्तते" वहाँ महर्षि ने राग को रूढ अर्थ में नहीं लिया है, किन्तु यौगिक अर्थ में लिया है। अर्थात् उनका तात्पर्य यह है कि 'अंशस्वर' वह है जिसमें जाति की रञ्जकता निवास करती है और जिससे रञ्जकता प्रवृत्त होती है। अतः इससे यह सिद्ध करना कठिन होगा कि वह जातियों को भी रूढ अर्थ में राग ही मानते हैं। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि रूढार्थ में प्रयुक्त 'राग' की 'जाति' पूर्वरूप या आधार थी।

इन छः अध्यायों में भरत-सिद्धान्त का पूर्णरूप से प्रतिपादन हुआ है। इनके अनन्तर जो चार अनुबन्ध दिये गये हैं, वे भी पठनीय और मननीय हैं। पहले अनुबन्ध में भरत-सिद्धान्त में आये हुए पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है। दूसरे में रस-सिद्धान्त को संक्षेप में समझाया गया है और भिन्न-भिन्न रसों का विशिष्ट स्वर-सन्निवेशों से सम्बन्ध बतलाया गया है। तीसरे में श्रुतियों की अनन्तता और देशी रागों में प्रयोज्य ध्वनियाँ बतलायी गयी हैं और मूर्च्छना तथा आधुनिक ठाठों की स्वर-विश्लेषण द्वारा तुलना की गयी है। चौथे में भारतीय सङ्गीत के १५वीं शती ई० तक के शास्त्रकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

समग्र ग्रन्थ बहुत खोज के साथ लिखा गया है। भरत-सिद्धान्त को समझने के लिए यह अत्युत्तम कृति है। लेखक ने इसकी रचना करके सङ्गीत के विद्यार्थियों का बहुत उपकार किया है। वे हमारे साधुवाद के पात्र हैं। आशा है, संगीतानुरागियों द्वारा इसका यथोचित आदर होगा।

जयदेव सिंह

उद्धरण-संकेत

१. अ०, अध्या०	...	अध्याय
२. अ० भा०	...	अभिनवभारती
३. अभिनव०	...	,,
४. अ० सं०	...	अडयार-संस्करण
५. आ०	...	आचार्य्य
६. क० टी०	...	संगीतरत्नाकर की कल्लिनाथ-कृत टीका
७. कल्लि०	...	,,
८. का० प्र०	...	काव्यप्रकाश
९. का० प्र० टी०	...	काव्यप्रकाश की वामनकृत टीका
१०. कारि०	...	कारिका
११. का० सं०	...	काशी-संस्करण
१२. गा० सं०	...	गायकवाड़ सीरीज-संस्करण
१३. ताला०	...	तालाध्याय
१४. तैत्ति० प्राति०	...	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
१५. द्वि०	...	द्वितीय
१६. ध्व०	...	ध्वन्यालोक
१७. नान्य०	...	नान्यदेव
१८. ना० शा०	...	भरतनाट्यशास्त्र
१९. पण्डित०	...	पण्डितमण्डली
२०. परि०	...	परिच्छेद
२१. प्रकी०, प्रकीर्णका०	...	प्रकीर्णकाध्याय
२२. प्रब०	...	प्रबन्धाध्याय
२३. ब० सं०	...	बम्बई-संस्करण

२४. भ० को०	...	भरत-कोश
२५. भ० ना० शा०, भरत०	...	भरत-नाट्य-शास्त्र
२६. म० यु० सं०	...	मद्रास-युनिवर्सिटी-संस्करण
२७. मोक्ष०	...	मोक्षदेव
२८. रत्नाकर	...	सङ्गीत-रत्नाकर
२९. राग०, रागा०	...	रागविवेकाध्याय
३०. वाद्या०	...	वाद्याध्याय
३१. वृ०	...	वृत्ति
३२. शार्ङ्ग०	...	शार्ङ्गदेव
३३. श्लो०	...	श्लोक
३४. सं०	...	संस्करण
३५. सं० र०	...	सङ्गीत-रत्नाकर
३६. सं० र० टी०	...	सङ्गीत-रत्नाकर-टीका
३७. सा० द०	...	साहित्य-दर्पण
३८. सिंह०	...	सिंहभूपाल
३९. स्व०, स्वरा०	...	स्वराध्याय

विस्तृत विषय-सूची

भूमिका —७—

प्राक्कथन

अनुसन्धान की प्रेरणा—अनुसन्धान-सम्बन्धी समस्याएँ और निष्कर्ष —प्राचीन सङ्गीतशास्त्र की दुर्बोधता और उसके कारण—प्रचलित सङ्गीत-पद्धतियों में रस-भाव के प्रति उदासीनता—अनुसन्धान के आधार—प्राचीन सम्प्रदाय—भरत-सम्प्रदाय की नाट्य-शास्त्रगत विशेषताएँ—उपलब्ध नाट्यशास्त्र—भरत एवं आदि भरत—आदि नाट्य-शास्त्र—भरत-सिद्धान्तों पर विदेशी प्रभाव !—महर्षि भरत के स्वर और आधुनिक भौतिक विज्ञान—ग्रन्थ की शैली—कृतज्ञता-ज्ञापन। —२१—४८—

प्रथम अध्याय

आप्त वाक्यों को हृदयङ्गम करने के लिए विशेष दृष्टि—विद्या का अधिकारी—ग्राम, स्वर, श्रुति—मण्डल-प्रस्तारों में षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम—नवतन्त्री पर षाड्जग्रामिक स्वरों की सिद्धि, नवतन्त्री पर भरतोक्त स्वर-व्यवस्था—मध्यमग्राम—सितार पर षाड्जग्रामिक सप्तक की सिद्धि—श्रुतिनिदर्शन या श्रुतिदर्शन-विधान—भरतोक्त चतुः सारणाएँ—लेखकनिर्मित यन्त्र 'श्रुतिदर्पण' पर चतुःसारणाओं की सरलतम विधि—श्रुतियों के परिमाण—सप्तक में श्रुतियों का क्रम एवं उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ—श्रुतियों के विभिन्न परिमाणों के भेद में अन्तर जानने की भारतीय विधि। —१—३३—

द्वितीय अध्याय

मूर्च्छना की व्युत्पत्ति एवं लक्षण—मूर्च्छना की चतुर्विधता के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण—ग्रामद्वय की मूर्च्छनाओं का रूप—ग्रामद्वय-मूर्च्छना-बोधक श्रुतिपरिमाणयुक्त मण्डल-प्रस्तार—ग्रामद्वय-बोधक सारणी-तानें—दोनों ग्रामों में अविलोपी स्वर—मूर्च्छनाओं का प्रयोजन, पूर्वा-

वधि एवं परावधि की प्राप्ति—मत्तकोकिला एवं एकतन्त्री पर मूर्च्छना—जातिविशेष के लिए मूर्च्छना-विशेष का पश्चात्कालीन नियम और उसका प्रयोजन—द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद और उसकी पश्चात्कालीन आलोचना—वादन में मूर्च्छनाजन्य सौकर्य—मतङ्ग-किन्नरी—जाति-विशेष के लिए मूर्च्छनाविशेष का मतङ्गकृत निर्देश—तन्त्रीवाद्यों पर मूर्च्छनाओं की स्थापना का प्रकार—मतङ्ग-किन्नरी पर कुम्भ—मूर्च्छना-सिद्धि पर शार्ङ्गदेव और कल्लिनाथ के कथन का रहस्य—मूर्च्छनाओं की सिद्धि एवं उनकी संज्ञाओं की अन्वर्थता। ३४–७३

तृतीय अध्याय

जाति-लक्षण—जातियों के भेद—जाति के दस लक्षण, अंशस्वर, ग्रहस्वर, तारगति, मन्द्रगति, न्यास स्वर, अपन्यास स्वर, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवित, औडुवित—अन्तरमार्ग, संन्यास, विन्यास—स्थायी स्वर—जातियों के लक्षण, विभिन्न आचार्यों के मत, जातिविशेष से सम्बद्ध मूर्च्छना-विशेष में विभिन्न अंश-स्वरों का प्रदर्शन। ७४–१३४

चतुर्थ अध्याय

आरम्भ, आलाप, करण, पद—षाड्जी-प्रस्तार—आर्षभी-प्रस्तार—गान्धारी-प्रस्तार—मध्यमा-प्रस्तार—पञ्चमी-प्रस्तार—धैवती - प्रस्तार—नैषादी प्रस्तार—षड्जकैशिकी-प्रस्तार—षड्जोदीच्यवा-प्रस्तार—षड्ज-मध्यमा - प्रस्तार—गान्धारोदीच्यवती - प्रस्तार—रक्तगान्धारी - प्रस्तार—कैशिकी-प्रस्तार—मध्यमोदीच्यवा-प्रस्तार—कार्मारवी-प्रस्तार—गान्धार-पञ्चमी-प्रस्तार—आन्ध्री-प्रस्तार—नन्दयन्ती-प्रस्तार। १३५–१९०

पञ्चम अध्याय

साधारण और उसका लक्षण—स्वरसाधारण—कैशिक स्वर और उनके उपयोग के अवसरों पर कुम्भ का दृष्टिकोण—जातिसाधारण। १९१–१९८

षष्ठ अध्याय

राग और उसका लक्षण—सात ग्राम राग—मध्यमग्राम राग, कश्यप एवं शार्ङ्गदेव का विधान, आलाप, पद, आक्षिप्तिका—षड्जग्राम राग, कश्यप एवं शार्ङ्गदेव का विधान, आलाप, करण, पद, आक्षिप्तिका—

साधारित अथवा शुद्ध साधारित, शार्ङ्गदेव एवं मोक्षदेव के विधान, आलाप, करण, पद, आक्षिप्तिका—पञ्चम अथवा शुद्ध पञ्चम राग, कश्यप एवं शार्ङ्गदेव के विधान, आलाप, करण, पद, आक्षिप्तिका—कैशिक अथवा शुद्ध कैशिक, शार्ङ्गदेव एवं मोक्षदेव के विधान, आलाप, वर्तनी, पद, आक्षिप्तिका—षाडव अथवा शुद्ध षाडव, शार्ङ्गदेव, मतङ्ग एवं मोक्षदेव के विधान, आलाप, करण, वर्तनिका, पद, आक्षिप्तिका—कैशिकमध्यम अथवा शुद्ध कैशिक मध्यम, शार्ङ्गदेव एवं मोक्षदेव के विधान, आलाप, करण, षद, आक्षिप्तिका—ग्रामरागों के प्रकार—उपराग, राग, भाषाजनक ग्रामराग—भाषाएँ, विभाषाएँ, अन्तर भाषाएँ। १९९–२३३

अनुबन्ध (१)

ताल—लघु, गुरु, प्लुत—क्रिया और उसके भेद—ताल के दो मुख्य भेद—यथाक्षर चञ्चत्पुट की ताल-क्रिया, द्विकल चञ्चत्पुट की ताल-क्रिया, चतुष्कल चञ्चत्पुट की तालक्रिया—यथाक्षर, द्विकल एवं चतुष्कल चाचपुट की तालक्रिया—यथाक्षर, द्विकल एवं चतुष्कल चञ्चत्पुट की तालक्रिया—तालों में अङ्गुलिनियम—मार्ग—परिवर्तन या आवृत्ति-मान—लय—यति;—समा, स्रोतोगता, गोपुच्छा—ग्रह—सम, अतीत एवं अनागत—प्रकरण-गीतक और ब्रह्मगीत—पदाश्रित गीतियाँ, मागधी, अर्द्धमागधी, सम्भाविता, पृथुला—स्वराश्रित गीतियाँ, शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा, साधारणी—पद, चूर्णपद या अनिबद्ध पद, निबद्ध पद—गीत, बहिर्गीत या निर्गीत—स्तोभाक्षर या शुष्काक्षर—ध्रुवागीत, प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, अन्तरा—ध्रुवापद—पूर्वरङ्ग—सन्धियाँ—आलाप—रूपक—आक्षिप्तिका—वर्तनी—करण। २३४–२५५

अनुबन्ध (२)

पाठ—पाठप्रयोज्य अनुरणनहीन ध्वनि—नाट्य में रस-प्रक्रिया—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी या व्यभिचारी भाव—रसों की संख्या—रसाभिव्यक्ति—मीमांसक भट्टलोल्लट का दृष्टिकोण—नैयायिक आचार्य शंकुक का दृष्टिकोण—सांख्यवादी भट्टनायक का दृष्टिकोण—आलंकारिक आचार्य अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण—गीत और रस—आनन्दवर्धन की मान्यता—श्रीकण्ठ का कथन—नाद की अभि-

व्यंजनाशक्ति पर आचार्य अभिनवगुप्त का मत—रस का स्वरूप—गीत की प्रक्रिया के प्रयोजन पर आचार्य अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण—स्वरसन्निवेश से रस-परिपाक की प्रक्रिया पर लेखक का दृष्टिकोण—षाड्जी की विभिन्नांश अवस्थाओं में विभिन्न रसों का परिपाक। २५६–२७५

अनुबन्ध (३)

श्रुतियों की अनन्तता—श्रुतियों की मृदु, मध्यम एवं आयत अवस्थाएँ—देशी प्रयोग—वृद्ध काश्यप के स्वर—याष्टिक, आञ्जनेय, अभिनवगुप्त के रससम्बन्धी दृष्टिकोण—ग्रामसंश्लेष—संश्लिष्ट स्वर-समुच्चय में उत्तर भारतीय (प्रचलित) भैरव एवं टोड़ी ठाठ—शार्ङ्गदेव द्वारा निर्दिष्ट कुछ रागों का द्विग्रामत्व—बारहवीं शती ई० के अन्त में उत्तर भारत में मूर्च्छना-पद्धति का प्रचलन—चौदहवीं शती ई० में ईरानी मुकाम-पद्धति का मेल-पद्धति के रूप में ग्रहण—पन्द्रहवीं शती ई० के मूर्च्छनामर्मज्ञ कल्लिनाथ के समय की स्थिति—आधुनिक ठाठों में प्रयुक्त ध्वनियों की भावानुसारिणी संज्ञाएँ। २७६–२८९

अनुबन्ध (४)

ब्रह्मा—शिव, शंकर—पार्वती, शिवा—नन्दिकेश्वर—नारद—स्वाति—तुम्बुरु—भरत—दत्तिल—कोहल — स्कन्द—शुक्र—विश्वावसु—अगस्त्य — विशाखिल — कम्बल, अश्वतर — कश्यप—याष्टिक—आञ्जनेय—शार्दूल—राहल (राहुल)—मतङ्ग—कीर्तिधर—सुधाकलश—लोल्लट — घण्टक—रुद्रट—देवराज—सागरनन्दी—अभिनवगुप्त—भोज—नान्यदेव—त्रिभुवनमल्ल—सोमेश्वर—जगदेक मल्ल—शारदातनय—हरिपाल—सोमराजदेव—शार्ङ्गदेव—ज्यायसेनापति—पाल्कुरिकि सोमनाथ—हम्मीर—अल्लराज—पार्श्वदेव—गोपाल नायक—अमीर खुसरो—शृंगारशेखर—शम्भुराज—मदनपाल—विद्यारण्य—भुवनानन्द—देवेन्द्र भट्ट—भट्ट माधव—विप्रदास—वेम—सिंगणार्य—सिंगभूपाल (सिंहभूपाल)—पण्डित-मण्डली—कुम्भ—देवण भट्ट—कल्लिनाथ। २९०–३१४

उपजीव्य सामग्री ३१५–३१६

अनुक्रमणिका ३१७

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के उपलब्ध संस्करणों के अनुसार महर्षि भरत की आतोद्य-विधि के अन्तर्गत स्वरविधि को स्पष्ट करने की चेष्टा है।

नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि भावी युग में मनुष्य प्रायः अबुध होंगे, जो होंगे भी वे अल्पश्रुत-बुद्धि होंगे।* अल्पश्रुत-बुद्धि होते हुए भी आप्त वाक्यों के प्रति अविचल निष्ठा, उनके मनन के लिए सतत धैर्य, भगवान् शंकर की कृपा एवं सद्‌गुरुओं के वरद हस्त की छत्रच्छाया के प्रताप से नाट्यशास्त्र की स्वरविधि का मन्थन करके यह नवनीत सहृदयों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. अनुसन्धान की प्रेरणा

लेखक के वंश की चार पीढ़ियाँ रामपुर (भूतपूर्व राज्य) में बीती हैं, उसके विद्वान् पूर्वजों ने वहाँ की राजसभा को सम्मानपूर्वक सुशोभित किया, फलतः उसमें शास्त्रानुशीलन के संस्कार आनुवंशिक रहे हैं। देशी राज्यों के राजपंडित गुणी एवं गुणग्राही होते थे और उन्हें बहुश्रुत होना पड़ता था, फलतः सङ्गीतसम्बन्धी संस्कारों के लिए लेखक को इधर-उधर नहीं भटकना पड़ा।

ऐसे सद्‌गुरुओं के चरणों में बैठकर स्वरसाधना करने का अवसर इस अकिञ्चन को प्राप्त हुआ है, जिनके प्रति उन चुने हुए सङ्गीतज्ञों की अपार श्रद्धा आज तक है, जिन्हें गायक या वादक होने के कारण स्वतन्त्र भारत के शासन ने बड़े से बड़ा सम्मान दिया है।

रामपुर-दरबार में गायक स्वर्गीय मिरज़ा नवाबहुसेन सैयद थे। सङ्गीतजीवी जाति में उत्पन्न होने के कारण उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्होंने अपने प्रिय शिष्य, इस ग्रन्थ के लेखक से कहा था—"सङ्गीत का अभ्यास करो, शास्त्रों को समझो, उन पर श्रद्धा करो और उन ऋषि-मुनियों के अभिप्राय को

---

*भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः।
ये चापि हि भविष्यन्ति तेऽप्यल्पश्रुतबुद्धयः॥—नाट्यशास्त्र

समझो, जो निःस्पृह, निःस्वार्थ और सत्यभाषी रहे हैं। हम शास्त्र नहीं जानते, परन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि ऋषियों के ग्रन्थों को समझने के लिए जितनी तपस्या की आवश्यकता है, वह बहुत दिनों से नहीं की गयी है। इसी रामपुर-दरबार में 'पण्डित' कहलानेवाले ऐसे लोग भी कभी-कभी आये हैं, जिन्होंने भरत और शार्ङ्गदेव-जैसी महाविभूतियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने की आवश्यकता नहीं समझी, उनके ग्रन्थों को अस्पष्ट कहा है, उनको उपहासपूर्ण दृष्टि से देखा है। इतना ही नहीं, उनके प्रति उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें सुनकर हमें कष्ट होता रहा है। तुम्हारे पूर्वज विद्वान् एवं सङ्गीतमर्मज्ञ रहे हैं, तुम उनके वंशधर हो, यदि तुम प्राचीन ग्रन्थों को समझने के लिए तपस्या नहीं करोगे, तो और कौन लोग करेंगे। विश्वास रखो, परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता। हम न होंगे, परन्तु तुम्हारी सफलता पर हमारी आत्मा को शान्ति मिलेगी और वही हमारी गुरुदक्षिणा होगी। यदि नहीं करोगे, तो हमारे ऋणी रहोगे और हमारी आत्मा अशान्त रहेगी।"

स्वर एवं सज्जनता की मूर्ति वे गुरुवर आज इस लोक में नहीं हैं, परन्तु उनकी सरल, सुन्दर, सौजन्यमय एवं प्रेरक आकृति सदा लेखक के मानसपट पर अंकित रही है।

दूसरा प्रेरक व्यक्तित्व रामपुर राज्य के अनुपम ग्रन्थागार के विद्वान् एवं यशस्वी प्रबन्धक मौलाना इम्तियाज़ अली खाँ अर्शी का रहा है, जिन्होंने अपने इस अकिञ्चन मित्र से सदा कहा—"भाईजान, आप बिरहमन (ब्राह्मण) हैं, आप लोगों को न जाने क्या-क्या विरसे (दाय) में मिला है, आपने संस्कृत पढ़ी है, जो देवताओं की जुबान (भाषा) कही जाती है। देवताओं की जुबान ग़ैरमुकम्मल (अपूर्ण) या ग़ैरवाज़ेअ (अस्पष्ट) नहीं हो सकती। हम तो यह मान नहीं सकते कि ऋषि-मुनियों को अपनी बात कहना नहीं आता था, या उनको जुबान (भाषा) पर उबूर (अधिकार) नहीं था। हुज़ूर, ज़रा ज़हमत (कष्ट) कीजिए, बड़े कामों के लिए बड़ी रियाज़त (तपस्या) चाहिए, तब कहीं बुजुर्गों (पूर्वपुरुषों) की दौलत मिलेगी। राह मुश्किल है, दिक़्क़तें भी हैं, लेकिन यह भी तो देखिए कि मग़रिबी (पाश्चात्य) दिमाग़ आपके बुज़ुर्गों को क्या कह रहे हैं। आप उन बुज़ुर्गों के मफ़हूम (तात्पर्य) को जब तक समझाने में कामयाब (कृतकार्य) नहीं होते, तब तक आपके क़ुसूर की सज़ा उन बुज़ुर्गों को मिलती रहेगी, जो बेक़ुसूर हैं। उनकी रूहों (आत्माओं) को चैन तो तब मिलेगा, जब आप खुद को उनका सही जानशीन (स्थानापन्न या उत्तराधिकारी) साबित करेंगे। आज लोग आपके बुज़ुर्गों के क़ौलों (उक्तियों) को ढोंग कह रहे हैं। अपने बारे में तो आप जाने, शर्म मुझे आ रही है।"

बन्धुवर अर्शी महोदय की मर्मबेधी, परन्तु स्नेहपूर्ण ऐसी उक्तियाँ सचमुच इस ब्राह्मण-सन्तान को सदा प्रेरणा देती रही हैं।

२. अनुसन्धान-सम्बन्धी मूल समस्याएँ और निष्कर्ष

आज का अनुसन्धानकर्ता जब तेरहवीं शती या उससे पूर्व के ग्रन्थों पर दृष्टिपात करता है, तब उसके समक्ष कुछ विशेष प्रश्न आते हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(क) आज षड्ज एवं पञ्चम अचल स्वर माने जाते हैं, जब कि प्राचीन ग्रन्थों में ऋषभ और धैवत अपने स्थान से च्युत नहीं होते।

(ख) आज स्थूल रूप में ऋषभ और धैवत के दो-दो प्रकार हैं, जिनका कारण स्थान-विच्युति है, इस प्रकार का कोई भेद इन नामों से सम्बद्ध प्राचीन ध्वनियों का नहीं।

(ग) आज मध्यम के दो स्थूल रूप हैं, जिनमें तीव्रमध्यम मध्यम के उत्कर्ष का परिणाम है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में मध्यम के उत्कर्ष की बात कहीं नहीं बतायी गयी है।

(घ) आज उत्तर भारत के शुद्ध ऋषभ और पञ्चम में षड्ज-मध्यम-संवाद है, परन्तु प्राचीन षाड्जग्रामिक ऋषभ-पञ्चम में संवाद नहीं।

(ङ) आज दक्षिण भारत के मध्यम और शुद्धनिषाद (उत्तर भारतीय तीव्र धैवत) में षड्ज-मध्यम-भाव नहीं, जब कि प्राचीन ग्रन्थों का निषाद मध्यम से नौ श्रुतियों के अन्तर पर होने के कारण उसका संवादी था। कल्लिनाथ जैसे पन्द्रहवीं शती ई० के ग्रन्थकार भी मध्यम-निषाद के पारस्परिक संवाद को प्रत्यक्ष मानते हैं।[1]

(च) उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर स्थित कोमल 'ग-नि' तथा तीव्र 'रे-ध' में परस्पर संवाद नहीं है, जब कि इन संज्ञाओं से सम्बद्ध प्राचीन ध्वनियों में परस्पर संवाद अवश्यम्भावी था।

(छ) उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर स्थित 'ग-प' में आज षड्जान्तर-भाव (षड्ज एवं तीव्र गान्धार का अन्तर) विद्यमान है, जब प्राचीन 'ग-प' में आठ श्रुतियों का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव सम्भव नहीं।

(ज) मध्यम के साथ षड्जमध्यम-भाव से संवाद करनेवाले निषाद की स्थिति उत्तर भारतीय वीणा में है, परन्तु उसके साथ मेल-पद्धति के शुद्ध (अर्थात् उत्तर भारतीय कोमल ऋषभ) का षड्जान्तर-भाव नहीं है, जब कि प्राचीनों के 'नि-रे' में सात श्रुतियों का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव अनिवार्य है।

१—शुद्धयोर्मध्यमनिषादयोः परस्परं संवादित्वदर्शनात्।
—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र० अ०, स्वरा०, पृ० ९२

(झ) मध्यम एवं उत्तर भारतीय आधुनिक ठाठ-पद्धति के तीव्र धैवत में षड्-जान्तर-भाव नहीं है, जब कि प्राचीनों के मध्यम-धैवत में सात श्रुतियों का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव अनिवार्य है।

(ञ) मध्यम एवं मेल-पद्धति के शुद्ध (उत्तर भारतीय कोमल) धैवत में भी षड्जान्तर-भाव नहीं है, जब कि मध्यम एवं उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा के धैवत में षड्जान्तर-भाव है, जो कि प्राचीनों के अनुसार होना चाहिए।

फलतः विचारशील मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'म-ध' में षड्जान्तर भाव न होने के कारण 'ध' प्राचीन धैवत नहीं, फलतः 'ध' का संवादी 'रे' प्राचीन ऋषभ नहीं और 'रे' का संवादी 'म' मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पञ्चम नहीं। मध्यम का संवादी न होने के कारण मेल-पद्धति का शुद्ध निषाद (उत्तर भारतीय तीव्र धैवत) प्राचीन निषाद नहीं और उसका संवादी मेल-पद्धति का शुद्ध गान्धार (अर्थात् उत्तर भारतीय ठाठ-पद्धति का तीव्र ऋषभ) प्राचीन गान्धार नहीं।

अतः यह अखण्डनीय रूप में प्रमाणित होता है कि दाक्षिणात्यों के शुद्ध (!) रे, ग, ध, नि प्राचीन रे, ग, ध, नि नहीं हैं, फलतः "स, रे, रे, म, प, ध, ध" प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नहीं।

उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा के तीव्र ऋषभ के साथ पञ्चम का संवाद है, फलतः तीव्र ऋषभ प्राचीन ऋषभ नहीं और इस वीणा के कोमल गान्धार-पञ्चम में षड्जान्तर-भाव है, अतः यह कोमल गान्धार प्राचीन गान्धार नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर प्राप्त होनेवाले काफी ठाठ के ऋषभ और गान्धार प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक के 'ऋषभ-गान्धार' से भिन्न हैं। फलतः सिद्ध है कि आधुनिक काफ़ी ठाठ भी प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नहीं।

विलावल ठाठ में मध्यम-निषाद का संवाद नहीं, ऋषभ-पञ्चम में संवाद है, अतः वह भी प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नहीं।

ऐसी दशा में उत्तर एवं दक्षिण की प्रचलित मान्यताओं से सर्वथा मुक्त होकर विचार करना ही अनुसन्धानकर्ता के लिए एकमात्र मार्ग रह जाता है।

३. प्राचीन सङ्गीतशास्त्र की दुर्बोधता एवं उसके कारण

शास्त्र में जो बात न कही गयी हो, परन्तु शास्त्र से जिसका अविरोध हो, शास्त्र जिसकी अभ्यनुज्ञा देता हो अर्थात् जो दूसरे शब्दों में शास्त्र का निष्कर्ष हो, गुरु-शिष्य-परम्परा से उसका उपदेश दिया जाना 'सम्प्रदाय' कहलाता है। जो जिस बात को

भली-भाँति जानता है, वह उसे तत्त्वपूर्वक कहता है, मर्मज्ञ व्यक्ति की वह तत्त्वपूर्ण उक्ति लोकजयी विष्णु के द्वारा सम्प्रदाय कही गयी है।[1]

रहस्यगर्भ 'सूत्र' अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही बोधगम्य होते हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति उस रहस्य को ऐसे शब्दों में स्पष्ट करते हैं, जिनके द्वारा अल्पज्ञ व्यक्ति भी शास्त्र के तत्त्व से अवगत हो जाते हैं। आचार्य की आवश्यकता इसी लिए होती है। जब किसी क्षेत्र में सम्प्रदाय अथवा गुरु-शिष्य-परम्परा पर आश्रित शिक्षा-पद्धति का लोप हो जाता है, तब शास्त्रों के रहस्य दुर्ग्रह हो जाते हैं।

दशम शती ई० के अन्तिम दशक में महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों का आरम्भ हो गया था। मन्दिरों का विध्वंस तथा बलात् धर्म-परिवर्तन भी उसकी योजना के अनिवार्य अङ्ग थे, फलतः जहाँ-जहाँ उसके चरण पड़े, वहाँ विद्वानों का अभाव होता गया। अलबरूनी ने यह स्वयं कहा है कि 'हिन्दू विद्याएँ वहाँ चली गयीं जहाँ हमारी पहुँच नहीं थी।'

१०१३ ई० में कश्मीर की ओर भी महमूद का ध्यान गया और १०१५ ई० में उसने कश्मीर का विनाश पूर्णतया कर डाला। पण्डित हो या मूर्ख, गुणी हो या गँवार, सबको अपने लिए इस्लाम एवं मृत्यु में से एक को चुनना था। फलतः कश्मीर-जैसा विद्या-केन्द्र भी हिन्दू विद्याओं से शून्य हो गया। इस दयनीय स्थिति से परिचित होने के लिए फ़िरिश्ता और बदायूनी के इतिहास पढ़ने चाहिए।

यह तथ्य विशेषतया ध्यान देने योग्य है कि अलबरूनी ने हिन्दुओं के तत्कालीन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, खगोल, फलित-ज्योतिष, रीति-नीति इत्यादि का वर्णन तो अपने ज्ञान के अनुसार किया है, परन्तु सङ्गीत के विषय में वह मौन का आश्रय लिये हुए है। इस्लाम की दृष्टि में त्याज्य ज्योतिष विद्या अलबरूनी की आजीविका का साधन थी, फलतः सङ्गीत को त्याज्य समझकर उसने छोड़ा नहीं। सत्य यह है कि अलबरूनी जहाँ-जहाँ पहुँचा, वहाँ-वहाँ उसे सङ्गीत के विद्वानों का दर्शन न हुआ।

१०१८ ई० में महमूद ने कन्नौज एवं मथुरा का विनाश किया तथा १०२४ ई० में सोमनाथ का मन्दिर लूटा। फलतः विद्याओं को दक्षिण में आश्रय ढूँढ़ना पड़ा।

---

१. शास्त्रानुक्तस्यापि शास्त्रेणाभ्यनुज्ञातस्य शास्त्राविरोधिनोऽर्थविशेषस्य आचार्यशिष्यपरंपरया यदुपदेशप्रदानं स संप्रदाय इत्येतल्लक्षणलक्षितत्वात्। तथा चोक्तम्--

यो यत्सम्यग्विजानीते स तद्वदति तत्त्वतः।
स संप्रदायः कथितो विष्णुना लोकजिष्णुना॥

—कल्लिनाथ, सङ्गीतरत्नाकर, (अडयार संस्करण) भाग ४, पृ० २९।

ग्यारहवीं शती ई० में धारानरेश भोज (९९७-१०१२ ई०) तथा मिथिलानरेश नान्यदेव (१०८० ई०) ने सङ्गीत-ग्रन्थों की रचना की, परन्तु उस समय की राजनीतिक स्थिति इन ग्रन्थों के सार्वदेशिक प्रचार के अनुकूल न थी।

बारहवीं शती ई० में त्रिभुवनमल्ल (१०७६-११२६ ई०), सोमेश्वर (११२७-११३४ ई०), जगदेकमल्ल (११३४-११४५), शारदातनय, हरिपाल (११७५ ई०) और सोमराजदेव (११८० ई०) ने सङ्गीत-ग्रन्थ लिखे, परन्तु उत्तर भारत में मुहम्मद ग़ोरी के द्वारा पृथ्वीराज की पराजय बारहवीं शती के अन्त की ऐसी घटना थी, जिसके परिणामस्वरूप एक बार भारत फिर हिल गया।

'सङ्गीत-रत्नाकर' की रचना जिस समय (प्राय: १२३० ई०) हुई, उस समय दक्षिण में कुछ शान्ति थी, फलत: कश्मीरी परम्परा के एक विद्वान् शार्ङ्गदेव ने अपने आनुवंशिक ज्ञान के आधार पर इस अमर ग्रन्थ की रचना की। रत्नाकर के टीकाकार महाराज सिंहभूपाल ने लिखा है कि 'शार्ङ्गदेव के उदय से पूर्व समस्त सङ्गीत-पद्धति बिखर चुकी थी, शार्ङ्गदेव ने उसे स्पष्ट रूप में एकत्र सँजोकर रख दिया।'

दैवदुर्विपाक से १२९४ ई० में अलाउद्दीन की शनि-दृष्टि दक्षिण पर पड़ी और देवगिरि के उस राज-वंश पर भी विपत्ति आयी, जो शार्ङ्गदेव जैसे विद्वानों का आश्रयदाता रहा था। मलिक काफ़ूर ने अलाउद्दीन के पास भेजने के लिए अनेक विद्वानों को धर्मभ्रष्ट किया। अनेक सङ्गीतज्ञ इस समय दक्षिण से बलात् उत्तर भेजे गये।

अलाउद्दीन के दरबार में उस समय 'अमीर ख़ुसरो' जैसे प्रतिभाशाली एवं कूटनीतिज्ञ व्यक्ति थे। दिल्ली की ओर उस समय जो भी सङ्गीतजीवी कलाकार प्राप्त थे, वे आनुवंशिक रूढियों का पालन मात्र कर रहे थे, अपनी कला के सैद्धान्तिक विवेचन की शक्ति सम्प्रदाय-लोप के कारण उनमें न थी। अमीर खुसरो को ईरानी सङ्गीत का अच्छा ज्ञान था और वह दिल्ली के आसपास उपलब्ध सङ्गीतज्ञों से ईरानी सङ्गीत-शास्त्रियों का विवाद कराता था। भारतीय सङ्गीतशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को समझने के लिए ही सम्भवत: अमीर ख़ुसरो की प्रेरणा से अलाउद्दीन ने दाक्षिणात्य सङ्गीतशास्त्रियों को पकड़वा मँगाया था।

बलात् पकड़े हुए व्यक्ति भला क्या शास्त्रों का रहस्य बतलाते। प्रसिद्ध दाक्षिणात्य सङ्गीतशास्त्री श्री वासुदेव शास्त्री का कथन है कि अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थ स्वयं नष्ट कर दिये और अनेक व्यक्ति अपना धर्म बचाने के लिए 'बौरे' बन गये।

अमीर ख़ुसरो के समय तक भारतीय सङ्गीत पर ईरानी दृष्टिकोण से विचार

किया जाने लगा था। दिल्ली एवं आस-पास प्रचलित भारतीय रागों का वर्गीकरण सम्भवतः ईरानी दृष्टि से होने लग गया था।

ईरानी सङ्गीत में मुख्य स्वर बारह थे, तत-वाद्यों पर इन्हें अभिव्यक्त करनेवाली बारह सारिकाएँ मुसलमानी भाषा में 'पर्दा' कहलाती थीं। सितार की सारिकाओं को 'पर्दा' कहा जाना मुस्लिम परम्परा है, हारमोनियम की पटरियों को भी इसी प्रभाव के कारण 'पर्दा' कहा जाता है।

ये पर्दे ईरानी वाद्यों में अचल होते थे और इनसे उद्भूत स्वरों की स्वतन्त्र संज्ञाएँ थीं, फलतः ईरानी प्रभाव से भारतीय वीणाओं में सारिकाएँ अचल हुईं। ईरानी प्रदों के आधार पर 'बारह मुक़ाम' सिद्ध होते थे। भारतीय भाषाओं में ये 'मुक़ाम' लोचन-जैसे पण्डितों के द्वारा 'संस्थान' कहलाये और उत्तर भारतीय तन्त्रीवादकों ने इन्हें 'ठाठ' कहा।

'ठाठों' ने एक सुविधा यह दी थी कि पर्दे सरकाये बिना प्रायः सभी रागों का वादन हो जाता था। सूक्ष्मतम ध्वनियों को 'मीड' से प्राप्त कर लिया जाता था।

उस युग के गायकों के मस्तिष्क में रागों का स्वरूप था, संस्कारों के कारण वे उन रागों का प्रयोग करते थे, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्हें मूर्च्छना-पद्धति तथा उसके साथ अनिवार्यरूपेण सम्पृक्त सङ्गीतसम्बन्धी रस-सिद्धान्त का या तो परिचय न था, या फिर वे उसे गुप्त रखना चाहते थे।

अस्तु, इन बारह पर्दों के परिणामस्वरूप 'कोमल ऋषभ' एवं 'कोमल धैवत' जैसी स्वरसंज्ञाओं की सृष्टि हुई और उस मूर्च्छना-पद्धति पर 'पर्दा' पड़ गया, जो भारतीय सङ्गीत-ग्रन्थों की कुञ्जी थी। भारतीय सङ्गीत की कुञ्जी 'स्थायी स्वर' से लोगों का अपरिचय हो गया और वह कुछ मर्मज्ञों के हृदयों में सुरक्षित एक 'रहस्य' हो गयी।

ईरानी सङ्गीत में एक सप्तक के अन्तर्गत सूक्ष्मतम ध्वनियाँ चौबीस थीं, जो 'हङ्गाम' कहलाती थीं, इन्हें ईरानी सङ्गीत की चौबीस श्रुतियाँ कहा जा सकता है, परन्तु एक सप्तक में इन चौबीस ध्वनियों की स्थापना चौबीस पर्दों पर किया जाना सुविधापूर्ण नहीं था, फलतः बारह पर्दों का ईरानी अचल ठाठ उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर स्थापित हो गया।

ईरानी दृष्टिकोण के अनुसार इन बारह पर्दों से उद्भूत होनेवाली ध्वनियाँ अपने आपमें स्वतन्त्र ध्वनियाँ थीं, उनकी अलग-अलग संज्ञाएँ थीं, परन्तु भारतीय कलाकार तो अपनी सात स्वरसंज्ञाओं से परिचित थे, फलतः अवशिष्ट पाँच ध्वनियों को उन्होंने

विकृत ध्वनि मानकर एक स्थान के अन्तर्गत बारह ध्वनियों के लिए क्रमशः 'स, रे, रे, ग, ग, म, म, प, ध, ध, नि नि' नाम स्वीकृत किये।

गोपाल नायक ने लिखा है कि यवनों ने—

(१) वीणाओं की सारिकाएँ अचल कीं।

(२) षड्जमध्यम-भाव की प्रधानता नष्ट हुई, षड्ज-पञ्चम-भाव स्थापित हुआ।

(३) ऋषि-प्रणीत सरल मूर्च्छना-पद्धति लुप्त हुई।

(४) शुद्ध-अशुद्ध का झगड़ा चला। एक राग की दो 'सरगम' हो गयीं, एक 'प्रकट' और एक 'गुप्त'।

(५) 'स रे ग म प ध नि' 'प ध नि स रे ग म' हो गये।

बैजू ने गोपाल से कहा—

"तूने विद्या दी नहीं, छिना दी। शत्रुओं पर नागपाश डाल। इन्हें श्रुति, स्वर, मूर्च्छना, गमक इत्यादि का रहस्य न बतला। कोई गुणी इस जाति में जन्म लेगा, तो यह भेद खुलेगा।"

ठाठ के प्रताप से प्रत्येक मूर्च्छना के सात स्वरों को 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' कहा जाने लगा। अर्थात् किसी भी स्वर को प्राप्त होनेवाली अवस्था 'अंशत्व' एवं 'स्थायित्व' 'षड्जत्व' में परिवर्तित हो गयी।

इस एक भयानक परिवर्तन से तेरहवीं शती ई० तथा उससे पूर्व लिखे हुए ग्रन्थ दुर्बोध हो गये। भरत के काल से शार्ङ्गदेव के काल तक चले आये षाड्जग्रामिक एवं माध्यमग्रामिक शुद्ध सप्तकों की पहचान लुप्त हो गयी। सन् १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की आधार-शिला रखी गयी। उस राज्य के संस्थापक एवं महामन्त्री श्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अनेक शास्त्रों के साथ ही साथ सङ्गीत के पुनरुद्धार का भी कार्य करना चाहा। उस समय विजयनगर में समस्त देश के पण्डित, कलाकार एवं गुणी आने लगे। श्री विद्यारण्य ने उस समय की 'अचल ठाठ' वाली वीणा के आधार पर पचास प्राप्त रागों को पन्द्रह ठाठों में वर्गीकृत किया और 'ठाठ' के लिए मेल शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग माधवाचार्य के द्वारा हुआ।

श्री माधवाचार्य के द्वारा स्थापित मेलों में 'हेजुज्जी' नामक एक मेल भी है, जो ईरानियों के मुकाम 'हिजाज़' से अप्रभावित नहीं कहा जा सकता। दाक्षिणात्य ग्रन्थों में 'गज़ल' 'गज़लुः' और 'कौल' 'कौलुः' हो गया है, इसी प्रकार 'हिजाज़' भी 'हेजुज्जी' हुआ है।

श्री माधवाचार्य के अनुयायी रघुनाथ को इसी मेलचक्र में पड़ने के कारण शार्ङ्गदेव की सप्ताध्यायी (रत्नाकर) अस्पष्ट एवं अबोध्य दिखाई दी है। रघुनाथ को षाड्जी की वह धैवतादि मूर्च्छना 'उत्तरायता मेल' दिखाई दी है, जो वस्तुतः मतङ्ग की 'द्वादश-स्वर उत्तरमन्द्रा' है।

श्री वासुदेव शास्त्री ने स्पष्टरूपेण माना है कि तेरहवीं शती तथा उससे पूर्व के सङ्गीत-ग्रन्थ पन्द्रहवीं शती तथा उससे पश्चात् के दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों के लिए सर्वथा दुर्बोध रहे और वे उन्हें नहीं समझे। परन्तु वासुदेव शास्त्री 'मेलवाद' को दक्षिण की मौलिकता मानते हैं, जब कि सचमुच वह ईरानी प्रभाव है। संग्रहचूड़ामणिकर्ता गोविन्द ने दाक्षिणात्य सरस्वती वीणा को वर्तमान रूप दिया है, जिसमें ध्वनित होनेवाली चौबीस श्रुतियाँ ईरानियों के 'चौबीस' हङ्गाम ही हैं।

जिन बारह स्वरों के आधार पर वेङ्कटमखी ने अपने बहत्तर मेलकर्त्ताओं की योजना की है, उनका आधार पूर्वोक्त पर्दे ही हैं।

प्रो० रामकृष्ण कवि-जैसे दाक्षिणात्य विद्वान् भी मानते हैं—"आजकल के गायकों ने ....विदेशी गान-शैली की छाया का भी अवलम्बन करके अनेक रागों का प्रवर्तन सम्प्रदाय में किया। उनका कारण यह है कि नारद, भरत, मतङ्ग इत्यादि की परम्परा में तीनों स्थानों की समस्त श्रुतियों का वादन करने योग्य वीणा को लेकर प्रत्येक राग के अनुसार (पृथक्-पृथक्) सारिकाओं से प्रत्येक श्रुति-स्थान की स्थापना करके कोण या नख के द्वारा विविध ठाठों से युक्त राग बरते जाते थे। कहा जाता है कि भरत 'मत्तकोकिला', स्वाति 'विपञ्ची', नारद 'महती' और मतङ्ग 'चित्रा' का वादन करते थे। मतङ्ग इत्यादि ने सम्प्रदाय में किन्नरी नामक वीणा का वादन प्रचलित किया। तदनन्तर चिरकाल तक किन्नरीवादन ही मुख्यतया होता रहा।

शार्ङ्गदेव की अपेक्षा अर्वाचीन लोगों ने 'शुद्धमेला' एवं 'मध्यममेला' नामक उन वीणाओं का निर्माण करके सम्प्रदाय में प्रयोग किया, जिनमें सारिकाएँ नियत स्थान में स्थित थीं।

सोलहवीं शती ई० के मध्यकाल में हनुमन्मत पर आश्रित सम्प्रदाय-प्रवर्तित रागों के वादन-सौकर्य के लिए उन-उन रागों में प्रयोज्य श्रुतियों के स्थान में अचल सारि-काओं का निर्माण करके स्वरों के अनुमन्द्र, मन्द्र, मध्य, तार एवं तारोत्तर स्थानों का निश्चय करने के पश्चात् बुधों ने अनेक प्रकार की वीणाओं का प्रचलन किया। उसी समय अनुभवसिद्ध रागों के श्रुतिभेद का आश्रय लेकर समानस्वरश्रुतिक राग एक मेल में रखकर सब प्रवर्तक रागों को नियत मेलों में विभाजित कर दिया गया।....

वेंकटमखी से प्रायः सौ वर्ष पश्चात् इस समय प्रयोज्य (दक्षिण भारतीय सरस्वती) वीणा का निर्माण हुआ।

मेल-ज्ञान होने पर प्रत्येक राग के श्रुति स्वर स्थान का नियम साधारण वादकों के लिए स्पष्टतर हो जाता है।

भरत इत्यादि महर्षियों के सम्प्रदाय में सिद्ध अष्टादश जाति नामक प्राचीन विभाग में तारमन्द्रव्यवस्था, षाडवौडुवभेद, स्वर का बहुत्व एवं अल्पत्व, ग्रह, अंश, न्यास, का विभाग; गायक के लिए सभी स्पष्ट हो जाते हैं। मेल-ज्ञान में वे अन्वेषणीय एवं विचारणीय ही होते हैं। जाति-विभाग में वीणा के चल-सारिकायुक्त होने के कारण वादकों के लिए श्रुतिस्वरज्ञान का निष्कर्ष आवश्यक होता है।"

४. प्रचलित संगीत-पद्धतियों में रस एवं भाव के प्रति उदासीनता

उत्तर भारतीय एवं दाक्षिणात्य दोनों ही पद्धतियों में स्वरविधि की जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें रस और भाव के प्रति सर्वथा उदासीनता है। यह नहीं बताया जाता कि किस-किस स्वर के प्रयोग से किस-किस भाव की अभिव्यक्ति होती है, न इस सम्बन्ध में कुछ निर्देश है कि किस-किस रस में किस-किस राग का विनियोग है। राग का मेल या ठाठ, स्वरों का रागव्यञ्जक सन्निवेश और प्रयोग का समय ही राग-शिक्षा को पूर्ण कर देता है। गायक किस राग के द्वारा किस भाव की अभिव्यक्ति और श्रोताओं के हृदय में किस भाव का उद्रेक कर सकता है, इस सम्बन्ध में आधुनिक ठाठवादी एवं उनके उपजीव्य मेलाचार्य सर्वथा मौन का अवलम्बन किये हुए हैं।

प्राचीनों के अनुसार गान्धार एवं निषाद करुणा के अभिव्यञ्जक हैं, परन्तु आज 'रे' और 'ध' से करुणा की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। प्राचीन सङ्गीत में 'रे' एवं 'ध' का नाम तक नहीं मिलता, अतः इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सङ्गीतप्रयोज्य प्रचलित ध्वनियों की स्वरसंज्ञाएँ किसी कारण से परिवर्तित हो गयी हैं।

उस परिवर्तन के कारणों की खोज करके प्राचीन एवं प्रचलित पद्धतियों में रस-सम्बन्धी सिद्धान्तों के सामञ्जस्य का दर्शन करना भी अनुसन्धानकर्ता का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है।

अनुसन्धान के आधार—प्राचीन सम्प्रदाय

आचार्य अभिनवगुप्त (दशम शती ई०) के समय में यह समझा जाता था कि नाट्य-सम्बन्धी प्रमुख सम्प्रदाय तीन हैं, ब्रह्ममत, सदाशिव-मत एवं भरत-मत। इन्हें

क्रमशः वैदिक परम्परा, आगम-पुराण-परम्परा एवं आर्ष-परम्परा कहा जा सकता है। अभिनवगुप्तकालीन एक उपाध्याय का मत था कि भरत-नाटचशास्त्र भरत मुनि की कृति नहीं है, अपितु पूर्वोक्त तीनों सम्प्रदायों की विशेषता पर विचार करके 'ब्रह्ममत' की ससारता का प्रतिपादन करने के लिए किसी ने नाटचशास्त्र का संग्रह किया है और उसमें तीनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों के खण्ड या अंश विद्यमान हैं। अभिनवगुप्त ने इन उपाध्याय को 'नास्तिकधुर्य' (नास्तिकों में अग्रणी) कहा है।

इन तीनों सम्प्रदायों के ऐसे स्वतन्त्र ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं, जिनमें लौकिक सङ्गीत पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया हो।

उपलब्ध नाटचशास्त्र में सामवेद से 'गीत' का ग्रहण करनेवाले भगवान् ब्रह्मा हैं। 'भरत' ब्रह्मा के शिष्य हैं। गानयोग में 'नारद' तथा भाण्डवाद्यों में 'स्वाति' का नियोजन करनेवाले भी ब्रह्मा ही हैं। अप्सराओं की सृष्टि भी उन्होंने ही की है और उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिए भरत 'अमृत-मन्थन' नामक समवकार का प्रयोग करते हैं।

ब्रह्मा एक दिन देवताओं के सहित जाते हैं और भगवान् शंकर की अभ्यर्थना करके उनके सम्मुख 'त्रिपुरदाह' का अभिनय हिमालय में 'भरत' एवं उनके शिष्यों द्वारा कराते हैं। शंकर प्रसन्न होते हैं और स्वरचित नृत्य का उपदेश 'तण्डु' के द्वारा भरत को दिलाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तण्डु' और 'नन्दी' को एक ही व्यक्ति माना है।

इस प्रकार नाटचशास्त्र में ब्रह्मा को प्रधानता प्राप्त है। नाटचशास्त्र के प्रारम्भिक श्लोक में ब्रह्मा और शंकर को क्रमशः प्रणाम किया गया है।

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने नाटचवेद का आदि कर्ता भगवान् शंकर को कहा है। स्थावर-जङ्गम सृष्टि की रचना करने से थके हुए ब्रह्मा भगवान् विष्णु के पास विश्रान्ति का उपाय खोजने जाते हैं। भगवान् विष्णु उन्हें भगवान् शंकर के पास भेजते हैं। ब्रह्मा की थकान दूर करने के लिए भगवान् शंकर स्वरचित नाटचवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर के द्वारा ब्रह्मा को दिलाते हैं। नन्दिकेश्वर से नाटचवेद पढ़कर ब्रह्मा लौटते और नाटचवेद के प्रयोक्ता का स्मरण करते हैं। स्मरण करते ही पाँच शिष्यों से युक्त एक मुनि उपस्थित होते हैं। उन्हें देखकर ब्रह्मा कहते हैं—'नाटचवेदं भरत' अर्थात् तुम लोग नाटचवेद धारण करो। वे नाटचवेद पढ़ते हैं और उन सबका नाम 'भरत' पड़ जाता है।

शारदातनय की इस कथा का आधार सदाशिव-सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ रहा होगा, जिसमें ब्रह्मा की स्थिति नाट्य के आविष्कर्ता की न होकर, भगवान् शंकर के शिष्यानुशिष्य की है।

नाट्यशास्त्र (काशी-संस्करण) ध्रुवाध्याय के अन्त में कहा गया है कि मैंने वह 'गान्धर्व' कहा है, जिसका कथन पहले नारद ने किया है,* परन्तु निर्णयसागर-संस्करण में यह श्लोक ध्रुवाध्याय के अन्त में न होकर गुणाध्याय (तैंतीसवें) अध्याय के अन्त में है, वहाँ 'नारदेन' के स्थान पर 'प्रपितामहेन' पाठ है, जिसके अनुसार 'गान्धर्व' के आदिम वक्ता नारद न होकर 'प्रपितामह' (ब्रह्मा) हैं।+

अस्तु, नाट्यशास्त्र में स्वरविधि की यह विशेषताएँ हैं—

(क) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित-जैसी वैदिक स्वर-संज्ञाओं की चर्चा तक नहीं है।

(ख) स्वरों के कुल, वर्ण, द्वीप, ऋषि इत्यादि की कोई चर्चा नहीं है।

(ग) श्रुतियों के नाम तथा उनकी जातियाँ नहीं हैं।

(घ) 'स्थायी' स्वर एवं 'संचारी' स्वर की चर्चा है।

(ङ) स्वरों की भावव्यञ्जकता का निर्देश है।

(च) श्रुतियों के मध्यमत्व, आयतत्व, दीप्तत्व की चर्चा अलंकारविधि में है, परन्तु संख्या या क्रम के अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट श्रुतियों को मध्यम, आयत, दीप्त नहीं बताया गया। वही आयतत्व विशेष स्वर का 'उत्कर्ष', मृदुत्व स्वरविशेष का 'अपकर्ष' और मध्यमत्व स्वरविशेष की 'स्वस्थान-स्थता' या 'विशुद्धता' है।

(छ) सात शुद्ध ग्रामरागों की चर्चा है और नाट्य में उनके प्रयोग के अवसर निर्दिष्ट हैं।

अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत जो आतोद्य-विधि वर्णित है, उसका मूल भले ही वैदिक-परम्परा रही हो, परन्तु वह वैदिक एवं पौराणिक मार्ग से पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र 'सम्प्रदाय' है। इस आतोद्य-विधि में पौराणिकता का सर्वथा अभाव है, इसी लिए उसमें आतोद्यविधि के अन्तर्गत कोई शब्द भी गान्धर्व के 'अदृष्ट' फल की ओर सङ्केत नहीं करता और उसका प्रधान प्रयोजन लोकरञ्जन है।

फलतः यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की आतोद्यविधि, जिसके लिए 'गान्धर्व' और 'सङ्गीत' दोनों शब्दों का प्रयोग नाट्यशास्त्र में है, लौकिक सङ्गीत पर विचार करती है। उसमें सङ्गीत के पश्चात्कालीन दो भेदों–मार्ग और देशी–की चर्चा तक नहीं है।

---

* गान्धर्वमेतत् कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।

+ गान्धर्वमेतत्कथितं मया च पूर्वं यदुक्तं प्रपितामहेन।

नाट्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन सङ्गीत को स्पष्ट करने का प्रयत्न करनेवाले अनुसन्धानकर्त्ता का क्षेत्र इसी लिए निश्चित हो जाता है।

५. भरत-सम्प्रदाय की नाट्यशास्त्रगत विशेषताएँ

(१) नाट्यशास्त्र के अनुसार एक स्थान में मूल ध्वनियाँ दस हैं। स्थूल दृष्टि को वे नौ प्रतीत होंगी, परन्तु विचार करने पर उनकी संख्या दस सिद्ध होती है, हाँ, उनकी संज्ञाएँ नौ हैं।

षाड्जग्रामिक स्वर ही माध्यमग्रामिक संज्ञाएँ ले लेते हैं, परन्तु उस अवस्था में षाड्जग्रामिक गान्धार मध्यमग्राम में उपयोगी नहीं होता और माध्यमग्रामिक काकली निषाद षड्जग्राम में अनुपयोगी होता है।

यदि किसी सारिका-वाद्य में हम सारिकाएँ सरकाये बिना षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम की आदिम मूर्च्छनाओं के शुद्ध, अन्तर-गान्धार-सहित, काकली-सहित एवं साधारण, चारों रूप देखना चाहें, तो हमें उस पर दस पर्दे बाँधने पड़ेंगे।

निम्नस्थ सारणी में यह स्थिति स्पष्ट है—

षाड्जग्रामिक स्वरसंज्ञाएँ	सारिकाएँ	माध्यमग्रामिक स्वरसंज्ञाएँ
षड्ज——(मेरु) मुक्त तन्त्री		मुक्ततन्त्री (मेरु)— मध्यम
ऋषभ - - - - - - - १	——	- - - - - —त्रिश्रुतिक पञ्चम
गान्धार– - - - - - २	——	- - - - - —○
अन्तर गान्धार– - - - ३	——	- - - - —चतुःश्रुतिक धैवत
मध्यम - - - - - - - ४	——	- - - - - —निषाद
○ - - - - - - - - ५	——	- - - - - —काकली निषाद
पञ्चम - - - - - - - ६	——	- - - - - —षड्ज
धैवत - - - - - - - ७	——	- - - - - —ऋषभ
निषाद - - - - - - - ८	——	- - - - - —गान्धार
काकली निषाद– - - - ९	——	- - - - - —अन्तर गान्धार
षड्ज - - - - - - - १०	——	- - - - - —पञ्चम

माध्यमग्रामिक काकली निषाद की सिद्धि के लिए पाँचवीं सारिका है, जिसकी ध्वनि षाड्जग्रामिक षड्ज की अपेक्षा आधुनिक 'तीव्र मध्यम' होगी। दूसरी सारिका पर कोई माध्यमग्रामिक स्वर नहीं और पाँचवीं सारिका पर कोई षाड्जग्रामिक स्वर नहीं हैं।

नाट्यशास्त्र (बम्बई-संस्करण) के तीसवें अध्याय में कहा गया है कि––"षड्ज एवं मध्यम (ग्राम) के गान्धार (अन्तर गान्धार) और निषाद (काकली निषाद) की कृति (स्थापना) में तीन अन्तर स्वरों की संस्था (स्थिति) से स्वरसाधारण होता है।"* इस प्रकार अन्तर स्वर तीन हैं––१. षाड्जग्रामिक अन्तर गान्धार, (२) माध्यमग्रामिक काकली निषाद, (३) षाड्जग्रामिक काकली निषाद या माध्यमग्रामिक अन्तर गान्धार।

(२) नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वरसाधारण के दो प्रकार हैं। पहला स्वरसाधारण दो श्रुतियों के उत्कर्ष से होता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्तरगान्धार एवं काकलीनिषाद की सिद्धि होती है। दूसरा स्वरसाधारण प्रयोग की सूक्ष्मता का परिणाम होता है, जिसे 'कैशिक' कहा गया है, जिसमें स्वर अपने स्थान से केशाग्र अन्तर उतरता या चढ़ता है, यह केशाग्र अन्तर ही 'प्रमाणश्रुति' है। इस स्वरसाधारण से उत्पन्न स्वरों की स्थिति निरपेक्ष नहीं होती, अपितु उनका उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट रूप विशिष्ट स्वरसन्निवेश अर्थात् स्वरप्रयोग के विशिष्ट क्रम का परिणाम होता है, इसलिए वे मूर्च्छनाओं के निर्माण में कारण नहीं होते।

(३) षड्जग्राम में धैवत, मध्यम ग्राम में पञ्चम एवं मध्यम सर्वत्र अविलोपी रहता है।

(४) मूर्च्छनाओं से उत्पन्न तानें षट्स्वर एवं पञ्चस्वर होती हैं। सम्पूर्ण मूर्च्छनाएँ जातियों के सम्पूर्ण, षट्स्वर तानें षाडव और पञ्चस्वर तानें औडुव रूपों का निर्माण करती हैं। देश-विशेष में चतुःस्वर प्रयोग की ओर भी नाट्यशास्त्र में संकेत है।

(५) औडुवरूप में जिन दो स्वरों का लोप होता है, वे परस्पर संवादी होते हैं।

(६) जातियाँ और उनमें विकार––

जातियों में विकार के कई कारण होते हैं, (१) अंशस्वर में परिवर्तन, (२) दो या अधिक जातियों का मिश्रण, (३) अन्य लक्षणों में परिवर्तन।

'अंश' स्वर मूर्च्छना का प्रारम्भिक स्वर है। वाद्यविधि में इसी को 'स्थायी' स्वर कहा गया है, मृदङ्ग इत्यादि वाद्य इसी में मिलाये जाते थे। आज यदि जाति-प्रयोग

---

* स्वरसाधारणं चापि त्र्यन्तरस्वरसंस्थया।
निषादगान्धारकृतौ षड्जमध्यमयोरपि॥

किया जाय, तो सितार और वीणा की चिकारियाँ इसी में मिलायी जायँगी । निरन्तर गूँजते रहने के कारण भी इसका नाम 'स्थायी' है । स्थायी भाव का प्रकाशन भी यही करता है । पाश्चात्यों के 'टोनिक' या 'की-नोट' शब्द इसी के पर्याय हैं ।

एक जाति का एक विशिष्ट 'वर्ण' (स्वरसन्निवेश, स्वरक्रम) जाति का रूप निश्चित करनेवाला स्वर-समुदाय होता है । अंश स्वर का परिवर्तन होने पर भी 'वर्ण' वही रहता है, केवल परिवर्तित 'अंश' या 'स्थायी' स्वर का प्रयोग बहुल हो जाता है ।

आज मेल-पद्धति एवं ठाठ-पद्धति में प्रत्येक स्थायी स्वर को 'सा' कहा जाने लगा है।

दो या अधिक जातियों के संकर से संकीर्ण या मिश्र जातियों की उत्पत्ति होती है । ऐसी अवस्था में भी वे षाड्जग्रामिक या माध्यमग्रामिक मानी जाती हैं । यदि ऐसी जातियों में 'पञ्चम' लोप्य स्वर रहे तो वह षाड्जग्रामिक मानी जायँगी, क्योंकि मध्यम ग्राम में 'पञ्चम' अविलोपी होता है, यदि 'धैवत' लोप्य स्वर हो, तो वे माध्यमग्रामिक मानी जायँगी, क्योंकि षड्ज ग्राम में धैवत का लोप विहित नहीं । प्रयोज्य पञ्चम एवं धैवत की त्रिश्रुतिकता एवं चतुःश्रुतिकता से भी ग्रामविशेष का बोध होता है ।

(७) राग––

शुद्धसाधारित, षड्जग्राम, मध्यमग्राम, षाडव, शुद्धकैशिक, शुद्धकैशिकमध्यम एवं पञ्चम, ये सातों शुद्ध राग जातियों के विकार या संकर का परिणाम हैं । केवल 'षाडव' राग विकृत मध्यमा से उत्पन्न है, अवशिष्ट छहों राग संकीर्ण जातियों से उत्पन्न हुए हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्यशास्त्र में संकीर्ण जातियाँ एवं उनसे उत्पन्न राग हैं, परन्तु उन जातियों या रागों को किसी एक ग्राम से ही सम्बद्ध माना गया है। किसी जाति या राग को 'द्वैग्रामिक' नहीं कहा गया ।

(८) अन्तर स्वरों का प्रयोग जातियों में केवल आरोह में विहित है ।

(९) एक ही जाति या राग में गान्धार या निषाद के दोनों रूपों का प्रयोग सम्भव नहीं ।

६ः उपलब्ध नाट्यशास्त्र

तत्त्वदर्शी महर्षि अपने चिन्तन के परिणामों को सूत्ररूप में कहते रहे हैं । 'सूत्र' अल्पाक्षरयुक्त, सन्देहरहित, सारगर्भ, व्यर्थशब्दहीन, व्यापक एवं अनिन्द्यार्थबोधक होते हैं ।

सूत्र के समस्त सार भाग का विवरण करनेवाली व्याख्या 'वृत्ति', वृत्ति की विवेचना 'पद्धति', शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया जाना 'भाष्य', भाष्य के अवान्तर अर्थों का स्पष्टीकरण 'समीक्षा', यथासम्भव सरल अर्थों का संकेत 'टीका', कठिन भाग का सरल शब्दों में स्पष्टीकरण 'पञ्जिका', सूत्र के अर्थ का प्रदर्शन मात्र 'कारिका' तथा उक्त, दुरुक्त एवं अनुक्त अर्थों का विवेचन 'वार्तिक' कहलाता है।

भारतीय सिद्धान्त इसी प्रकार प्रौढ शास्त्रों के रूप में विकसित होते रहे हैं। नाट्यशास्त्र एवं सङ्गीतशास्त्र के विकास का भी यही क्रम रहा है। आज इन दोनों विषयों के मूलसूत्र अप्राप्य हैं।

यदि आज कोई व्यक्ति 'शाङ्करदर्शन' पर एक ग्रन्थ लिखे, तो उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त तो शंकराचार्य के होंगे, परन्तु उस कृति को विशिष्ट रूप स्वयं लेखक द्वारा प्राप्त होगा।

भारत के गौरवपूर्ण अतीत में अनेक प्रसिद्धिपराङमुख आचार्य ऐसे हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन मनीषियों के सिद्धान्तों की व्याख्या अत्यन्त सुन्दर रूप में की और अपने यश की चिन्ता न की। अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, परन्तु उनके कर्ताओं का पता नहीं।

कारिकाओं, वृत्तियों, व्याख्याओं एवं भाष्या के कारण जब किसी शास्त्र का विस्तार अधिक हो जाता है, तब तत्त्वदर्शी मनीषी लोक पर अनुग्रह करके उस शास्त्र का संक्षेप कर देते हैं। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसे अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के मूलतः उद्‌भावक महापुरुष उन ग्रन्थों की रचना से कहीं पूर्व सुदूर अतीत में हुए हैं।

ऐसी स्थिति में 'संक्षेप-ग्रन्थों' की भाषा इत्यादि के आधार पर उन महाविभूतियों के अस्तित्व-काल का निश्चय किया जाना उचित नहीं, जिनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन इन ग्रन्थों में है।

लौकिक सङ्गीत पर विचार करनेवाला उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है। भावप्रकाशनकार शारदातनय ने लिखा है कि नाट्य-सम्बन्धी विस्तृत सिद्धान्तों के दो संग्रह, 'द्वादशसाहस्री' एवं 'षट्‌साहस्री', किये गये।

द्वादशसाहस्री आज अनुपलब्ध है और षट्‌साहस्री का ही एक रूप उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' है।

षट्‌साहस्री के वर्तमान रूपों में पाठ-भेद, विषय-प्रतिपादन में क्रमभेद तथा अध्यायों के क्रम में भी भेद पाया जाता है। कुछ प्रतियों में किसी विषय का विवेचन पद्य में है, तो अन्य प्रति में उसी नियम का विवेचन गद्य में है।

इस प्रकार षट्साहस्री के प्रमुख रूप दो हैं, एक प्राचीन और दूसरा नवीन। उद्भट और लोल्लट इत्यादि व्याख्याकारों का आधार प्राचीन रूप एवं शंकुक, कीर्तिधर एवं अभिनवगुप्त की व्याख्या का आधार नवीन रूप हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कहा है कि 'नास्तिकधुर्य उपाध्याय' ने (उपलब्ध) नाटचशास्त्र को एक संग्रहग्रन्थ माना है, भरत मुनि की कृति नहीं माना। सदाशिव-मत, भरतमत एवं ब्रह्ममत के विवेचन द्वारा ब्रह्ममत की ससारता प्रतिपादित करने के लिए उन-उन मतों के प्रतिपादक ग्रन्थों के खण्डों का प्रक्षेप (संग्रह) करके इस शास्त्र का निर्माण किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त यद्यपि इस धारणा से सहमत नहीं, तथापि यह सिद्ध है कि आचार्य अभिनवगुप्त के काल, ईसा की दशम शती में भी नाटचशास्त्र को पश्चात्कालीन संग्रह माननेवाले विचारक विद्यमान थे।

नाटचशास्त्र के उपलब्ध रूप में अनेक स्थानों पर आनुवंश्य संग्रह-श्लोकों का अस्तित्व प्रमाणित करता है कि यह एक संग्रह-ग्रन्थ है, जिसका आधार कोई प्राचीन ग्रन्थ और वंश-परम्परागत सामग्री है।

नाटचशास्त्र में 'नाटचवेद' की चर्चा है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में श्रोता मुनिवृन्द—ग्रथित 'नाटचवेद' की चर्चा करते हैं। आतोद्यविधि में 'गान्धर्व-कल्प' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा है,* जो सामगान करनेवालों से सम्बद्ध प्रतीत होता है और जिसमें 'मध्यम' को अविनाशी माने जाने की बात कही गयी है।

शारदातनय के अनुसार 'पञ्चभारतीयम्' नामक एक ग्रन्थ का अस्तित्व भी था, जो सम्भवतः पाँच भरतों के सिद्धान्तों का संग्रह-ग्रन्थ रहा होगा। शारदातनय ने भरत के पुत्र पाँच बताये हैं। नाटचशास्त्र में भरतपुत्रों की संख्या सौ है।

नाटचशास्त्र की जातियों में मतभेद का संकेत भी मिलता है। कैशिकी जाति में कभी ऋषभ को भी अपन्यास स्वर मानने की बात इस मतवैविध्य की ओर इङ्गित करती है।

नाटचशास्त्र के काशी-संस्करण एवं बम्बई-संस्करण के अट्ठाईसवें अध्याय में जातियों का वर्णन पद्य में है, परन्तु नाटचशास्त्र के जिस रूप पर आचार्य अभिनवगुप्त ने टीका की है, उसमें जातियों का वर्णन गद्य में है।

नाटचशास्त्र की भाषा में 'अपाणिनीय' प्रयोग प्रायः नहीं हैं। इस दृष्टि से नाटच-

---

* गान्धर्वकल्पे विहितः सामगैरपि मध्यमः। —नाट्यशास्त्र

शास्त्र का वर्तमान रूप बहुत अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होता, तथापि उसमें वर्णित सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन हैं।

७. भरत और आदिभरत

अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने 'भरत' एवं 'आदिभरत' दोनों के ही उद्धरण दिये हैं। भाण्डारकर-प्राच्य-संस्थान में सुरक्षित 'नाटच-सर्वस्व-दीपिका' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ को 'आदिभरत' की टीका समझा जाता है। इसके अनुसार आदिभरत में पाँच स्कन्ध, बत्तीस अध्याय और दो सौ इक्कीस प्रकरण थे एवं श्लोक-संख्या छः सहस्र थी।

'रत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ ने 'भरत' के कुछ ऐसे उद्धरण दिये हैं, जो वर्तमान संस्करणों में नहीं मिलते। सात ग्रामरागों की चर्चावाला जो पाठ कल्लिनाथ को प्राप्त था, उसमें शुद्ध, भिन्न, वेसर, गौड एवं साधारण रागों का भी विनियोग नाटच में निर्दिष्ट था। शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा एवं साधारणी गीतियाँ दुर्गामित से सम्बद्ध हैं जो रागों के पाँच प्रकार बना देती हैं।*

अतः यह सिद्ध है कि नाटचशास्त्र के अनेक संस्करण थे, जो परम्परागत सिद्धान्तों के संग्रहमात्र थे। उनमें पौर्वापर्य का निश्चय किया जाना कठिन है।

नाटचशास्त्र के वर्तमान रूप को अभिनवगुप्त ने भरतसूत्र कहा है, नान्यदेव भी नाटचशास्त्र के जातिलक्षणों को सूत्र ही कहते हैं।

आदिनाटचशास्त्र

मत्स्यपुराण में नाटचशास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि की चर्चा है। देवलोक में भरत मुनि ने 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक की योजना की। उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, परन्तु देवसभा में स्थित पुरूरवा के रूप पर मुग्ध होकर वह अपना अभिनय भूल गयी। अतः भरत मुनि ने क्रुद्ध होकर उर्वशी और पुरूरवा दोनों को ही शाप दे दिया। इस प्रकरण में भरत मुनि का नाम पाँच बार आया है।

कालिदास ने इस कथा की ओर संकेत किया है और भरत मुनि के नाम एवं कृति

---

* तथा चाह भरतः—

पूर्वरङ्गे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया। वेसरा मुखयोः कार्या गर्भे गौडी विधीयते॥
साधारिताऽवमर्शे स्यात् सन्धौ निर्वहणे तथा। —कल्लि०, सं० र०टी०, राग०, अ० सं०, पृ० ३२

का उल्लेख किया है। नयी खोजों के अनुसार कालिदास का काल ई० पू० प्रथम शती निश्चित हो चुका है।

वाल्मीकिरामायण के वालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड को आधुनिक विचारक वाल्मीकि की कृति न मानकर प्रक्षिप्त भाग मानते हैं, परन्तु यदि इन काण्डों को प्रक्षिप्त माना जाय, तो भी इनकी भाषा इन दोनों काण्डों को पाणिनि की अपेक्षा पुरातन सिद्ध करती है। आज के विद्वान् पाणिनि को ईसा से ७०० पूर्व किसी समय का व्यक्ति मानते हैं।

अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक भी वाल्मीकि-रामायण में सङ्गीत की जो चर्चा है, वह वाल्मीकि का भरत-सिद्धान्तों से परिचित होना भली भाँति सिद्ध करती है।

रामायण के वर्तमान रूप में 'प्रक्षेप' हैं, परन्तु सङ्गीत-विषयक चर्चा रामायण में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से आयी है, उन सभी स्थलों को अकारण प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता।

वाल्मीकिरामायण में 'मत्तकोकिला' एवं 'विपञ्ची' जैसी प्राचीनतम वीणाओं की चर्चा है, परन्तु 'किन्नरी' जैसी सारिकायुक्त वीणा की चर्चा नहीं है।

शुद्ध सात जातियों की चर्चा है, जिससे सिद्ध है कि चार षाड्जग्रामिक एवं तीन माध्यमग्रामिक जातियों से वाल्मीकि परिचित थे। विकृत अथवा संसर्गज जातियों की कोई चर्चा वाल्मीकि-रामायण में नहीं।

इस दृष्टि से भी यह सिद्ध है कि रामायण की रचना उस काल में हुई जब कि शुद्ध जातियों का प्रचलन था और किन्नरी-जैसे सारिकायुक्त वाद्यों का जन्म नहीं हुआ था।

रामायण में सङ्गीत-शास्त्र की जिन परिभाषाओं का उल्लेख हुआ है, वे निम्न-लिखित हैं —

		काण्ड	सर्ग	श्लोक
१ गान्धर्व	..	अयो०	२	३५
२ सङ्गीत	..	किष्कि०	२८	३६-३७
३ आतोद्य	..	सुन्दर०	१०	४९
४ समाज	..	अयोध्या०	५१	२३
५ गीत	..	,,	१२	७७
६ गीत	..	बाल०	४	२७
स्वरविधि—				
७ स्थान	..	बाल०	४	१०
	..	सुन्दर०	४	१०

८	स्वर	..	सुन्दर०	४	१०
९	श्रुति	..	अयोध्या०	६५	२
१०	मूर्च्छना	..	उत्तर०	९३	१३
११	स्थानमूर्च्छन	..	बाल०	४	१०
१२	जाति	..	,,	४	४८
१३	करण	..	उत्तर०	७१	१५
	तत वाद्य--				
१४	वीणा	..	अयोध्या०	३९	२९
१५	मत्तकोकिला	..	किष्कि०	१	१५
१६	विपञ्ची	..	सुन्दर०	१०	४१
	सुषिर वाद्य--				
१७	वेणु	..	किष्कि०	३०	५०
१८	शंख	..	युद्ध०	४२	३९
	अनवद्ध वाद्य--				
१९	दुन्दुभि	..	युद्ध०	४२	३९
२०	भेरी	..	,,	४४	१२
२१	पटह	..	सुन्दर०	१०	३९
२२	मृदङ्ग	..	,,	१०	४२
२३	डिण्डिम	..	,,	,,	४४
२४	पणव	..	,,	,,	४३
२५	मुरज	..	,,	११	६
२६	मड्डुक	..	,,	१०	३८
२७	आडम्बर	..	,,	,,	४५
२८	चेलिका	..	,,	११	६
	वादनोपकरण--				
२९	कोण	..	युद्ध०	४२	३४
	तालविधि--				
३०	मात्रा	..	उत्तर०	२४	७

३१	कला	..	उत्तर०	२४	७
३२	लय	..	बाल०	२	१८
३३	प्रमाण	..	उत्तर०	९४	२
३४	ताल	..	"	"	"
३५	समताल	..	उत्तर०	७१	१५
३६	अक्षरसम	..	बाल०	२	१८
३७	मार्ग	..	"	४	३६
३८	शम्या	..	अयोध्या०	९१	४९
३९	गीति	..	उत्तर०	७१	१८
	नृत्यविधि—				
४०	नृत्य	..	सुन्दर०	११	५
४१	अङ्गहार	..	"	१०	३६
	नाट्यविधि—				
४२	रङ्ग	..	युद्ध०	२४	४३
४३	नाटक	..	बाल०	६	१२ }
		..	अयो०	६९	४ }
	शास्त्रज्ञ—				
४४	पूर्वाचार्य	..	उत्तर०	९४	२
४५	लक्षणज्ञ	..	"	९४	५-६
४६	कलामात्राविशेषज्ञ	..	"	"	"
	सङ्गीतज्ञ पात्र—				
१	राम	..	अयोध्या०	२	१५
२	सीता	..	"	३९	२९
३	रावण	..	युद्ध०	२४	४२-४३
	गंधर्व—				
१	नारद	..	अयोध्या०	९१	४६
२	तुम्बुरु	..	"	"	"
३	गोप	..	"	"	"

अप्सराएँ—

१	अलम्बुषा	अयोध्या०	९१	४७
२	मिश्रकेशी	"	"	"
३	पुण्डरीका	"	"	"
४	वामना	"	"	"

इस स्थिति से यह निश्चित हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि आदिम नाटचशास्त्र के विषय से भली भांति परिचित थे, फलतः हमारी दृष्टि में नाटचवेद के आदिप्रवक्ता भरत वाल्मीकि से पूर्ववर्ती थे। निम्नलिखित कारण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं—

(क) नाटचशास्त्र में उपलब्ध अनुश्रुति महर्षि भरत को महाराज नहुष का समकालीन बताती है, जो भगवान् राम से पीढ़ियों पूर्व हुए हैं और आधुनिक अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप एक वैदिककालीन नरेश सिद्ध हो चुके हैं।

(ख) नाटचशास्त्र के काशी-संस्करण में भगवान् वाल्मीकि को नाटचवेद के श्रोता ऋषियों में गिनाया गया है। इससे सिद्ध है कि नाटचशास्त्र का संग्रहकार भी महर्षि वाल्मीकि का उपजीव्य (श्रद्धेय) किसी 'भरत' को मानता था।

(ग) वाल्मीकि के टीकाकार राम ने उत्तरकाण्ड में प्रयुक्त 'पूर्वाचार्य' शब्द का अर्थ 'भरत' किया है। अतः इस टीकाकार को उपलब्ध अनुश्रुति भी भरत को वाल्मीकि की अपेक्षा पूर्वाचार्य सिद्ध करती है।

(घ) कालिदास एवं मत्स्यपुराण के अनुसार भी नाटच के आदिम प्रयोक्ता 'भरत' ही हैं।

(ङ) वाल्मीकिरामायण का अन्तःसाक्ष्य भरत के सिद्धान्तों से वाल्मीकि का पूर्णतया परिचित होना सिद्ध करता है।

हमारी दृष्टि में वाल्मीकि, पाणिनि से कहीं पूर्ववर्ती हैं और भरत वाल्मीकि से भी पूर्व हुए हैं।

ईसा से पूर्व किसी न किसी शताब्दी में वाल्मीकि या भरत-जैसी महाविभूतियों को कहीं न कहीं 'फिट' कर देना हमारे वंश की बात नहीं।

८. भरत-सिद्धान्तों पर विदेशी प्रभाव ?

भारतीय वाङ्मय जब ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों के विचार का विषय बना, तब उन्होंने भारतीय संस्कृति के उस मूल को खोजना चाहा, जिसकी जड़ें सुदूर अतीत में न जाने कहाँ तक चली गयी हैं। उनकी अपनी विशिष्ट मान्यताएँ उन्हें

अतीत में एक विशिष्ट सीमा तक ले गयीं, जिसके अन्तर्गत उन्होंने भारतीय वाङमय की अमर कृतियों को काल की दृष्टि से किसी न किसी शताब्दी में कहीं न कहीं ठीक इसी भाँति पटक दिया, जिस भाँति कोई भारवाहक थककर चूर हो जाता है और गन्तव्य स्थान तक पहुँचने से पूर्व ही मार्ग में कहीं भी सिर पर लदे भार को पटककर हाँफने लगता है।

यह ठीक है कि किसी सीमा तक पर्याप्त सामग्री के अभाव के कारण उन विचारकों के मार्ग में कठिनाइयाँ थीं, परन्तु साथ ही साथ यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि वे अनेक विशेषताओं का श्रेय पराधीन भारत की शासित जाति को न देकर अपने पूर्वजों के गुरु 'यूनान' जैसे देशों को देना चाहते थे।

शासक जाति शासित जाति का स्वाभिमान एवं आत्म-विश्वास नष्ट करने के लिए सब कुछ करती है। भारतीय नाटकों पर यूनान का प्रभाव सिद्ध करने में कुछ सज्जनों ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया, जब कि यूनान में 'प्रेक्षागृह' जैसी कोई वस्तु नहीं थी, सात्त्विक अभिनय के लिए कोई स्थान नहीं था और यवनिका होती ही नहीं थी। सन्तोष का विषय है कि पिछली पीढ़ी के जर्मन विद्वान् वेबर ने अपने जीवन में ही यह मान लिया था कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप में हुई है, भले ही उस पर ग्रीक प्रभाव हो।

मनुस्मृति के अनुसार तो संस्कारों के लोप एवं ब्राह्मणों के अदर्शन के परिणाम-स्वरूप 'यवन' एवं 'शक' जातियों का क्षत्रियत्व नष्ट हो गया। 'मानव' धर्म का प्रभाव हटने के कारण 'यवन' 'शक' इत्यादि जातियों को वृषलत्व की प्राप्ति हुई। इसका अर्थ तो यह है कि यवनों (यूनानियों) पर ही आरम्भ में मनु के आचार का प्रभाव पड़ा, जो सम्भवतः राजनीतिक कारणों से शनैः-शनैः कम होता गया।

जिन्हें पाश्चात्यों का नाम सुने बिना सन्तोष न होता हो, उनको सन्तुष्ट करने के लिए इतना पर्याप्त है कि प्रो० वेनंर या एगर ने अपनी अरिस्तौतिली के विकास की पुस्तक में भारतीय विद्वानों का यूनान में पहुँचना भारत पर सिकन्दर के आक्रमण से कहीं पूर्व सिद्ध किया है। प्रो० उर्विक ने प्लातौन की रिपब्लिक नामक पुस्तक पर भारतीय सिद्धान्तों का प्रभाव सिद्ध किया है।

यूनान और भारत के सम्बन्धों पर जिन पाश्चात्य विद्वानों ने विचार किया है, वे संस्कृत एवं ग्रीक दोनों भाषाओं से परिचित थे। आवश्यकता है कि हम भारतीय इन दोनों भाषाओं का अध्ययन करके इस विषय पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करें।

भरत के संगीत-सिद्धान्तों को अस्पष्ट एवं श्रुति-विभाग-सिद्धान्त को आडम्बर मात्र घोषित करके कुछ पाश्चात्य सज्जनों ने सन्तोष-लाभ किया, तो कुछ मूर्तियाँ

भरत की 'प्रमाणश्रुति' को पायथोगोरस का प्रसाद सिद्ध करने में जुट गयीं। ग्रीक एवं संस्कृत दोनों भाषाओं से अपरिचित कुछ 'म्यूजिक-टीचर' आज भी कुछ ऐसी ही अनर्गल बातें यदा-कदा लिख डालते हैं।

उन्नीसवीं शती के अन्त एवं बीसवीं शती के आरम्भ में भारत के शिक्षित कहे जानेवाले समुदाय का पर्याप्त भाग अपने आपको पाश्चात्यों की दृष्टि में 'प्रगतिवादी' एवं 'भारतीयों का आधुनिकतम संस्करण' सिद्ध करने में लगा था। वह स्वयं को उस वर्ग से पृथक् करके दिखाना चाहता था, जो पाश्चात्यों की दृष्टि में रूढिवादी था। इस 'आधुनिकतम' भारतीय ने प्रत्येक उस 'नारे' को दुहराने में अपनी विशालहृदयता एवं निपुणता—इतिकर्त्तव्यता समझी, जो पश्चिम से उठा हो।

भारतीय मूलग्रन्थों से अपरिचय, संस्कृत भाषा के पठन-पाठन की परम्परा के ह्रास, प्राचीन सम्प्रदायों के लोप एवं मैकाले-महोदय की शिक्षा-योजना के परिणामस्वरूप बड़ी-बड़ी मनोरञ्जक बातें कहनेवाले व्यक्ति भारत में ही उत्पन्न हुए।

इस स्थिति से सङ्गीतक्षेत्र भी अछूता न रहा। नाट्यशास्त्र को अपने दर्शन से कृतकृत्य करने के पूर्व ही पंडितम्मन्य मनीषियों (!) ने उसे अस्पष्ट घोषित कर डाला। कुछ सज्जनों ने यह व्यवस्था दे दी कि संस्कृत भाषा के शब्द अनेकार्थवाची होते हैं, फलतः ग्रन्थों के वास्तविक तात्पर्य का समझा जाना सम्भव नहीं।

किन्हीं महानुभाव ने यह लिख दिया कि नाट्यशास्त्र में 'सङ्गीत' शब्द नहीं, तो किसी ने यह स्थापना कर डाली कि नाट्यशास्त्र में 'राग' शब्द नहीं, हो भी तो प्रचलित अर्थ में नहीं। इतना अवकाश किसे था कि नाट्यशास्त्र को स्वयं पढ़कर 'सङ्गीत' और 'राग' शब्दों को उसमें देखे। जिस नाट्यशास्त्र में एक नहीं सात 'राग' विद्यमान हैं, 'राग' एवं 'सङ्गीत' शब्दों का प्रयोग एक से अधिक स्थानों पर है, उस नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसे सज्जन भी विचार करते, भाषण देते पाये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध कम से कम इस जीवन में तो नाट्यशास्त्र के साथ सम्भव नहीं।

यदि कोई सज्जन ग्रेजुएट भी हैं, सङ्गीत की भी कोई परीक्षा उन्होंने पास कर ली है, सङ्गीत के दुर्भाग्य एवं अपने सौभाग्य से किसी प्रतिष्ठित कहीं जानेवाली संस्था में सङ्गीत के अध्यापक भी नियुक्त हो गये हैं, तो उन बेचारों को भाषण भी देने पड़ते हैं। भाषण में कुछ न कुछ तो कहा ही जाना चाहिए। कही जाय, तो कोई विचित्र एवं मौलिक बात कही जाय। फलतः षड्जग्राम, गान्धारग्राम पर सङ्कट आता है, इनके विलक्षणतम भाषण स्वयं इनके लिए भी अस्पष्ट स्पष्टीकरण (!) होते हैं। ऐसा भी होता है कि दैवदुर्विपाक से महर्षि भरत पर पायथोगोरस की छाया पड़ने लगती है।

हिन्दी, संस्कृत, इंगलिश एवं ग्रीक भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित भोलानाथ शर्मा एम० ए० (बरेली-कालेज, संस्कृत-विभाग) का कथन है कि पायथोगोरस के किसी भी ग्रन्थ का आज अस्तित्व नहीं, प्राचीन ग्रीक ग्रन्थों के उद्धरणों एवं अनुश्रुतियों के आधार पर ही उसकी चर्चा होती है। ऐसी स्थिति में पायथोगोरस का प्रभाव भरत पर ढूँढ़नेवाले व्यक्तियों की गणना संसार के प्रमुखतम आश्चर्यों में होनी चाहिए। वाल्मीकि एवं आदिभरत से पूर्व 'पायथोगोरस' का अस्तित्व सिद्ध होना अभी शेष है।

९. महर्षि भरत के स्वर और आधुनिक भौतिक विज्ञान

सङ्गीतप्रयोज्य ध्वनियों के सम्बन्ध में आधुनिक भौतिक विज्ञान ने कुछ सिद्धान्त निश्चित किये हैं। हमें उन सिद्धान्तों के प्रति कोई विरोध या अनुरोध नहीं है।

महर्षि भरत के सङ्गीत पर विचार करनेवाले अनुसन्धानकर्त्ता के सम्मुख मूल प्रश्न यह आता है कि आधुनिक सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरणों के अभाव में प्राचीन महर्षि स्वरसम्बन्धी सनातन सिद्धान्तों तक किस विधि से पहुँचे, उस आर्षविधि की खोज ही अनुसन्धानकर्त्ता का लक्ष्य होना चाहिए।

महर्षि भरत की सारणाविधि के परिणामस्वरूप हमें श्रुतियों के तीन परिमाण प्राप्त हुए हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए हमने इनका नाम 'क', 'ख', 'ग' किया है, ये परिमाण क्रमशः छोटे होते गये हैं। 'ख' और 'ग' मिलकर प्रायः 'क' के समान हो जाते हैं। चतुःश्रुतिक स्वरों में इनका क्रम 'ग, क, ख, ग', त्रिश्रुतिक स्वरों में 'क, ख, ग' और द्विश्रुतिक स्वरों में 'ख, ग' होता है। काकलीनिषाद एवं अन्तरगान्धार निषाद एवं गान्धार की शुद्ध अवस्था से 'ग, क' अन्तर पर रहते हैं।

सारणाविधि के परिणामस्वरूप ज्ञात श्रुतियों में एक सप्तक के अन्तर्गत पाँच 'क', सात 'ख' एवं दस 'ग' श्रुतियाँ होती हैं।

'ग' श्रुति 'प्रमाणश्रुति' है, जो प्रत्येक चतुःश्रुतिक स्वर के आदि एवं अन्त में त्रिश्रुतिक धैवत और ऋषभ तथा द्विश्रुतिक गान्धार एवं निषाद के अन्त में रहती है।

इस प्रमाणश्रुति का ज्ञान ही स्वरों के भरतोक्त आयतत्व एवं मृदुत्व का ज्ञान कराता है और सङ्गीतप्रयोज्य ध्वनियों की अनन्तता का साधक है।

१०. मौलिकता का दावा नहीं

पूर्व पुरुषों के सिद्धान्तों की व्याख्या करनेवाला व्यक्ति मौलिकता का दावा नहीं किया करता, वह तो पूर्वोक्त तथ्यों को केवल स्पष्ट करने के लिए सचेष्ट मात्र होता है। लेखक को ग्रन्थ-सामग्री की मौलिकता का गर्व इसी लिए नहीं है। ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उसके आधारों को उद्धृत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थ लिखने का मुख्य प्रयोजन हिन्दी-पाठकों के समक्ष कुछ तथ्यों को उद्घाटित करना है, किसी व्यक्ति-विशेष या वर्गविशेष का खण्डन नहीं । संस्कृत-ग्रन्थों के यथास्थान उद्धरण उन अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे, जो इस दिशा में सचमुच कुछ कार्य करना चाहते हैं ।

खण्डनात्मक पद्धति उस वर्ग के पाठकों के मन में ग्रन्थ के प्रति एक आक्रोश उत्पन्न करती है, जो किसी व्यक्ति या वर्गविशेष के प्रति जन्मना अथवा चिरकाल से श्रद्धा रखते हैं, फलतः इस ग्रन्थ को आधुनिक विचारकों के खण्डन से दूर रखा गया है । यदि जिज्ञासु पाठकों एवं अधिकारी विद्वानों ने सरल भाव एवं मर्मस्पर्शिनी दृष्टि से प्रस्तुत कृति का मूल्याङ्कन किया, तो इसके अकिञ्चन कर्त्ता को प्रसन्नता होगी ।

जातियों एवं ग्रामरागों को गेय एवं वादनीय रूप से प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न इस ग्रन्थ के लेखक द्वारा किया जा चुका है । वाग्गेयकार की सीमाओं एवं कर्त्तव्यों का ध्यान रखते हुए इनके उदाहरणों की रचना एवं शिक्षा का कार्य यथासम्भव हो रहा है। तथापि व्यक्ति की सीमाएँ होती हैं, इन कार्यों के लिए राजकीय सहायता अनिवार्य-अपेक्षित होती है । भगवान् आशुतोष को यदि इस शरीर से कुछ कार्य लेना है, तो साधन स्वयं जुट जायँगे––

गुणहीन व्यक्ति, गुण को परख नहीं सकता और एक गुणी दूसरे गुणी के प्रति मत्सरी होता है। ऐसा सरल व्यक्ति विरल होता है, जो गुणी भी हो और गुणरागी भी । श्री ठा० जयदेवसिंहजी के रूप में मुझे ऐसे ही सरल एवं विरल व्यक्तित्व का स्नेहमय सम्पर्क प्राप्त हुआ है । वे संगीतमर्मज्ञ तो हैं ही, ऐसे कई शास्त्रों के साथ भी उनका प्रगाढ परिचय है, जिनके अच्छे ज्ञान के अभाव में किसी को प्राचीन सङ्गीतशास्त्र के स्पर्श का भी अधिकार नहीं है । उन्होंने इस ग्रन्थ के भूमिका-लेखन के लिए अपनी कठिन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके कुछ समय निकाल ही लिया, यह उनके विद्याव्यसन एवं गुणरागित्व का प्रमाण है ।

सूचना-विभाग,उत्तर प्रदेश के सञ्चालक एवं हिन्दी-समिति के सचिव श्री भगवती-शरणसिंहजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं; प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन जिनकी सङ्गीताभिरुचि एवं गुणग्राहिता का परिणाम है ।

अन्ततः––

आपरितोषाद् विदुषां साधु न मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।

कैलासचन्द्र देव बृहस्पति

मङ्गलाचरणम्

गिरिजापाङ्गविलासवशीकृतहृदयमधीनमधीरम् ,
विरहितछद्मवेषमचिरम्प्रकटीकृतगौरशरीरम् ।
छलनगतञ्छलितन्नगतनयावचनचातुरीक्रीतम् ,
नौमि शङ्करं प्रियासखीजनललितं कविकुलगीतम् ॥ १ ॥
चञ्चलयुवतिदृगञ्चलसञ्चितमदिरमधुरसङ्केताम् ,
प्रियतमपदपल्लवनतनयनामालिविनोदमुपेताम् ।
चन्द्रमौलिसितहासकण्टकितरोमामरुणकपोलाम् ,
नौमि पार्वतीमीशविलोकनविरहितसंशयदोलाम् ॥ २ ॥
जलनिधिमन्थनमधुरपरिणतिं हरिपरिणयमुपनीताम् ,
कङ्कणकिङ्किणिनूपुरशिञ्जितमदिरामुपमातीताम् ।
मुकुलितनलिनविलोचनरुचिरामतिपुलकितगतिधीराम्,
नौमि सिन्धुजामिन्दीवरतनुसौरभरुचिरसमीराम् ॥ ३ ॥
अलिकुलकोकिललालनललिते यमुनातीरनिकुञ्जे ,
मधुगुञ्जनजितगीतगुञ्जिते मञ्जुलसुषमापुञ्जे ।
राधारूपधरामतिमधुरां मुरलीध्वनिसंवीताम् ,
नौमि माधवं मोदयन्तमनिशं प्रियतमां पुनीताम् ॥ ४ ॥
गङ्गातुङ्गतरङ्गकेलिललितं गजवदनमुदारम् ,
लम्बकरग्रहपतितकुसुमकुलविरचितसुन्दरहारम् ।
जननीकन्ठसमर्पणमनसं बालसुलभकृतिलोभम् ,
नौमि गणेशं मुदितमहेशं विमलबुद्धिबलशोभम् ॥ ५ ॥

प्रथम अध्याय

ग्राम

जिन महर्षियों को सत्य का साक्षात्कार हो चुका हो, उन्हें 'आप्त'[1] कहा जाता है। 'आप्त' महापुरुषों के वाक्य 'शब्द'[2] कहलाते हैं। नैयायिकों ने 'प्रत्यक्ष' इत्यादि प्रमाणों में 'शब्दप्रमाण' की भी गणना की है।[3] भारतीय विचारक श्रुतिवचनों एवं आप्तवाक्यों को 'शब्दप्रमाण' के रूप में ग्रहण करते आये हैं। नाटच के क्षेत्र में महर्षि भरत 'आप्त' हैं।

महर्षि भरत का प्रधानतया प्रतिपाद्य विषय नाटच है। कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म ऐसा नहीं, जो नाटच में न आता हो[4], अतः उसके अन्तर्गत महर्षि ने गीत, वाद्य और नृत्य का भी वर्णन किया है।

महर्षि के अनुसार नाटच के प्रयोक्ता को पहले गीत में परिश्रम करना चाहिए, क्योंकि 'गीत' नाटच की शय्या है, गीत और वाद्य भली-भाँति प्रयुक्त होने पर नाटच-प्रयोग में कोई विपत्ति नहीं आती।[5]

१—आप्तस्तु यथार्थवक्ता।

—अन्नंभट्ट, शब्दपरिच्छेद, तर्कसंग्रह

२—आप्तवाक्यं शब्दः। —अन्नंभट्ट, शब्दपरिच्छेद, तर्कसंग्रह

३—यथार्थानुभवश्चतुर्विधः। प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधम्। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

—अन्नंभट्ट, प्रत्यक्षपरिच्छेद, तर्कसंग्रह

४—न तच्छ्रुतं न सा विद्या न स न्यायो न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाटचेऽस्मिन्न दृश्यते।।

—भरत०, ब० सं०, प्रथम अध्याय, पृ० १२

५—गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्य्यः शय्यां हि नाटचस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाटचप्रयोगो न विपत्तिमेति।।

—भरत०, ब० सं०, अध्याय ३२, पृ० ६०३

'पूर्वरङ्गविधि'[६] एवं 'ध्रुवागान'[७] में 'गीत', 'वाद्य' और 'नृत्य' का प्रयोग विहित है, फलतः महर्षि भरत ने गीत, वाद्य और नृत्य का वर्णन सूत्ररूप में किया है, परन्तु उनके द्वारा किया हुआ विषय-प्रतिपादन संक्षिप्त होते हुए भी इतना पूर्ण है कि 'गीत', 'वाद्य' एवं 'नृत्य' इत्यादि के सम्बन्ध में विचार करनेवाले पश्चाद्वर्ती प्रत्येक आचार्य ने महर्षि भरत के वचनों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।

'गीत', 'वाद्य' एवं 'नृत्य' ही क्यों, नाटचविद्या से सम्बद्ध किसी भी विषय में महर्षि भरत की सम्मति प्रमाण मानी जाती है। व्याकरण के क्षेत्र में जिस प्रकार पाणिनि, कात्यायन या पतञ्जलि 'मुनि' कहलाते हैं,[८] उसी प्रकार भरत भी नाटच एवं तत्सम्बन्धी क्षेत्रों में 'मुनि' कहे जाते हैं। यही नहीं, इन क्षेत्रों में 'मुनि' शब्द भरत का पर्यायवाची माना जाता है।[९]

जिस प्रकार श्री शङ्कर एवं श्री रामानुज-जैसे आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) को प्रमाण मानकर अपने-अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार नाटच एवं तत्सम्बद्ध विषयों पर विचार करते समय विभिन्नमार्गीय आचार्यों ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए महर्षि भरत के वचनों का आश्रय लिया है।

'भरतनाटचशास्त्र' पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं[१०], परन्तु वे मिलती नहीं।

६—यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः॥

—भरत०, ब० सं०, अध्याय ५, पृ० ६८

७—ध्रुवासंज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः।
गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः॥
या ऋचः पाणिका गाथा स्सप्तरूपाङ्गमेव च।
सप्तरूपप्रमाणं च तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम्॥

—भरत०, ब० सं०, अध्याय ३२, पृ० ५३२

८—मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते॥ —सिद्धान्तकौमुदी मङ्गलाचरण

९—तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी।

—भरतनाटचशास्त्र, ब० सं० की भूमिका में सम्पादक द्वारा उद्धृत 'अभिनवभारती' का वाक्य

१०—व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः। भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरः परः॥ —आचार्य्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १३

श्री अभिनवगुप्ताचार्य के द्वारा की हुई व्याख्या उपलब्ध तो है, परन्तु उसका कुछ अंश अमुद्रित होने के कारण सर्वजनसुलभ नहीं। तथापि भरत के रससम्बन्धी सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' पर मीमांसक आचार्य्य भट्ट लोल्लट, नैयायिक आचार्य्य शङ्कुक, सांख्यवादी आचार्य्य भट्ट नायक एवं आलङ्कारिक आचार्य्य श्री अभिनवगुप्ताचार्य्य की व्याख्याओं से, 'रस' का विचार करनेवाले सज्जन सर्वथा परिचित हैं।[११]

शताब्दियों की पराधीनता एवं तज्जन्य दुष्प्रभावों के कारण हमारी अनेक विद्याओं एवं कलाओं का पतन हुआ और वे परम्पराएँ नष्ट हो गयीं, जो श्री अभिनवगुप्ताचार्य्य-जैसी महाविभूतियों को जन्म देती थीं, फलतः अनेक प्राचीन ग्रन्थ हमारे लिए दुर्बोध हो गये।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए दृष्टि में निर्मलता, हृदय में सौम्यता तथा प्रत्येक प्रकार के संयम की आवश्यकता होती है।[१२] शुद्ध, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचारी एवं निर्द्वेष व्यक्ति विद्या का पात्र होता है।[१३] विज्ञान के प्रति अविज्ञाता की असूया होती है,[१४] वह स्वयं समझ तो सकता नहीं और अपना दोष आचार्य्य पर डालता है और कहता है

११—इदं हि भरतसूत्रं तट्टीकाकृद्भिर्भट्टलोल्लट-श्रीशङ्कुक-भट्टनायकाभिनवगुप्तपादैश्चतुर्भिः क्रमेण मीमांसान्यायसांख्यालङ्कारमतरीत्या चतुर्धा व्याख्यातम्।
—आचार्य्य वामन, 'काव्यप्रकाश'—टीका

१२—विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम्।......

अर्थात्—विद्या ने ब्राह्मण से आकर कहा—तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ। ईर्ष्यालु, कुटिल, असंयत व्यक्ति को मेरा उपदेश न कर, (तब) मैं बलशालिनी होऊँगी।" —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण।

१३—यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।

अर्थात्—जिसे तू शुद्ध, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्य्ययुक्त देखे, जो तुझसे द्रोह न करे, हर किसी (अपात्र) के हाथ में मुझे देता न फिरे, ऐसे निधिरक्षक को मेरा उपदेश कर। —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

१४—नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

कि आचार्य्य स्वयं तो समझता नहीं, मुझे क्या समझायेगा।[१५] इसी लिए शास्त्र में उस व्यक्ति को विद्यादान के लिए सुपात्र नहीं माना गया, जो श्रद्धापूर्वक आचार्य्य के चरणों में बैठकर विद्याग्रहण के लिए सचेष्ट न हो।[१६]

अस्तु, आज महर्षि भरत-जैसे 'आप्त' महात्मा के सङ्गीतसम्बन्धी वाक्यों को समझने के लिए 'श्रद्धा' की और भी आवश्यकता है।

हमारे विचार का विषय वह सङ्गीत है, जिसकी उत्पत्ति का आधार तो अवश्य 'वेद' है, परन्तु जो लौकिक विनोद का साधन भी है। अतएव यज्ञ-यागादिक में प्रयोज्य स्वरों और उनके प्रयोगों पर विचार न करके हम अपने आपको भरत मुनि के उस 'तौर्यत्रिक' तक सीमित रखेंगे, जिसका प्रयोजन जनमनोरञ्जन है।

इस तौर्यत्रिक का फल 'अदृष्ट' भी है, यह पारलौकिक कल्याण का भी साधन है, परन्तु यह उस 'नाटच' का अङ्ग है, जिसकी उत्पत्ति ही 'क्रीडनीयक' के रूप में हुई है,[१७] भले ही उसे पञ्चम वेद की संज्ञा दी गयी हो।[१८]

भगवान् ब्रह्मा ने नाटच के लिए 'पाठच' ऋग्वेद से, 'गीत' सामवेद से, 'अभिनय' (नृत्यसहित) यजुर्वेद से तथा 'रस' अथर्ववेद से लिये।[१९]

भगवान् ब्रह्मा के अनुसार नाटच में कहीं 'धर्म' तो कहीं 'क्रीडा', कहीं 'अर्थ' (धन) तो कहीं 'शान्ति', कहीं 'हास्य' तो कहीं 'युद्ध' और कहीं 'काम' तो कहीं 'वध' है।[२०]

इसमें धर्मात्माओं के लिए धर्म्म, कामरूपी लक्ष्य की सिद्धि करनेवालों के लिए काम, दुर्विनीतों के लिए निग्रह, प्रमत्तों का दमन, नपुंसकों की धृष्टता को बढ़ावा, अपने आपको शूर समझनेवालों के लिए उत्साह, अबोध व्यक्तियों के लिए ज्ञान, विद्वानों के

१५—स ह्यनवबुध्यमान आत्मीयं दोषमाचार्य्य एवावसृजति—स्वयमेव तावदयं न बुध्यते, किमस्मान् बोधयिष्यति।
—दुर्गाचार्य्य, निरुक्त के पूर्वोक्त वाक्य पर टीका

१६—नानुपसन्नाय। —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

१७—महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्॥ —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० २

१८—नाटचाख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्। —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० २

१९—जग्राह पाठचमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
—भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० २

२०—क्वचिद् धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः। क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः॥ —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० ११

लिए विदग्धता, ऐश्वर्य्यशाली व्यक्तियों के लिए विलास, दुःखी के लिए धैर्य्य, धन कमानेवालों के लिए धन और उद्विग्नचित्त व्यक्तियों के लिए सान्त्वना है।[२१]

दुःखी, शोकार्त, श्रान्त एवं तपस्वी (वेचारे) व्यक्तियों को विश्रान्ति देने के लिए भगवान् ब्रह्मा ने नाटच की सृष्टि की।[२२] सुख-दुःख से युक्त लोक का स्वभाव ही आङ्गिक, वाचिक इत्यादि अभिनयों से युक्त होने पर नाटच कहलाता है।[२३]

'गीत' नाटच का अङ्ग ही नहीं, प्राण है,[२४] अतः उसका प्रयोजन नाटच से भिन्न नहीं, 'वाद्य' एवं 'नृत्य' गीत के उपरञ्जक एवं उत्कर्षविधायकमात्र हैं,[२५] अतः तौर्य्यत्रिक (गीत, वाद्य और नृत्य) के अदृष्ट फल में पूर्णतया विश्वास करते हुए भी हमारा दृष्टि-कोण प्रधानतया लौकिक रहेगा।

ग्राम, स्वर, श्रुति

'ग्राम' शब्द समूहवाची है, जिस प्रकार कुटुम्ब में लोग मिल जुलकर मर्यादा की रक्षा करते हुए इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकारसंव ादी स्वरों का वह समूह ग्राम है, जिसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलंकार इत्यादि का आश्रय हो।[२६] ग्राम तीन हैं, षड्ज-ग्राम, मध्यम-ग्राम और गान्धार-ग्राम।

२१–धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्। निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमन-क्रिया॥ क्लीबानां धार्ष्टचजननमुत्साहः शूरमानिनाम्। अबोधानां निबोधश्च वैदग्ध्यं विदुषामपि॥ ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्य्यं दुःखार्दितस्य च। अर्थोप-जीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्॥ —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० ११

२२–दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रान्तिजननं काले नाटच-मेतद् भविष्यति॥ —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० १२

२३–योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतोनाटच मित्यभि-धीयते॥ —भरत०, ब० सं०, अ० १, पृ० १२

२४–प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य।
—आचार्य्य अभिनव०, अभिनवभारती, वड़ोदा-संस्करण, तृतीय खण्ड, पृ० ३८६

२५–नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च।
—आचार्य्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १५

२६–समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ। यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूय वसन्ति हि। सर्वलोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितः। षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० १८९

महर्षि भरत ने 'षड्ज-ग्राम' और 'मध्यम-ग्राम' का वर्णन किया है।[२७] वैस्वर्य, अतितारत्व एवं अतिमन्द्रत्व के कारण 'गान्धारग्राम' महर्षि भरत के द्वारा चर्चा का विषय नहीं बना है।[२८] कुछ आचार्य्यों ने गान्धारग्राम और तज्जन्य रागों का वर्णन करके लौकिक विनोद के लिए भी उनके प्रयोग का विधान किया है,[२९] परन्तु अन्य आचार्यों ने लौकिक विनोद के लिए ग्रामजन्य रागों का प्रयोग निषिद्ध बताया है।[३०] नारद की सम्मति में गान्धारग्राम का प्रयोग स्वर्ग में ही होता है।[३१]

महर्षि भरत के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषादवान् सात स्वर हैं।[३२]

श्रुतियाँ बाईस हैं।[३३] (षड्ज के पश्चात् से तार षड्ज तक) सप्तक में श्रुतियों का क्रम तीन, दो, चार, चार, तीन, दो, चार है।[३४] षड्जग्राम में षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ

व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र संवादिनः स्वराः। मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति संज्ञितः॥

—महाराज कुम्भ, भ० को०, पृ० १८९

२७–स्वरा ग्रामौ मूर्च्छनाश्च... —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३१

२८–द्वौ ग्रामौ भरतेनोक्तौ ग्रामो गान्धारपूर्वकः। अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्य्यान्नोपदर्शितः॥ —आचार्य्य अभिनवगुप्त, भ० को०, पृ० १८९

२९–नारदेन तदनुसारिणा नान्यदेवेन (च) गान्धारग्रामजातरागा उपदिष्टाः, नारदेन यज्ञोपयोगिनः। नान्यदेवेन लौकिकविनोदे च ते प्रयोज्यन्ते।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

लक्ष्मीनारायणाख्योऽयं सङ्गीताम्भोधिपारगः। गान्धारमूर्च्छनाग्रामं व्यवहारक्षमं यथा। करोति लक्ष्ययोगेन पूर्वलक्षणयोगतः॥

—लक्ष्मीनारायण, भ० को०, भूमिका, पृ० ११

३०–ते लौकिकविनोदेष्वप्रशस्ता इति सोमेश्वरेणोक्तम्।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

३१–गान्धारग्रामस्य केवलं स्वर्गे प्रयुक्तत्वं नारदेनाभिहितम्।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

३२–षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमश्च निषादवान्॥ —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३२

३३–तत्र वा द्वाविंशतिश्रुतयः। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

३४–तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च। द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम्। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

त्रिश्रुति, गान्धार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पञ्चम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति, निषाद द्विश्रुति होता है।[३५]

मध्यम-ग्राम में पञ्चम तीन श्रुति का रह जाता है और उसकी षड्जग्रामीय अन्तिम श्रुति को ग्रहण कर लेने के कारण धैवत चतुःश्रुतिक हो जाता है, अर्थात् मध्यमग्राम में मध्यम चतुःश्रुति, पञ्चम त्रिश्रुति, धैवत चतुःश्रुति, निषाद द्विश्रुति, षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति एवं गान्धार द्विश्रुति रहता है।[३६]

निषाद जब दो श्रुतियाँ चढ़ जाता है, तब 'काकली' निषाद और गान्धार जब दो श्रुति चढ़ जाता है, तब 'अन्तर गान्धार' कहलाता है। षड्ज की दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लेने पर भी निषाद 'षड्ज' नहीं कहलाता, इसी प्रकार मध्यम की दो श्रुतियाँ ले लेने पर भी गान्धार की संज्ञा 'मध्यम' नहीं होती।[३७]

जिन दो स्वरों में नौ अथवा तेरह श्रुतियों का अन्तर हो, वे परस्पर संवादी हैं। जैसे, षड्जग्राम में 'षड्ज-पञ्चम', 'ऋषभ-धैवत', 'गान्धार-निषाद' और 'षड्ज-मध्यम' परस्पर संवादी हैं। मध्यम-ग्राम में 'षड्ज-पञ्चम' का परस्पर संवाद नहीं रहता, अपितु 'ऋषभ-पञ्चम' परस्पर संवादी हो जाते हैं। वहाँ अन्य संवाद षड्ज-ग्राम-जैसे ही रहते हैं।[३८]

मंडल-प्रस्तारों में षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम

निम्ननिर्दिष्ट मण्डल-प्रस्तारों में दोनों ग्रामों और उनमें स्थित स्वरों की स्थिति स्पष्ट है —

३५—षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तथा। द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः॥ चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्याद् धैवतस्त्रिश्रुतिस्तथा। निषादो द्विश्रुतिश्चैव षड्जग्रामे भवन्ति हि॥ —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३४

३६—चतुःश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यमः पञ्चमः पुनः। त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव हि॥ निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसम्भवौ। ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्याद् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा॥ —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३४

३७—तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षणान्निषादवान् काकलीसंज्ञो निषादः, न षड्जः। द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात्। साधारणं प्रतिपद्यते। एवं गान्धारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञो न मध्यमः। तयोरन्तरस्वरत्वात्। —भरत०, ब० सं०, अध्याय २८, पृ० ४३७।

३८—ययोश्च नवत्रयोदशकं परस्परतः श्रुत्यन्तरे (रं?) तावन्योन्यसंवादिनौ। यथा षड्ज-पञ्चमौ, ऋषभ-धैवतौ, गान्धार-निषादौ, षड्ज-मध्यमाविति षड्जग्रामे।

मण्डल-प्रस्तार (१)

षड्ज-ग्राम

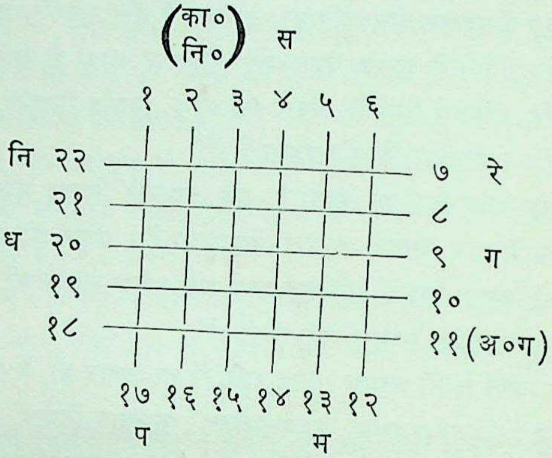

मण्डल-प्रस्तार (२)

मध्यम-ग्राम

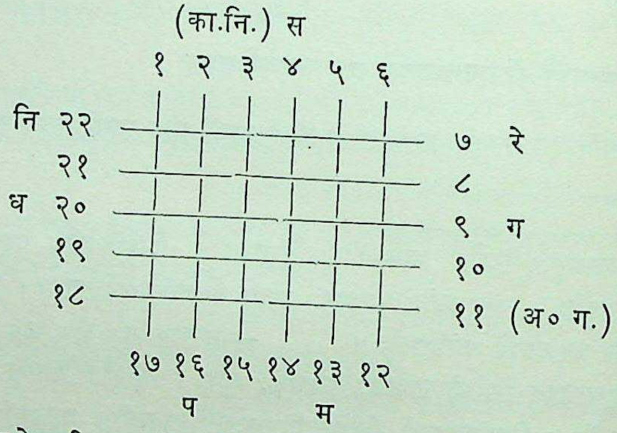

प्रस्तारों में एक से बाईस तक अंक श्रुतियों के बोधक हैं । दोनों में केवल एक अन्तर

मध्यमग्रामेऽप्येवमेव षड्जपञ्चमवर्जं पञ्चमर्षभयोश्चात्रं संवाद इति । अत्र श्लोकः—

संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च ।
षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च ।।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३२

है। षड्जग्राम में 'पञ्चम' सत्रहवीं श्रुति पर और मध्यमग्राम में सोलहवीं श्रुति पर स्थित है। इस स्थितिभेद से दो परिणाम हुए हैं —

(अ) षड्ज-ग्राम में षड्ज-पञ्चम का पारस्परिक त्रयोदश श्रुत्यन्तर (४+१३= १७, तेरह श्रुतियों का अन्तर), जो षड्ज-ग्राम में षड्ज-पञ्चम के पारस्परिक संवाद का कारण था, मध्यमग्राम में द्वादश श्रुत्यन्तर (४+१२=१६) रह गया है, क्योंकि मध्यमग्राम में पञ्चम सोलहवीं श्रुति पर स्थित है। फलतः मध्यम-ग्राम में षड्ज-पञ्चम में संवाद नहीं रहा है।

(आ) ऋषभ-पंचम परस्पर दस श्रुतियों के अन्तर (७+१०=१७) के कारण षड्ज-ग्राम में एक दूसरे से संवाद नहीं करते थे, परन्तु मध्यमग्राम में पञ्चम के सोलहवीं श्रुति पर उतर आने से ऋषभ-पञ्चम में नौ श्रुतियों का अन्तर (७+९=१६) रह जाने के कारण परस्पर संवाद हो गया है।

जो संवादी स्वर महर्षि भरत ने गिनाये हैं, उनके अतिरिक्त भी कुछ संवाद स्वरों में विद्यमान हैं। जैसे, 'म-नि', 'अन्तर-गान्धार-धैवत', 'प-स' और 'काकली-निषाद-अन्तर-गान्धार' में भी नव श्रुत्यन्तर होने के कारण परस्पर संवाद है। इसी प्रकार 'म-स' एवं 'अन्तर-गान्धार-काकली-निषाद' में भी तेरह श्रुतियों का अन्तर होने के कारण संवाद है।[३९] आधुनिक तीव्र गान्धार ही प्राचीन 'अन्तर-गान्धार' है, जो षड्ज से सात श्रुति दूर है।

३९—यद्यपि जिन दो स्वरों में महर्षि भरत ने उदाहरणस्वरूप संवाद बताया है, उनकी श्रुतिसंख्या समान है, तथापि परस्पर संवादी स्वरों में समानश्रुतिकता का अनिवार्य बन्धन महर्षि भरत ने संवादसम्बन्धी नियम में नहीं लगाया है।

मतङ्ग का कथन है—संवादिनस्तु पुनः समश्रुतिकत्वे सति त्रयोदशनवान्तरे वा अन्योन्यं बोद्धव्याः। (सं० र०, अ० सं०, स्वरा०पृ० ९४ पर सिंहभूपाल द्वारा उद्धृत) अर्थात् —समश्रुतिक होने पर जिन दो स्वरों में नौ अथवा तेरह श्रुतियों का अन्तर हो, उन्हें परस्पर संवादी जानना चाहिए।

मतङ्ग का यह मत प्रत्यक्षविरोधी होने के कारण पश्चाद्वर्ती आचार्य्यों को मान्य नहीं हुआ, क्योंकि चतुःश्रुतिक मध्यम और द्विश्रुतिक निषाद में संवाद प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार चतुःश्रुतिक अन्तरगान्धार और त्रिश्रुतिक धैवत में भी परस्पर प्रत्यक्ष संवाद है।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने भी इस सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख किया है। उनका कथन है —

एक बात और दर्शनीय है। षड्ज-अन्तर गान्धार, मध्यम-धैवत, गान्धार-मध्यम-ग्रामीय पञ्चम एवं पञ्चम-काकली-निषाद में सात श्रुतियों का अन्तर है।

इसी प्रकार 'नि-स', 'ग-म', 'म-प', 'त्रिश्रुतिक प-ध' में चार श्रुतियों का अन्तर है।

षड्जग्राम की सिद्धि

यदि हम एक ऐसा तानपूरा लें, जिसकी डाँड बीच से उठी न होकर सपाट हो, अटक भी सपाट हो और इस तानपूरे में नौ खूँटियाँ लगाकर नौ तार चढ़ा लें, तो इन नौ तारों के कारण इसे 'नवतन्त्री वीणा' कहा जा सकता है। भले ही इसकी सम्पूर्ण आकृति पुरातन नवतन्त्री वीणा-जैसी नहीं है।

इस वीणा पर एक-जैसी मोटाई और लम्बाई के नौ तार चढ़ाकर सुगमतापूर्वक महर्षि भरत का 'षड्ज ग्राम' प्राप्त किया जा सकता है। विधि निम्नोक्त है —

(क) प्रथम तार को उसकी मन्द्रतम रञ्जक ध्वनि में मिला लिया जाय। यह 'षड्ज' है।

(ख) पाँचवाँ तार 'मध्यम' और छठा तार 'पञ्चम' में मिला लिया जाय।

मिथः संवादिनौ तौ स्तो निगावन्यविवादिनौ। रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि ॥ —सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० ९२

अर्थात् (१) निषाद-गान्धार परस्पर संवादी परंतु और स्वरों के विवादी होते हैं। (२) अथवा केवल ऋषभ और धैवत के विवादी होते हैं और ऋषभ-धैवत इन निषाद-गान्धार के विवादी होते हैं।

यहाँ आचार्य्य कल्लिनाथ का कथन है —

ननु निगयोरितरान्पञ्चापि स्वरान्प्रति विवादित्वमुक्तम्, तदनुपपन्नम्, शुद्धयोर्मध्यम-निषादयोः परस्परं संवादित्वदर्शनादित्यपरितोषेण पक्षान्तरमाह— रिधयोरेव वेति। प्रथममन्यविवादिनावित्यविशेषेण कथनं तु समश्रुतिकयोरेव संवाद इति मतानुसारेण। —सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० ९२

अर्थात्—'निषाद-गान्धार' को अन्य पाँचों स्वरों का विवादी बताया जाना अनुचित है, क्योंकि शुद्ध मध्यम और निषाद में परस्पर संवादित्व दिखाई देता है, इसी अपरितोष को समाप्त करने के लिए आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने इस दूसरे मत का उल्लेख किया है, जिसमें 'गान्धार-निषाद' को केवल ऋषभ-धैवत का विवादी बताया गया है। प्रथम मत का उल्लेख उन्होंने समश्रुति स्वरों को ही परस्पर संवादी माननेवालों की दृष्टि से किया है।

(ग) पाँचवें तार को थोड़ी देर के लिए 'षड्ज' मानकर आठवाँ तार इस नवीन षड्ज के मध्यम में मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर स्थापित षड्ज की अपेक्षा भरतोक्त निषाद है।

(घ) आठवें तार को थोड़ी देर के लिए 'षड्ज' मानकर तीसरे तार पर इस नवीन षड्ज का 'मन्द्र मध्यम' मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा महर्षि भरत का गान्धार है।

(ङ) चौथा तार वहाँ मिला लिया जाय, जहाँ प्रथम तार पर बोलनेवाले 'षड्ज' का तीव्र गान्धार बोलता हो। यह महर्षि भरत का अन्तर गान्धार है।

(च) चौथे तार को 'षड्ज' मानकर सातवाँ तार उसके 'मध्यम' और नवाँ तार 'पञ्चम' में मिला लिया जाय। ये दोनों स्वर प्रथम तार पर बोलनेवाले 'षड्ज' की अपेक्षा भरतोक्त 'धैवत' और 'काकली-निषाद' हैं।

(छ) सातवें तार को षड्ज मानकर दूसरा तार उसके 'मन्द्र मध्यम' में मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा भरतोक्त ऋषभ है।

इन तारों को क्रमशः छेड़ने पर आपको षड्ज, ऋषभ, भरतोक्त शुद्धगान्धार, अन्तर-गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकली निषाद सुनाई देंगे।

नवतन्त्री वीणा पर स्वरों के ये स्थान प्राचीन हैं,[४०] जिनकी उपलब्धि का प्रकार तर्कसङ्गत एवं वैज्ञानिक रूप में ऊपर दिखाया गया है। यह सब क्रिया वीणा-प्रस्तार में निर्दिष्ट है—(दे० ब्लाक, पृष्ठ १२ के ऊपर)

मध्यमग्राम

यदि आप नवतन्त्री पर मध्यमग्राम सुनना चाहते हैं, तो इसी अवस्था में आप नवतन्त्री का पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ तार छेड़िए, आपको क्रमशः मध्यम, त्रिश्रुतिक पञ्चम, धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ और गान्धार मिल जायँगे।

नवतन्त्री वीणा को षड्जग्राम में मिला लेने पर षड्जग्राम के षड्ज, ऋषभ, अन्तर-गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ही क्रमशः मध्यमग्राम के मध्यम, पञ्चम,

---

४०–विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वरास्सप्त तथापरौ। काकल्यन्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावितयमानि च॥ —महाराज नान्यदेव, भ० को०, पृ० ६२८

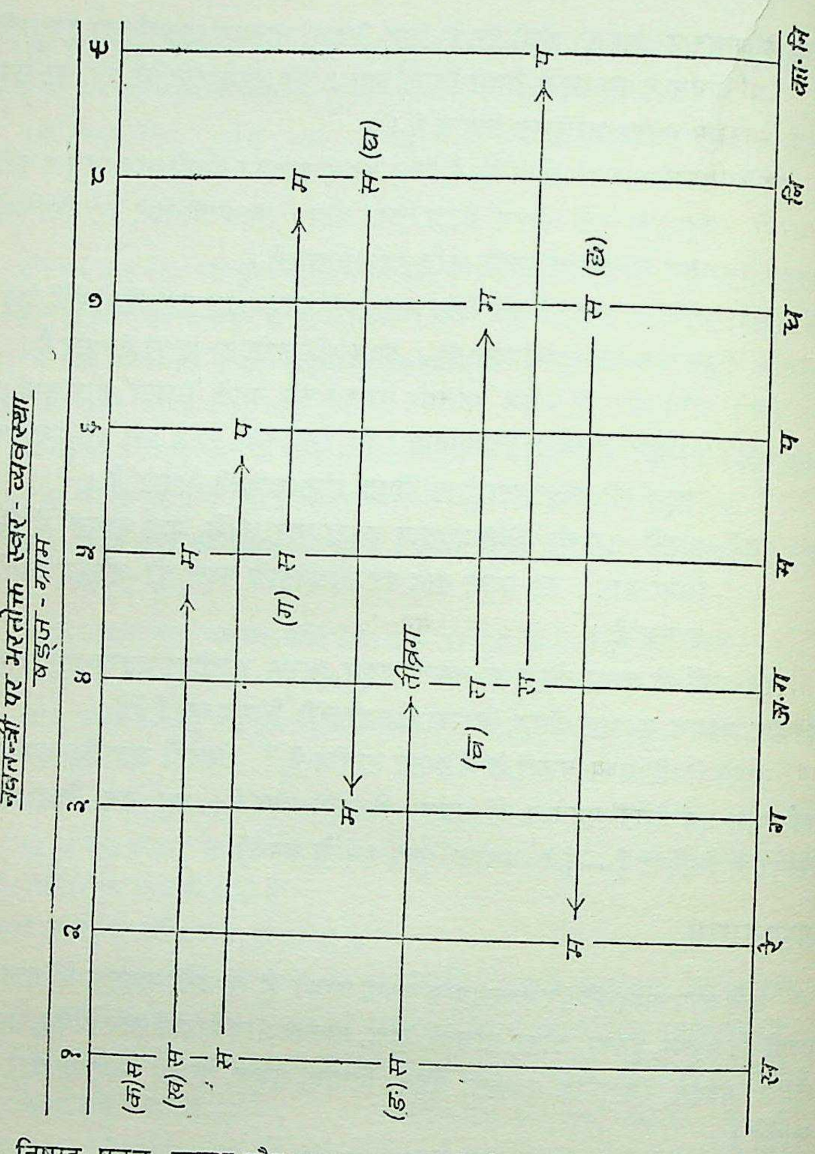

धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ और गान्धार बन जाते हैं।[४१] 'स-म', 'रे-त्रिश्रुतिक प', 'अन्तरगान्धार–ध', 'म-नि', 'प-स', 'ध-रे', 'नि-ग' का वह पारस्परिक संवाद, जो नौ

४१–द्विश्रुतिप्रकर्षाद् धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यतरत्वम्। तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादिमत्त्वं प्रतिपद्यन्ते।

—भरत०, ब० सं०, (का० सं०) अ० २८, पृ० ४३५

श्रुतियों के अन्तर पर आधारित है, सिद्ध हो जाता है। एक जोड़े में दिये हुए स्वर एक दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकने के कारण भी परस्पर संवादी हैं।[४२]

दो स्वरों में संवाद का कारण होने पर नौ श्रुतियों का अन्तर 'षड्ज-मध्यम-भाव' एवं तेरह श्रुतियों का अन्तर 'षड्ज-पञ्चम-भाव' कहलाता है। षड्ज और अन्तर-गान्धार में पाये जानेवाले सात श्रुतियों के अन्तर को हम 'षड्जान्तर-भाव' कहेंगे।

नवतन्त्री वीणा पर स्वरों की सारणा में हमने 'अन्तर-गान्धार' की सिद्धि षड्जान्तर-भाव, पञ्चम और काकली-निषाद की सिद्धि षड्ज-पञ्चम-भाव एवं अन्य सभी स्वरों की सिद्धि षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर की है। हमने महर्षि भरत के द्वारा बतायी हुई स्वरों की श्रुतिसंख्या के आधार पर स्वरों के रूप प्राप्त किये हैं। ग्रामस्थित स्वरों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक स्वर की श्रुतियों की संख्या जानना ही पर्याप्त है, श्रुतियों के परिमाण और उनके क्रम का ज्ञान 'ग्राम-ज्ञान' का 'परिणाम' होता है 'कारण' नहीं। महर्षि भरत ने श्रुतियों की सारणा का अधिकारी वह व्यक्ति माना है, जो दोनों ग्रामों के स्वरूप से परिचित हो।[४३]

यदि आप नवतन्त्री पर दो सप्तक सुनना चाहते हैं, तो मेरु (अटक) और घुड़च (घोड़ी) के बीच में डाँड पर एक बिलकुल सपाट पर्दा इस प्रकार बाँधिए कि तार उससे निकटतम स्थिति में रहें, परन्तु स्वयं पर्दे से छू न जायँ। इस पर्दे पर दबाकर तारों को जब छेड़ा जायगा, मध्य सप्तक सुनाई देगा।

यदि तार-सप्तक सुनने की भी इच्छा हो, तो मध्य-सप्तकवाले पर्दे और घुड़च के ठीक मध्य में एक पर्दा और बाँध दीजिए और इस पर तार-सप्तक सुन लीजिए।

गान्धारं धैवतीकुर्याद् द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् यदि ।
तद्वशाद् मध्यमादींश्च निषादादीन् यथास्थितान् ॥
ततो ऽ भूद्यावतिथ्येषा षड्जग्रामस्य मूर्च्छना ।
जायते तावतिथ्येषा मध्यमग्राममूर्च्छना ॥

—दत्तिल, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, सिंह० पृ० १०९

४२—यथा हि मध्यमग्रामे मन्योश्चरिधयोस्तथा ।
विषमश्रुतिकत्वेऽपि मिथः संवादनं मतम् ॥

—महाराज कुम्भ, भ० को०, पृ० ७६५

४३—द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने षड्जग्रामाश्रिते कार्य्ये ।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

सितार पर षाड्जग्रामिक सप्तक

सितार या वीणा पर आजकल जिस क्रम के अनुसार पर्दे बँधे हुए हैं, **वह क्रम कुछ बहुत अधिक प्राचीन नहीं,** तथापि सुविधा के लिए हम इस क्रम के अनुसार ही यहाँ षड्जग्राम की सिद्धि देखेंगे। पर्दों के प्राचीन क्रम के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जायगा।

(अ) किसी सितार पर केवल बाज का तार रहने दें, पर्दे सब हटा दें। बाज के तार को इतना खींचें कि वह कर्णमधुर ध्वनि में कहीं भी बोलने लगे। **यह ध्वनि मन्द्र मध्यम** है।

(आ) अटक और घुड़च के ठीक बीचोबीच एक पर्दा इस प्रकार बाँधें कि उस पर **मध्य मध्यम** बोलने लगे।

(इ) मुक्त तार अर्थात् केवल मेरु के सहारे बोलनेवाले तार की ध्वनि को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ इस नवीन षड्ज का 'पञ्चम' बोलता हो। यह ध्वनि **मध्य सप्तक का 'षड्ज'** है।

(ई) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ **मध्य सप्तक के षड्ज का पञ्चम** बोलता हो।

(उ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ मध्य सप्तक के मध्यम को 'षड्ज' मानने से उसका 'मध्यम' बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का निषाद** है।

(ऊ) मध्य सप्तक के निषाद को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा अटक की ओर वहाँ बाँधें, जहाँ इस नवीन 'षड्ज' का अवरोहगतिक मध्यम बोलता हो। यह **मध्यम मध्य सप्तक का 'गान्धार'** है।

(ए) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ मध्य सप्तक के षड्ज की अपेक्षा तीव्र गान्धार बोले। यह मध्य सप्तक का भरतोक्त **अन्तर गान्धार** है।

(ऐ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ 'अन्तर गान्धार' को षड्ज मानने पर इस नवीन षड्ज का 'मध्यम' बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का धैवत** है। मध्य सप्तक के मध्यम को षड्ज मानने पर यह धैवत उसका अन्तर गान्धार होगा।

(ओ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ 'अन्तर गान्धार' को षड्ज मानने पर इस नवीन षड्ज का पञ्चम बोलता है। यह **मध्य सप्तक का तीव्र या काकली निषाद** है।

(औ) धैवत के पर्दे को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा अटक की ओर वहाँ बाँधिए, जहाँ इस नवीन षड्ज का अवरोहगतिक मध्यम बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का भरतोक्त ऋषभ** है।

निम्नलिखित प्रस्तार में पूर्वोक्त क्रिया स्पष्ट है —

सितार पर षड्ज-ग्राम

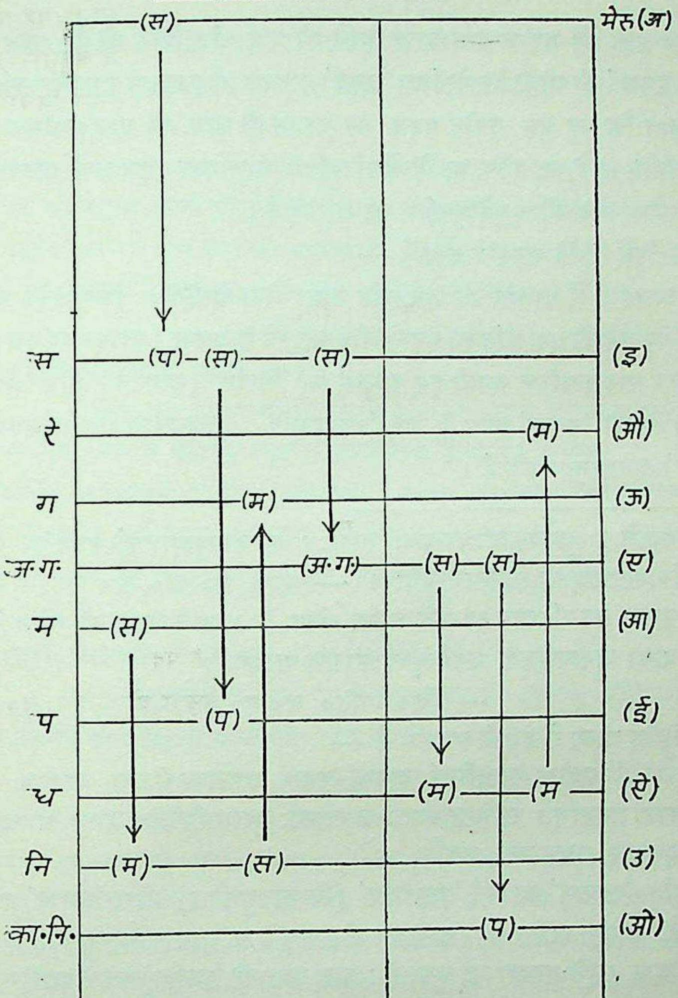

मन्द्र एवं तार स्थानों के पर्दे इन्हीं स्वरों के सहारे बाँधे जा सकते हैं।

नवतन्त्री के तारों की भाँति सितार के इन पर्दों पर 'मध्यम-ग्राम' प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् 'स, रे, अन्तर ग, म, प, ध, नि' के पर्दों पर ही मध्यमग्रामीय 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' की उपलब्धि हो सकती है।

'श्रुति-निदर्शन' या 'श्रुतिदर्शन-विधान'

षड्ज-ग्राम से मध्यम-ग्राम प्राप्त करने की एक और विधि भी है। यदि षड्ज-ग्रामीय 'ऋषभ' को थोड़ी देर के लिए 'षड्ज' मानकर षड्जग्रामीय पञ्चम को इतना उतारा जाय कि वह इस नवीन षड्ज का मध्यम हो जाय, तो षाड्जग्रामिक सप्तक मध्यम-ग्रामीय स, रे, ग, म, प, ध, नि में परिवर्तित हो जायगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि यह मध्यम-ग्राम की चतुर्थ मूर्च्छना का आरोह है।

इसी लिए महर्षि भरत ने कहा है —

"मध्यमग्राम में पञ्चम को एक श्रुति उतार देना चाहिए। (इस उतरे माध्यम-ग्रामिक) पञ्चम की एक श्रुति को चढ़ाने और उतारने से अथवा (माध्यमग्रामिक पञ्चम को चढ़ाकर षाड्जग्रामिक बनाये हुए पञ्चम के) 'मार्दव' (उतारने) और 'आयतत्व' (चढ़ाने) से जो 'अन्तर' होता है, वह 'प्रमाणश्रुति' (षड्जग्राम एवं मध्यमग्राम के अन्तर में) प्रमाणभूत श्रुति है।"[४४]

४४–षड्जग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्य्यः। पञ्चमश्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवायतत्वाद् वा तत्प्रमाणश्रुतिः। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

'आयतत्व' का परिणाम स्वर का चढ़ना होता है। प्रातिशाख्य का कथन है —

'आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य।'

—तैत्ति० प्राति०, म० यु० सं०, अध्या० २२, पृ० १७८

माहिषेय भाष्य में इसकी व्याख्या है —

"आयामः प्रसारित्वं दारुण्यं दृढत्वं तस्माच्छरीरस्य आयामः कार्य्यः अङ्गानां दृढत्वम्। खमिति कण्ठः स चोक्तः पुरस्तादिति। तस्य च कार्श्यम्। एवंयुक्तस्य उच्चशब्दो भवति...।"

अर्थात्–'आयाम' का अर्थ 'प्रसारित्व' (विस्तारयुक्तता) और 'दारुण्य' का अर्थ 'दृढत्व' है, अतएव शरीर का 'आयाम' और अङ्गों का दृढत्व करना चाहिए। 'ख' का अर्थ 'कण्ठ' पहले बताया जा चुका है। उस कण्ठ की 'कृशता' करनी चाहिए। इस अवस्था से युक्त व्यक्ति का शब्द ऊँचा होता है।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का पूर्वोक्त सूत्र उद्धृत करके उसका अर्थ किया है —

" 'आयामो' गात्राणां निग्रहः, 'दारुण्यं' स्वरस्य दारुणता रूक्षता, 'अणुता खस्य' कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य।"

—महाभाष्य, नि० सा० सं० १९३५ ई०, द्वितीय खण्ड, पृ० २६

चतुःसारणाएँ

सारणाएँ करने के लिए हम दो वीणाएँ लें, जो सर्वथा एक-जैसी हों, अर्थात् उनके तार एक-जैसे हों, षाड्जग्रामिक सप्तक उनमें समानध्वनिक रूप में मिला हो, दोनों को

अर्थात्——आयाम=गात्रों का निग्रह, दारुण्य=स्वर की दारुणता, अर्थात् रूक्षता, 'ख' की अणुता=कण्ठ की संवृतता (सिकुड़ना) स्वर को ऊँचा करनेवाले हैं।

'मार्दव' का परिणाम स्वर का उतरना है। प्रातिशाख्य का कथन है —

"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।"

—तैत्ति० प्राति०, म० यु० सं०, अध्याय २२, पृ० १७८

माहिषेय भाष्य में इसकी व्याख्या है —

"अन्ववसर्गः संहारः मार्दवं प्रस्रंसनम् उरुता तस्मात् शरीरस्य संहारः कार्य्यः। अङ्गानां प्रस्रंसनं कण्ठस्य स्थूलता एवंयुक्तस्य नीचशब्द उत्पद्यते।"

अर्थात्—अन्ववसर्ग=संहार (शिथिलता), मार्दव=प्रस्रंसन (ढ़ीला छोड़ना)। अतः शरीर (अङ्गों) का संहार (संहरण, शिथिलता) करना चाहिए। अङ्गों को ढीला छोड़ने एवं कण्ठ की स्थूलता (विवृतता, विस्तार) से युक्त (व्यक्ति) का नीचा शब्द उत्पन्न होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस सूत्र की व्याख्या निम्नलिखित की है—

"अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।"

—महाभाष्य, पूर्वोक्त सं०, द्वितीय खण्ड, पृ० २६

अर्थात्—अन्ववसर्ग=गात्रों की शिथिलता, मार्दव=स्वर की मृदुता या स्निग्धता, 'ख' की उरुता=कण्ठ की महत्ता (विस्तार, विवृतता) शब्द को नीचा करनेवाले हैं।

शरीर या गात्रवीणा में हृदय, कण्ठ एवं मूर्धा में उत्पन्न होनेवाले स्वर क्रमशः उच्चतर होते हैं। मन्द्र, मध्य, तार स्थानों के उत्पादक हृदय, कण्ठ एवं मूर्धा भी शरीर में क्रमशः ऊँचे हैं, परन्तु दारवी वीणा में स्थिति विपरीत है। मेरु से नीचे की ओर जितना जायँगे, स्वरों में उतनी ही उच्चता आती जायगी। दारवी वीणा की इसी स्थिति को समक्ष रखते हुए नाटचशास्त्र में कहा गया है —

आयतत्वं तु चेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्य्यये।
स्वस्वरे मध्यमत्वं च श्रुतीनामेष निर्णयः॥

—भरत०, ब० सं०, अ० २९, पृ० ४५८

अर्थात्—(अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा) नीचे की स्थिति में श्रुति का आय-

छेड़ने का 'कोण' भी एक-जैसा हो। मूर्च्छना भी एक-जैसी हो।[४५] वादन के समय तारों पर आघात भी एक-जैसा हो। सारणा एक ही व्यक्ति करे, तो अच्छा है, क्योंकि

तत्व, विपरीत (अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा ऊँची) स्थिति में मृदुत्व तथा अपने स्वर पर श्रुतियों का मध्यमत्व होता है, यह निर्णय है।

यह श्लोक सप्त रूपों में प्रयोज्य अलंकारों के प्रसङ्ग में है और इसका अभिप्राय दारवी वीणा पर श्रुतियों के 'आयतत्व' एवं 'मृदुत्व' का बोध करानेवाली उच्च (मेरु की ओर) एवं नीच (घुड़च की ओर) स्थिति को बताना है।

निष्कर्ष यह है कि भाष्य-वाक्य कण्ठ में 'आयतत्व' एवं 'मृदुत्व' का बोध करा रहे हैं और नाटचशास्त्र दारवी वीणा में।

४५—द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्ड*मूर्च्छने षड्जग्रामाश्रिते कार्य्ये।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३३

*उपवादनदण्ड का दूसरा नाम 'कोण' या 'कुणप' भी है। महाराज कुम्भ का कथन है—

..........कोणः कुणप इत्यपि।
वीणादिवादनादण्डः प्रवीणैरुपवर्ण्यते॥ —भ० को०, पृ० १५१

दुन्दुभि या नगाड़े को बजाने के साधन 'चोब' को भी कोण कहा जाता है। इसी लिए महाराज कुम्भ ने उपर्युक्त श्लोक में 'वीणा' के साथ आदि शब्द का प्रयोग किया है। निम्न श्लोक उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतिकुहरचलन्मन्थरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ॥

—वेणीसंहार, प्रथम अङ्क

कोणो वीणादिवादनम्।

—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, श्लोक ६

कोणो वाद्यप्रभेदे स्याद् वीणादीनां च वादने।

—मेदिनी

वीणादि वाद्यते येन तद्धनुराकृति काष्ठं कोण उच्यते।

—महेश्वर कृत 'अमरविवेक' नामक (अमरकोश की) टीका

पूर्वोक्त स्थल में महर्षि भरत ने जिन दो वीणाओं की ओर निर्देश किया है वे 'उपवादनदण्ड' अर्थात् 'कोण' के द्वारा बजायी जानेवाली हैं।

तार, कोण (वादनदण्ड) और इन्द्रिय की विगुणता से स्वरों में अवाञ्छनीय न्यूनता या अधिकता हो जाती है।[४६]

प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है कि महर्षि भरत की वीणा 'मत्त-कोकिला' कही गयी है—

भरतो... मत्तकोकिलाम्... अवादयदिति प्राहुः।

—भ० को०, पृ० ५१९

एतत्करणं मत्तकोकिलाख्यवीणायां भरतेन निर्दशितम्। अत्र मुख्यवीणायां यत्र गुरुः तं भङ्क्त्वा लघुद्वयरूपेण विपञ्च्यादिषु युगपद्वादनं रूपमिति भावः।

—भ० को०, पृ० ५५६

मत्तकोकिला नामक वीणा में इक्कीस तार होते हैं। मन्द्र, मध्य और तार सप्तक में सातों स्वर प्राप्त होने के कारण यह सब वीणाओं में मुख्य कही गयी है। अन्य वीणाएँ इसी का अङ्ग हैं और उनका 'करण' इत्यादि 'धातुओं' के द्वारा मत्तकोकिला का उपरञ्जन है। इस संबंध में आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

तन्त्रीणामेकविंशत्याः कीर्तिता मत्तकोकिला।
मुख्येयं सर्ववीणानां त्रिस्थानैः सप्तभिः स्वरैः॥
सम्पन्नत्वात्तदन्यास्तु तस्याः प्रत्यङ्गमीरिताः।
करणैश्चित्रयन्त्यास्तास्तस्याः स्युरुपरञ्जिकाः॥

—सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २४८

महर्षि भरत ने 'नवतन्त्री' विपञ्ची के वादक को 'वैपञ्चिक' कहकर 'वैणिक' को उससे भिन्न कहा है। उनके शब्द हैं—

तते कुतपविन्यासो गायनः सपरिग्रहः।
वैपञ्चिको वैणिकश्च वंशवादस्तथैव च॥

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४२०

इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार अपने परिग्रह में गायन (गायक) प्रधान है, उसी प्रकार तन्त्रीवादकों में वैणिक है। वैपञ्चिक (विपञ्चीवादक) और 'चैत्रिक' (चित्रावादक) का कार्य्य 'वैणिक' के वादन का उपरञ्जनमात्र है। वैणिक का अर्थ 'मुख्य वीणा का वादक' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार मुख्य वीणा और मत्तकोकिला समानार्थवाची शब्द हैं और 'मत्तकोकिला-वादक' की संज्ञा प्रधानतया 'वैणिक' है।

४६—एतेषां च स्वराणां न्यूनाधिकत्वं तन्त्रीवादनदण्डेन्द्रियवैगुण्यादुपजायते।

यहाँ 'इन्द्रियवैगुण्य' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'बधिर' या अन्य विकलेन्द्रिय व्यक्ति (जिसके हाथ इत्यादि में विकार हो) महर्षि भरत के अनुसार सारणा का पात्र नहीं।

जिस वीणा पर सारणा-क्रिया की जायगी, उसे हम सुविधा के लिए 'चल वीणा' और दूसरी को अचल वीणा कहेंगे।

प्रथम सारणा

चल वीणा के 'पञ्चम' को इतना उतारा जाय कि वह अचल वीणा के 'ऋषभ' के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से सम्बद्ध हो जाय।[४७] इस प्रक्रिया से चल वीणा का पञ्चम अपनी मूल स्थिति से अर्थात् अचल वीणा के पञ्चम की अपेक्षा जितना उतरेगा, उतना अन्तर 'प्रमाणश्रुति' है।

चल वीणा के पञ्चम को आपने जितना उतारा है, उतना ही चल वीणा के प्रत्येक स्वर को उतार दीजिए।[४८] ऐसी स्थिति में चल वीणा का प्रत्येक स्वर अचल वीणा के स्वरों की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतर जायगा। यह 'प्रथम सारणा' है।[४९]

द्वितीय सारणा

अब चल वीणा के 'गान्धार' और 'निषाद' को इतना उतारिए कि वे क्रमशः अचल वीणा के 'ऋषभ' और 'धैवत' में मिल जायँ।[५०] अवशिष्ट स्वरों को भी चल वीणा पर

४७–तयोरेकतरस्यां माध्यमग्रामिकीं कृत्वा पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिम्...।

—भरत, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

४८–तामेव पञ्चमवशात् षाड्जग्रामिकीं कुर्य्यात्।

—भरत०, ब०, सं०, अ० २८, पृ० ४३३

यह क्रिया कुछ कठिन नहीं। चल वीणा के षड्ज को इतना उतारिए कि उसका संवाद उतरे हुए पञ्चम से होने लगे। तत्पश्चात् संवाद के आधार पर षड्ज से मध्यम, मध्यम से निषाद, निषाद से गान्धार, षड्ज से अन्तर गान्धार, अन्तर गान्धार से धैवत और धैवत से ऋषभ की स्थापना करना हम जान ही चुके हैं। इतना कर लेने पर 'चल-वीणा' पर षाड्जग्रामिक सप्तक फिर प्राप्त हो जायगा। चलवीणा का पञ्चम चल-वीणा के षड्ज की दृष्टि से षाड्जग्रामिक एवं अचलवीणा के षड्ज की दृष्टि से माध्यम-ग्रामिक होगा।

४९–एवं श्रुत्यपकृष्टा भवति।

—भरत० ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

५०–पुनरपि तद्वदेवापकर्षाद् गान्धारनिषादवन्तावितरस्यां धैवतर्षभौ (ऋषभ-धैवतौ?) प्रविशतः (द्वि)श्रुत्यधिकत्वात्।

—भरत० ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३३

उसके नवीन 'गान्धार' और 'निषाद' को ध्यान में रखते हुए षाड्जग्रामिक अनुपात से यथास्थान मिला लीजिए। इस द्वितीय सारणा के सम्पन्न होने पर आप देखेंगे कि चल वीणा के स्वर अचल वीणा के स्वरों की अपेक्षा दो श्रुति उतरे हुए हैं।

तृतीय सारणा

चल वीणा के 'ऋषभ' और 'धैवत' को इतना उतारिए कि वे क्रमशः अचल वीणा के 'षड्ज' और 'पञ्चम' के साथ एक-रूप हो जायँ।[५१] अन्य स्वरों को भी षाड्ज-ग्रामिक अनुपात से यथास्थान मिला लीजिए। अब आपकी चल वीणा का सप्तक अचल वीणा के सप्तक की अपेक्षा तीन श्रुति उतरा हुआ होगा।

चतुर्थ सारणा

चल वीणा के 'मध्यम', 'पञ्चम' और 'षड्ज' को इतना उतारिए कि वे क्रमशः अचल वीणा के 'गान्धार', 'मध्यम' और 'निषाद' में मिल जायँ।[५२] अवशिष्ट स्वरों को भी षाड्जग्रामिक अनुपात में यथास्थान मिला लीजिए, अब चल वीणा का सप्तक अचल वीणा के सप्तक की अपेक्षा चार श्रुति उतरा हुआ होगा।

पूर्वोक्त विधि से सारणाएँ करने पर चल वीणा हमें एक समय एक ही सारणा प्रदर्शित करती है, क्योंकि हम उस पर प्रथम सारणा को मिटाकर दूसरी, दूसरी को मिटाकर तीसरी और तीसरी को मिटाकर चौथी सारणाएँ करते हैं। फलतः बाईसों श्रुतियाँ एक समय हमारे समक्ष नहीं आ पातीं।

परवर्ती आचार्यों ने बाईस श्रुतियाँ सिद्ध करने के लिए 'श्रुतिवीणा' का आश्रय लिया था[५३], परन्तु एक ऐसा उपाय भी है, जिससे चारों सारणाएँ एवं उनके परिणाम-

---

यहाँ कुछ लोग 'तद्वत्' शब्द से भ्रम में पड़ जाते हैं। 'तद्वत्' क्रियाविशेषण है। महर्षि पाणिनि के सूत्र "तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः" की वृत्ति देखिए।

५१—पुनस्तद्वदेवापकर्षाद् धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रविशतः (त्रि) श्रुत्यधिकत्वात्। —भरत, ब० सं०, पृ० ४३३

५२—तद्वत्पुनरपकृष्टायां च तस्यां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमगान्धारनिषादवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुःश्रुत्यधिकत्वात्।
—भरत, ब० सं०, पृ० ४३३–४३४

५३—द्वे वीणे सदृशौ कार्य्ये यथा नादः समो भवेत्।
तयोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्यः।
—आचार्य शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० ६९

स्वरूप बाईसों श्रुतियाँ भी हमारे समक्ष रहती हैं और एक ही वाद्य पर सारणाएँ सम्पन्न हो जाती हैं ।

श्रुतिदर्पण पर चतु:सारणाविधि

एक ऐसा तानपूरा लीजिए, जिसकी डाँड सपाट हो, अर्थात् बीच से उठी हुई न हो। इस तानपूरे पर पर्दे भी सपाट हों, अर्थात् वे पर्दे सितार के पर्दों की भाँति बीच से उठे हुए न हों । तानपूरे में पाँच खूँटियाँ हों, पाँच तार एक-जैसे चढ़ा लीजिए । पर्दे सीधे रहें, अर्थात् पर्दे के प्रत्येक भाग से 'अटक' और 'घुड़च' समान दूरी पर हों । घुड़च सीधी हो, तनिक भी आड़ी-तिरछी न हो ।

इस तानपूरे को हम अब 'श्रुतिदर्पण' कहेंगे । इस पर नियमपूर्वक षड्जग्राम के अनुसार पर्दे मिला लीजिए ।

'श्रुतिदर्पण' पर चढ़े हुए पाँचों तारों को समान ध्वनि में मिला लीजिए ।

'श्रुतिदर्पण' के बायीं ओरवाले तार को हम पहला तार कहेंगे, अन्य तार क्रमश: दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ तार कहलायेंगे ।

मूल सप्तक

पहले तार को षड्ज इत्यादि के पर्दों पर दबाकर छेड़ने से जो सप्तक बोलेगा, उसे हम मूल सप्तक कहेंगे, जो पूर्वोक्त पद्धति के अचल सप्तक का काम देगा ।

प्रथम सारणा

दूसरे तार को इतना उतारिए कि मूल सप्तक के ऋषभ के साथ दूसरे तार के पंचम का संवाद षड्ज-मध्यम-भाव से होने लगे। इतना करने पर आप देखेंगे कि दूसरा तार मूल सप्तक के तार की अपेक्षा 'कुछ' उतरा हुआ है, यह 'कुछ' अन्तर ही महर्षि भरत की भाषा में प्रमाणश्रुति का अन्तर है ।

किसी भी पर्दे पर पहले और दूसरे तार को दबाकर छेड़ा जाय, प्रमाणश्रुति का यह अन्तर दोनों तारों की ध्वनि में स्पष्ट सुनाई देगा । अर्थात् दूसरे तार पर ध्वनित होनेवाला सप्तक मूल सप्तक की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतरा हुआ होगा ।

द्वितीय सारणा

तीसरे तार को इतना उतारिए कि उसके गान्धार की ध्वनि मूल सप्तक के 'ऋषभ' की ध्वनि में मिल जाय । इतना करने पर आप देखेंगे कि तीसरे तार का 'निषाद' मूल

सप्तक के 'पञ्चम' में स्वतः मिल गया है। तीसरे तार पर बोलनेवाला षाड्जग्रामिक सप्तक अब मूल सप्तक की अपेक्षा दो श्रुति उतरा हुआ है।

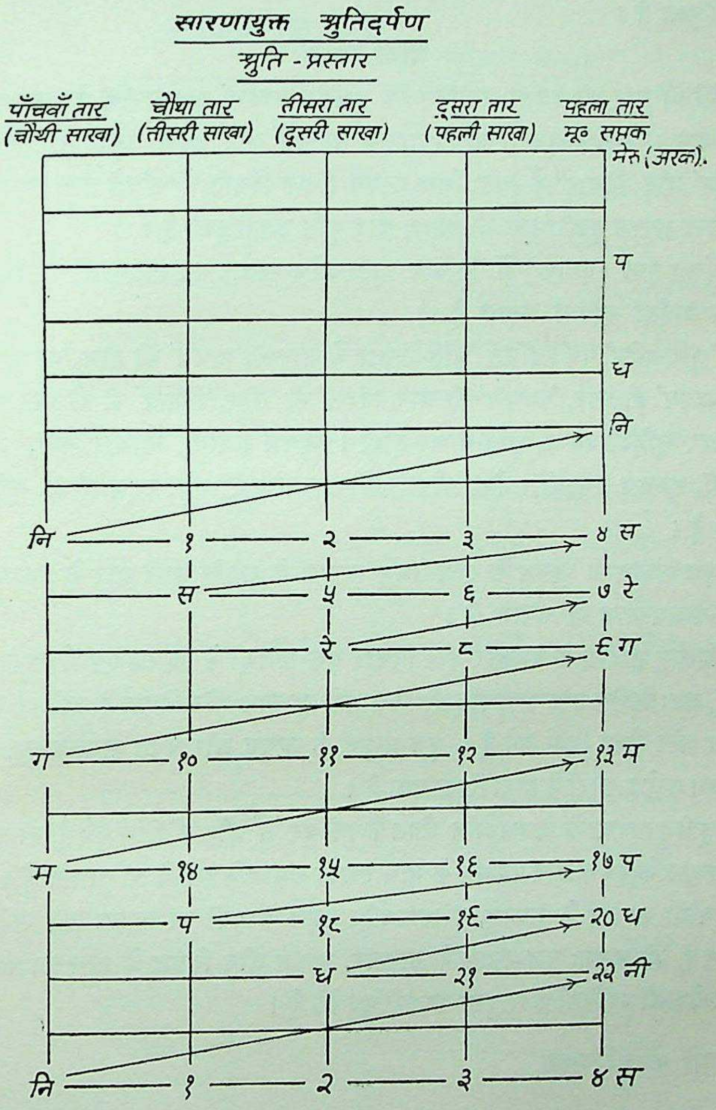

तृतीय सारणा

चौथे तार को इतना उतारिए कि उसका 'ऋषभ' मूल सप्तक के षड्ज में मिल जाय,

ऐसा करने से चौथे तार का 'धैवत' प्रथम तार के 'पञ्चम' में स्वतः मिल जायगा। चौथे तार पर मिला हुआ षाड्जग्रामिक सप्तक अब मूल सप्तक की अपेक्षा तीन श्रुति उतरा हुआ है।

चौथी सारणा

पाँचवें तार को इतना उतारिए कि उसका 'मध्यम' मूल सप्तक के 'गान्धार' में मिल जाय। यह हो जाने पर पाँचवें तार के 'पञ्चम' और 'षड्ज' क्रमशः मूल सप्तक के 'मध्यम' और 'निषाद' में स्वतः मिल जायँगे। इस स्थिति में पाँचवें तार पर ध्वनित होनेवाला सप्तक मूल सप्तक की अपेक्षा चार श्रुति उतरा हुआ है।

(गत पृष्ठ (ब्लाक) में निर्दिष्ट श्रुति-दर्पण-प्रस्तार पर सारणाओं के परिणाम-स्वरूप बाईसों श्रुतियाँ प्रत्यक्ष हैं।)

'श्रुति-दर्पण' पर प्रदर्शित श्रुति-प्रस्तार में आपको 'ऋषभ' की तीन, 'गान्धार' की दो, 'मध्यम' की चार, 'पञ्चम' की चार, 'धैवत' की तीन, 'निषाद' की दो और 'षड्ज' की चार श्रुतियाँ स्पष्ट दृष्टि-गोचर होंगी। ऋषभ सातवीं, गान्धार नवीं, मध्यम तेरहवीं, पञ्चम सत्रहवीं, धैवत बीसवीं, निषाद बाईसवीं और षड्ज चौथी श्रुति पर स्थित है।

मूल सप्तक के ऋषभ के साथ प्रथम सारणा के अर्थात् दूसरे तार के पञ्चम का षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद है।

द्वितीय सारणा के गान्धार और निषाद मूल सप्तक के ऋषभ एवं धैवत से मिल गये हैं, अतः द्वितीय सारणा अर्थात् तीसरे तार के गान्धार और निषाद के पर्दों पर क्रमशः ऋषभ और धैवत लिखे गये हैं। मूल सप्तक के ऋषभ और धैवत के साथ समध्वनि-कता का सङ्केत तीरों के द्वारा किया गया है।

तृतीय सारणा के ऋषभ और धैवत के पर्दों पर 'स' और 'प' लिखे गये हैं, जो क्रमशः मूल सप्तक के षड्ज और पञ्चम के साथ उनकी समध्वनिकता के परिचायक हैं।

चौथी सारणा के मध्यम, पञ्चम और षड्ज के पर्दों पर क्रमशः 'ग', 'म', 'नि' अंकित हैं, जो क्रमशः मूल सप्तक के गान्धार, मध्यम और निषाद के साथ इन पर्दों पर निकलनेवाली ध्वनियों के सादृश्य का परिचय देते हैं।

श्रुतियों के परिमाण

हम यह जान चुके हैं कि श्रुति-दर्पण के पहले-दूसरे तार की ध्वनि का अन्तर 'प्रमाण-श्रुति' है, भविष्य में हम इसे 'ग' अन्तर कहेंगे।

श्रुति-दर्पण के दूसरे और तीसरे तार को क्रमश: धीरे से छेड़ने पर हमें 'ग' अन्तर से वड़ा अन्तर सुनाई देगा, इसे हम 'ख' अन्तर कहेंगे ।

सारणायुक्त श्रुति-दर्पण

श्रुति-परिमाण-प्रस्तार

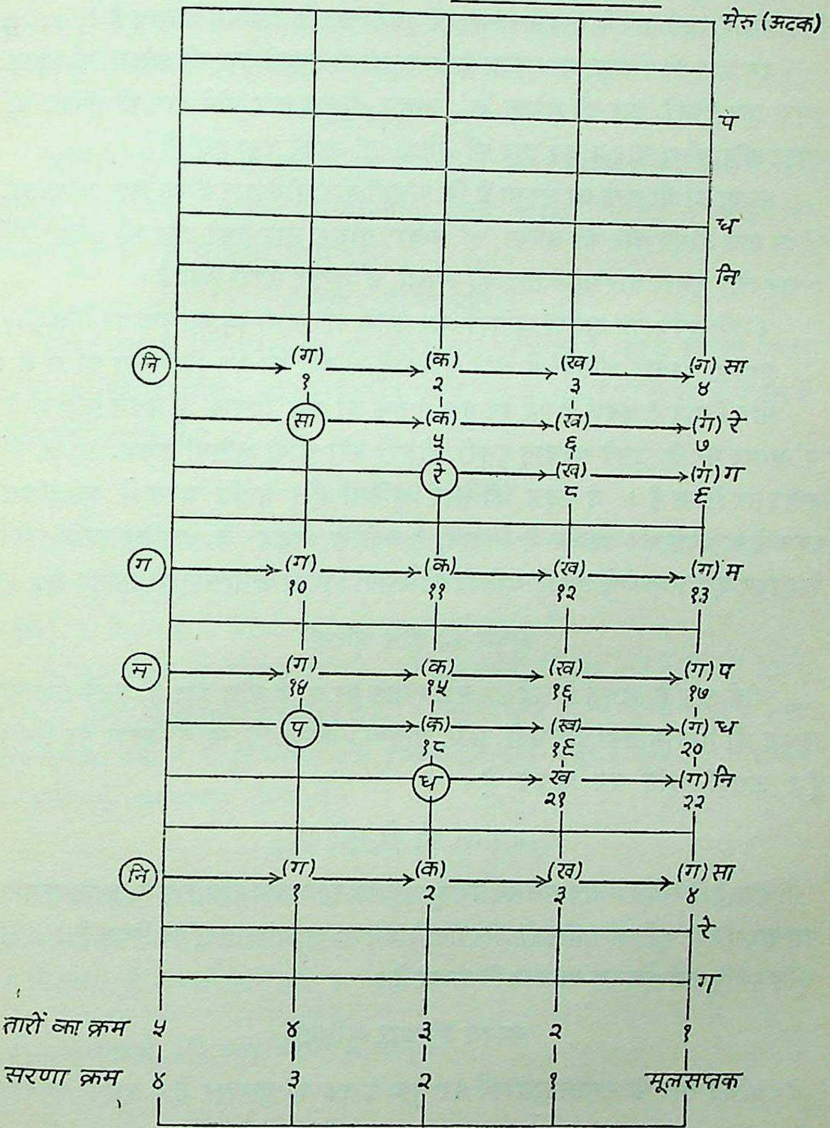

तीसरे और चौथे तार को छेड़ने पर उन दोनों की ध्वनियों में 'ख' अन्तर से भी बड़ा अन्तर सुनाई देगा, इसे हम 'क' अन्तर कहेंगे ।

चौथे और पाँचवें तार की ध्वनि में फिर 'ग' अन्तर सुनाई देगा, क्योंकि चौथे तार के ऋषभ के साथ पाँचवें तार के पञ्चम का षड्ज-मध्यम भाव से उसी प्रकार संवाद है, जिस प्रकार पहले तार के ऋषभ का संवाद दूसरे तार के पञ्चम के साथ है ।

इस बात को यों कहा जा सकता है कि पहला तार दूसरे तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर, दूसरा तार तीसरे तार की अपेक्षा 'ख' अन्तर, तीसरा तार चौथे तार की अपेक्षा 'क' अन्तर और चौथा तार पाँचवें तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर चढ़ा हुआ है ।

अथवा यों भी कहा जा सकता है कि पाँचवाँ तार चौथे तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर, चौथा तार तीसरे तार की अपेक्षा 'क' अन्तर, तीसरा तार दूसरे तार की अपेक्षा 'ख' अन्तर और दूसरा तार पहले तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर उतरा हुआ है।

(श्रुति-दर्पण पर बाईसों श्रुतियों और उनके परिमाणों को गत पृष्ठ पर देखिए।)

पूर्वोक्त प्रस्तार श्रुतियों में पाये जानेवाले अन्तरों का क्रम दिग्दर्शित करता है ।

पाँचवें तार के षड्ज के पर्दे पर मूल सप्तक का मन्द्र 'निषाद' है, प्रथम श्रुति इससे 'ग' अन्तर पर है, उसके पश्चात् दूसरी, तीसरी और चौथी श्रुतियाँ क्रमशः 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं । ये षड्ज की चार श्रुतियाँ हैं । महर्षि भरत ने श्रुतिसंख्या षड्ज से न गिनाकर ऋषभ से गिनायी है, क्योंकि 'षड्ज' के 'आधार-ध्वनि' होने के कारण एक सप्तक में उसकी श्रुतियों की गणना निषाद के पश्चात् ही सम्भव है ।

ऋषभ की तीन श्रुतियाँ

चौथे तार के ऋषभ के पर्दे पर मूल सप्तक का षड्ज बोल रहा है, उसके पश्चात् ऋषभ की तीन श्रुतियाँ (पाँचवीं, छठी, सातवीं) क्रमशः 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं । सातवीं श्रुति पर ऋषभ है ।

गान्धार की दो श्रुतियाँ

तीसरे तार के गान्धारवाले पर्दे पर मूल सप्तक का ऋषभ बोल रहा है, इसके पश्चात् गान्धार की दो श्रुतियाँ (आठवीं और नवीं) क्रमशः 'ख, ग' अन्तरों पर स्थित हैं । नवीं श्रुति पर मूल सप्तक का गान्धार विद्यमान है ।

मध्यम की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के मध्यमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का गान्धार है । इसके पश्चात्

मध्यम की चार श्रुतियाँ (दसवीं, ग्यारहवीं, वारहवीं, तेरहवीं) क्रमशः 'ग, क, ख, ग' अन्तरों पर स्थित हैं। तेरहवीं श्रुति पर मध्यम विद्यमान है।

पञ्चम की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के पञ्चमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का मध्यम बोल रहा है। उसके पश्चात् पञ्चम की चारों श्रुतियाँ (चौदहवीं ,पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं) क्रमशः 'ग, क, ख, ग' अन्तरों पर स्थित हैं। सत्रहवीं श्रुति पर पञ्चम है।

धैवत की तीन श्रुतियाँ

चौथे तार के धैवतवाले पर्दे पर मूल सप्तक का पञ्चम विद्यमान है, धैवत की तीन श्रुतियाँ (अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं) उससे क्रमशः 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं। बीसवीं श्रुति पर धैवत है।

निषाद की दो श्रुतियाँ

तीसरे तार के निषादवाले पर्दे पर मूल सप्तक का धैवत है, उसके पश्चात् निषाद की दो श्रुतियाँ (इक्कीसवीं और वाईसवीं) क्रमशः 'ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं, बाईसवीं श्रुति पर निषाद है।

षड्ज की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के 'तार षड्ज' वाले पर्दे पर मूल सप्तक का निषाद बोल रहा है, षड्ज की चार श्रुतियाँ (पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी) उसके पश्चात् क्रमशः 'ग, क, ख, ग' अन्तरों पर स्थित हैं। चौथी श्रुति पर षड्ज विद्यमान है।

सारणा-पद्धति में 'अन्तर गान्धार' और 'काकली निषाद' की सिद्धि भी महर्षि भरत की उक्ति के अनुसार हो जाती है।[५४] तीव्र मध्यम यद्यपि महर्षि भरत के द्वारा नहीं गिनाया गया है, परन्तु मध्यम और पञ्चम का अन्तर स्वर होने के कारण इसकी उपलब्धि भी यथास्थान होती है।

अन्तर गान्धार की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के मध्यमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का गान्धार विद्यमान है, उसके पश्चात् अन्तर गान्धार की दो श्रुतियाँ (दसवीं और ग्यारहवीं) क्रमशः 'ग-क' अन्तरों पर विद्यमान हैं। ग्यारहवीं श्रुति पर 'अन्तर गान्धार' बोल रहा है, जिसकी ध्वनि

५४—अन्तरनिदर्शनमपि श्रुतिनिदर्शने प्रोक्तम्।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

मूल सप्तक के तीव्र गान्धारवाले पर्दे पर निकलनेवाली ध्वनि से अभिन्न नहीं। फलतः 'अन्तर गान्धार' और 'तीव्र गान्धार' एक ही ध्वनि का बोध कराते हैं।

काकली निषाद की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के तार षड्जवाले पर्दे पर मूल सप्तक का निषाद ध्वनित हो रहा है, इसके पश्चात् काकली निषाद की दो श्रुतियाँ (पहली, दूसरी) क्रमशः 'ग, क' अन्तर पर स्थित हैं। दूसरी श्रुति पर काकली निषाद ध्वनित हो रहा है। इसकी ध्वनि मूल सप्तक के तीव्र निषाद से भिन्न नहीं, अतः 'काकली निषाद' और तीव्र निषाद एक हैं।

पत-पञ्चम[५५] (तीव्र मध्यम) की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के पञ्चमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का मध्यम स्थित है, 'पत-पञ्चम' (तीव्र मध्यम) की दो श्रुतियाँ (चौदहवीं, पन्द्रहवीं) उससे क्रमशः 'ग, क' अन्तर पर हैं, पन्द्रहवीं श्रुति पर 'पत-पञ्चम' बोल रहा है, जिसकी ध्वनि में मूल सप्तक के तीव्र मध्यमवाले पर्दे पर बोलनेवाली ध्वनि से कोई अन्तर नहीं है।

पूर्वोक्त प्रस्तार पर ध्यान देने से कुछ अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होंगी —

(अ) प्रत्येक स्वर की उपान्त्य (अन्तिम से पहली) एवं अन्त्य श्रुति क्रमशः 'ख-ग' हैं।

(आ) ऋषभ और धैवत की प्रथम श्रुति का परिमाण भी एक-जैसा है।

(इ) षड्ज, मध्यम और पञ्चम की श्रुतियों का क्रम एक-जैसा है, अर्थात् इन स्वरों की श्रुतियों के परिमाणों का क्रम 'ग, क, ख, ग' है।

५५—आजकल जिस स्वर की संज्ञा तीव्र मध्यम है, उसे महाराज कुम्भ ने 'पतपञ्चम' की संज्ञा दी है। श्रीकण्ठ ने इस संज्ञा को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है।

आचार्य कल्लिनाथ का कथन है कि 'रामक्रिया' नामक क्रियाङ्ग राग में मध्यम 'पञ्चम' की दो श्रुतियाँ ले लेता है।

इस दृष्टि से तीव्र मध्यम महाराज कुम्भ की दृष्टि में 'पञ्चम' का और आचार्य्य कल्लिनाथ की दृष्टि में मध्यम का विकार है।

इसी ध्वनि को सोमनाथ ने 'मृदु पञ्चम' और वेंकट मखी ने 'वराली मध्यम' कहा है।

इस सम्बन्ध में विस्तृत विचार यथास्थान किया जायगा। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि महर्षि भरत की जिस दूसरी सारणा में अन्तर गान्धार और काकली निषाद की प्राप्ति होती है, उसी में तीव्र मध्यम की भी उपलब्धि होती है।

*निम्नलिखित मण्डल-प्रस्तार में स्वरों की श्रुतियों के परिमाणों का क्रम दिग्दर्शित है --

मण्डल-प्रस्तार

श्रुतिपरिमाणों का क्रम

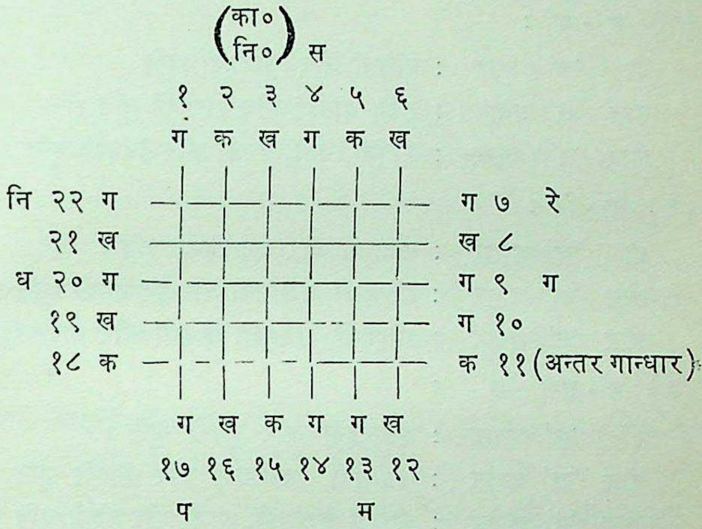

---

*श्रुतियों के परिमाणों को जाँचने की एक विधि और है—

'ग' अन्तर--

प्रथम सारणा का पञ्चम, मूल सप्तक के ऋषभ को 'षड्ज' मानने पर उसका मध्यम होता है, जो मूल सप्तक के पञ्चम की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतरा हुआ होता है। परिणामस्वरूप मूल सप्तक के मुक्त तार की ध्वनि की अपेक्षा प्रथम सारणा के मुक्त तार की ध्वनि भी एक प्रमाणश्रुति उतरी होती है।

'ख' अन्तर-

प्रथम सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर द्वितीय सारणा का पञ्चम इस नवीन षड्ज का मध्यम न होकर **तीव्र गान्धार से कुछ चढ़ा हुआ** रहता है। इससे सिद्ध है कि मूल सप्तक के तार की अपेक्षा प्रथम सारणा का तार जितना उतरा हुआ है, दूसरी सारणा का तार प्रथम सारणा के तार से 'ग' अन्तर की अपेक्षा अधिक उतरा हुआ है। फलतः प्रथम सारणा एवं द्वितीय सारणा के तारों की ध्वनियों का अन्तर मूल सप्तक एवं प्रथम सारणा के तारों की ध्वनियों में पाये जानेवाले अन्तर की अपेक्षा अधिक है।

इस मण्डलप्रस्तार पर विचार करने से कुछ चमत्कारपूर्ण तथ्यों का दर्शन होगा–

(अ) जिन दो स्वरों में 'षड्ज-मध्यम भाव' बताया गया है, या हो सकता है, उनके नव श्रुत्यन्तर में सदा दो 'क' अन्तर, तीन 'ख' अन्तर और चार 'ग' अन्तर होंगे।

परीक्षा कीजिए —

(१) **'स - म' :**

दो 'क' अन्तर : पाँचवीं और ग्यारहवीं श्रुति।
तीन 'ख' अन्तर : छठी, आठवीं और बारहवीं श्रुति।
चार 'ग' अन्तर : सातवीं, नवीं, दसवीं और तेरहवीं श्रुति।

(२) **'म - नि' :**

दो 'क' अन्तर : पन्द्रहवीं और अठारहवीं श्रुति।
तीन 'ख' अन्तर : सोलहवीं, उन्नीसवीं और इक्कीसवीं श्रुति।
चार 'ग' अन्तर : चौदहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं और बाईसवीं श्रुति।

(३) **'प - तार - स' :**

दो 'क' अन्तर : अठारहवीं और दूसरी श्रुति।
तीन 'ख' अन्तर : उन्नीसवीं, इक्कीसवीं और तीसरी श्रुति।
चार 'ग' अन्तर : बीसवीं, बाईसवीं, पहली और चौथी श्रुति।

(४) **'अन्तर गान्धार - ध'** :

दो 'क' अन्तर : पन्द्रहवीं और अठारहवीं श्रुति।
तीन 'ख' अन्तर : बारहवीं, सोलहवीं और उन्नीसवीं श्रुति।
चार 'ग' अन्तर : तेरहवीं, चौदहवीं, सत्रहवीं और बीसवीं श्रुति।

(५) **'नि - तार ग' :**

दो 'क' अन्तर : दूसरी और पाँचवीं श्रुति।
तीन 'ख' अन्तर : तीसरी, छठी और आठवीं श्रुति।
चार 'ग' अन्तर : पहली, चौथी, सातवीं और नवीं श्रुति।

'क' अन्तर––

द्वितीय सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर तृतीय सारणा का पञ्चम इस नवीन षड्ज के **तीव्र गान्धार से भी कुछ उतरा हुआ** रहता है। फलतः यह सिद्ध है कि द्वितीय एवं तृतीय सारणाओं के मुक्त तारों की ध्वनि में पाया जानेवाला 'क' अन्तर सर्वाधिक है।

(६) **'रे - माध्यमग्रामिक पञ्चम'** :

दो 'क' अन्तर : ग्यारहवीं और पन्द्रहवीं श्रुति ।
तीन 'ख' अन्तर : आठवीं, बारहवीं और सोलहवीं श्रुति ।
चार 'ग' अन्तर : नवीं, दसवीं, तेरहवीं और चौदहवीं श्रुति ।

(७) **'ध - तार ऋषभ'** :

दो 'क' अन्तर : दूसरी और पाँचवीं श्रुति ।
तीन 'ख' अन्तर : इक्कीसवीं, तीसरी और छठी श्रुति ।
चार 'ग' अन्तर : बाईसवीं, पहली, चौथी और सातवीं श्रुति ।

महर्षि भरत ने अपने द्वारा निश्चित नौ स्वरों में यथास्थान आनेवाले नव श्रुत्यन्तर को ही संवाद का कारण बताया है, परन्तु यह नहीं कहा है कि प्रत्येक श्रुति नव श्रुत्यन्तर पर स्थित श्रुति की संवादिनी होती है। बाईस श्रुतियों में तो ऐसे नव श्रुत्यन्तरों के भी उदाहरण हैं, जिनमें पूर्वोक्त अन्तर संख्या न होने के कारण संवाद का अभाव है । परीक्षा कीजिए —

पाँचवीं और चौदहवीं श्रुति में नौ श्रुतियों का अन्तर तो है, परन्तु परस्पर संवाद नहीं है, क्योंकि पाँचवीं श्रुति के पश्चात् से चौदहवीं श्रुति तक गिनने पर एक 'क' अन्तर (ग्यारहवीं श्रुति पर), 'ख' अन्तर तीन बार (छठी, आठवीं और बारहवीं श्रुति पर) तथा 'ग' अन्तर पाँच बार (सातवीं, नवीं, दसवीं, तेरहवीं और चौदहवीं श्रुति पर) आता है ।

इस प्रकार श्रुतियों की संख्या तो नौ हो जाती है, परन्तु उनके परिमाणों की संख्या वह नहीं रहती, जो 'षड्ज-मध्यम भाव' के लिए अभीष्ट है । फलतः पाँचवीं और चौदहवीं श्रुति में 'षड्जमध्यम भाव' से संवाद नहीं, 'श्रुतिदर्पण' पर इन दोनों श्रुतियों को छेड़कर भी आप इस तथ्य को प्रमाणित कर सकते हैं ।

मण्डल-प्रस्तार में कई श्रुतियाँ ऐसी दिखाई देंगी, जिनका संवाद उनसे नव श्रुत्यन्तर पर स्थित श्रुति के साथ नहीं है ।

(आ) 'मण्डल-प्रस्तार' में षड्ज-पञ्चम भाव पर विचार कीजिए, जिन दो स्वरों के त्रयोदश श्रुत्यन्तर में 'क' अन्तर तीन, 'ख' अन्तर चार और 'ग' अन्तर छः होते हैं, उन्हीं दोनों स्वरों में षड्ज-पञ्चम भाव से संवाद होता है ।

(१) **'स - प'** :

तीन 'क' अन्तर : पाँचवीं, ग्यारहवीं और पन्द्रहवीं श्रुति ।

चार 'ख' अन्तर : छठी, आठवीं, बारहवीं और सोलहवीं श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : सातवीं, नवीं, दसवीं, तेरहवीं, चौदहवीं और सत्रहवीं श्रुति ।

(२) 'रे - ध' :

तीन 'क' अन्तर : ग्यारहवीं, पन्द्रहवीं और अठारहवीं श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : आठवीं, बारहवीं, सोलहवीं और उन्नीसवीं श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : नवीं, दसवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, सत्रहवीं और बीसवीं श्रुति

(३) 'ग - नि' :

तीन 'क' अन्तर : ग्यारहवीं, पन्द्रहवीं और अठारहवीं श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : बारहवीं, सोलहवीं, उन्नीसवीं, इक्कीसवीं श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : दसवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं और बाईसवीं श्रुति ।

(४) 'अन्तर - गान्धार - काकली निषाद' :

तीन 'क' अन्तर : पन्द्रहवीं, अठारहवीं और दूसरी श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : सोलहवीं, उन्नीसवीं, इक्कीसवीं और तीसरी श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : तेरहवीं, चौदहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं, बाईसवीं और पहली श्रुति ।

(५) 'म - तार षड्ज' :

तीन 'क' अन्तर : पन्द्रहवीं, अठारहवीं और दूसरी श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : सोलहवीं, उन्नीसवीं, इक्कीसवीं और तीसरी श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : चौदहवीं, सत्रहवीं, बीसवीं, बाईसवीं, पहली और चौथी श्रुति ।

(६) 'ध - अन्तर गान्धार' :

तीन 'क' अन्तर : दूसरी पाँचवीं और ग्यारहवीं श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : इक्कीसवीं, तीसरी, छठी और आठवीं श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : बाईसवीं, पहली, चौथी, सातवीं, नवीं और दसवीं श्रुति ।

(७) 'निषाद - तार मध्यम' :

तीन 'क' अन्तर : दूसरी, पाँचवीं और ग्यारहवीं श्रुति ।
चार 'ख' अन्तर : तीसरी, छठी, आठवीं और बारहवीं श्रुति ।
छः 'ग' अन्तर : पहली, चौथी, सातवीं, नवीं, दसवीं और तेरहवीं श्रुति ।

वाईस श्रुतियों में नव श्रुत्यन्तर होने पर भी अनेक स्थानों पर षड्ज-मध्यम भाव का अभाव मिलता है। उसी प्रकार अनेक स्थलों में त्रयोदश श्रुत्यन्तर होने पर भी षड्ज-पञ्चम भाव का अभाव मिलेगा।

इस बात को एक और दृष्टि से देखा जाय। षड्ज से जिन तीन श्रुतियों के अन्तर पर 'ऋषभ' स्थित है, उनके अन्तर क्रमशः 'क' 'ख' 'ग' हैं। यदि सातवीं श्रुति पर स्थित 'ऋषभ' को थोड़ी देर के लिए 'षड्ज' मान लिया जाय, तो दसवीं श्रुति पर इस नवीन 'षड्ज' के ऋषभ की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि आठवीं, नवीं और दसवीं श्रुति के परिमाण क्रमशः 'ख' 'ग' 'ग' हैं।

सातवीं श्रुति पर स्थित 'ऋषभ' से नवीं श्रुति पर स्थित गान्धार का अन्तर 'ख-ग' है, परन्तु यदि हम नवीं श्रुति को ऋषभ मानकर ग्यारहवीं पर उसका 'गान्धार' ढूंढें, तो मिलना असम्भव है, क्योंकि दसवीं और ग्यारहवीं श्रुति के परिमाण क्रमशः 'ग-क' हैं।

यदि हम पाँचवीं श्रुति को गान्धार मानकर नवीं श्रुति पर उसका 'मध्यम' ढूंढें, तो उसकी प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि छठी, सातवीं, आठवीं और नवीं श्रुति के परिमाण क्रमशः 'ख-ग-ख-ग' हैं, जब कि 'गान्धार' के पश्चात् से 'मध्यम' तक प्राप्त होनेवाली दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं श्रुतियों के वास्तविक परिमाण 'ग-क-ख-ग' हैं।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी ढूंढे जा सकते हैं; जिनसे सिद्ध हो जायगा कि षड्जग्राम की किसी भी श्रुति को षड्ज मान लेने से अगले समस्त स्वर केवल श्रुतिसंख्या के आधार पर नहीं मिलेंगे। अर्थात् यदि हम पाँचवीं श्रुति को षड्ज मान लें, तो आठवीं पर उसका 'ऋषभ', दसवीं पर 'गान्धार' और चौदहवीं पर 'मध्यम' नहीं मिलेगा। अठारहवीं पर पञ्चम मिल जायगा। क्योंकि पाँचवीं और अठारहवीं श्रुति में तीन 'क', चार 'ख' और छः 'ग' अन्तर होने के कारण षड्ज-पञ्चम भाव है, परन्तु इक्कीसवीं पर धैवत और पहली श्रुति पर निषाद की प्राप्ति नहीं होगी।

कारण यह है कि वर्तमान सारणाएँ उस सप्तक को आधार मानकर की गयी हैं, जो षाड्जग्रामिक है और जिसका 'षड्ज' 'निषाद' से 'ग-क-ख-ग' अन्तर पर स्थित है। प्रथम श्रुति के पश्चात् से पाँचवीं श्रुति तक प्राप्त होनेवाला अन्तर 'क, ख, ग, क' है, जो प्रथम श्रुति को 'निषाद' मानने पर पाँचवीं श्रुति को उसकी अपेक्षा षड्ज बनाने में असमर्थ है, अतः पाँचवीं श्रुति को बलात् कोई षड्ज मान भी ले, तो वर्तमान सारणा के परिणामस्वरूप प्राप्त इस श्रुति-मण्डल में उसे अन्य अभीष्ट स्वरों की प्राप्ति नहीं होगी।

द्वितीय अध्याय

मूर्च्छना

मूर्च्छना की व्युत्पत्ति एवं प्रयोजन

क्रमयुक्त होने पर सात स्वर मूर्च्छना कहे जाते हैं।[1] 'मूर्च्छना' शब्द 'मूर्च्छ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मोह' और 'समुच्छ्राय' (उत्सेध, उभार, चमकना, व्यक्त होना) है[2]। मूर्च्छना शब्द में 'मूर्च्छ' धातु का अर्थ 'चमकना या उभरना' है[3]।

१— क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

२— मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मूर्च्छधातुस्ततो ल्युटि।
करणार्थे मूर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये॥

—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ५०१

कुछ लोगों का कथन है कि महर्षि भरत ने संग्रहश्लोकों में 'मूर्च्छना' और 'तान' का भेद बताया है। सिंहभूपाल के अनुसार मतङ्ग का कथन है—

मूर्च्छनातानयोश्च भेदः प्रतिपादितो मतङ्गेन। यदाह – ननु मूर्च्छनातानयोः को भेदः ? उच्यते। मूर्च्छनातानयोर्नार्थान्तरत्वमिति विशाखिलः। एतन्न सङ्गतम्, संग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात्। ननु कथं मूर्च्छनातानयोर्भेदः ? आरोहावरोहक्रमयुक्तः स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्चते, तानस्त्वारोहक्रमेण भवतीति भेदः।

—सिंहभूपाल, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ०११४

अर्थात्—मूर्च्छना और तान का भेद मतङ्ग ने प्रतिपादित किया है, जैसा कि कहा है–मूर्च्छना और तान में क्या भेद है ? (यदि यह प्रश्न है तो) उत्तर है कि विशाखिल ने जो कहा है कि मूर्च्छना और तान के अर्थ में अन्तर नहीं, तो यह असङ्गत है, क्योंकि संग्रह श्लोकों में मूर्च्छना और तान का भेद प्रतिपादित किया गया है। यदि यह प्रश्न

श्रुति की 'मृदु'[४] (उतरी हुई अवस्था) को कुछ लोगों ने मूर्च्छना कहा है, कुछ लोगों का कथन है कि रागरूपी अमृत के ह्रद (सरोवर) में गायकों और श्रोताओं के हृदय का

हो कि मूर्च्छना और तान में भेद कैसे है ? तो उत्तर है कि आरोह एवं अवरोह के क्रम से 'मर्च्छना' होती है और आरोह क्रम से 'तान'।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने इस सम्बन्ध में मतङ्ग का जो पाठ उद्धृत किया है, वह सिंह भूपाल के द्वारा उद्धृत पाठ से भिन्न है और निम्नलिखित है —

ननु मूर्च्छनातानयोः को भेदः ? उच्यते, मूर्च्छनातानयोरणुत्वान्तरमिति विशाखिलः। एतच्चासङ्गतम्। भरतस्य संग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात्। कथम् ? मूर्च्छनारोहक्रमेण तानोऽवरोहक्रमेण भवतीति भेदः।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५०२

अर्थात्—मूर्च्छना और तान में क्या भेद है ? उत्तर है कि मूर्च्छना और तान में अणुत्व का अन्तर जो विशाखिल ने बताया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि महर्षि भरत ने संग्रह श्लोक में मूर्च्छना और तान का भेद प्रतिपादित किया है। 'किस प्रकार से ?' मूर्च्छना आरोह-क्रम से और तान अवरोह-क्रम से होती है।

पूर्वोक्त दोनों पाठों में पर्याप्त अन्तर है। 'भरतनाट्यशास्त्र' के प्रकाशित संस्करणों में उस संग्रह श्लोक की प्राप्ति नहीं होती, जिसमें मूर्च्छना और तान का उपर्युक्त भेद प्रतिपादित किया गया हो। महर्षि भरत ने तानों को मूर्च्छनाश्रित कहकर मूर्च्छना में से एक या दो स्वरों के लोप के पश्चात् बचे हुए रूप को औडुव या षाडव 'तान' कहा है।

३—तत्र येनैव स्वरेणोच्छ्रायः प्रवर्तते, तेनैव स्वरेण यदा समाप्तिरपि भवति तदा मूर्च्छना जायते। यथा षड्जग्रामे प्रथमायां मूर्च्छनायां 'सरिगमपधनिसे'ति स्वरसन्निवेशे सति षड्जो मूर्च्छति। —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ५०२

अर्थात्—जिस स्वर से उच्छ्राय (आरोह) होता है, उसी स्वर से जब समाप्ति भी हो, तब मूर्च्छना होती है, जैसे, षड्जग्राम में प्रथम मूर्च्छना का स्वर सन्निवेश '**सरिगमपधनिस**' होने पर षड्ज मूर्च्छित (उभरा हुआ) होता है।

आचार्य शार्ङ्गदेव सात स्वरों के क्रमपूर्वक आरोह और अवरोह को मूर्च्छना मानते हैं, उस दशा में 'सरिगमपधनिधपमगरेस' अवस्था में 'षड्ज' मूर्च्छना का आरम्भक एवं समापक होने के कारण उभरता है।

क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते............. ।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०३–१०४

४—श्रुतेर्मार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः। —हरिपाल, भ० को०, पृ० ५००

निमग्न होना ही मूर्च्छना[५] है, परन्तु भरत-सङ्गीत में 'मूर्च्छना' का अर्थ सात स्वरों का क्रमपूर्वक प्रयोग ही है ।

मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती हैं, परन्तु इन चतुर्विध मूर्च्छनाओं के रूपों के विषय में दो मत हो गये हैं ।

एक पक्ष का कथन है —'मूर्च्छनाओं के चार प्रकार हैं, पूर्णा, षाडवा, औडुविता, साधारणा ।[६]

५—गायतां शृण्वताञ्चापि भवेद्रागामृते ह्रदे ।
मनसो मज्जनं यत्स्यान्मूर्च्छनेत्याह कोहलः ।। —हरिपाल, भ० को०, पृ० ५००

६—यह पक्ष दत्तिल एवं मतङ्ग का है। सिंह भूपाल का कथन है —

मतङ्गदत्तिलौ तु मूर्च्छनानामन्यथा चातुर्विध्यमवादिष्टाम् । यदाह मतङ्गः —'तत्र सप्तस्वरा मूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा षाडवौडुविता साधारणी चेति । तत्र सप्तभिः स्वरैः या गीयते सा पूर्णा, षड्भिः स्वरैः या गीयते सा षाडवा, पञ्चभिः स्वरैः या गीयते सौडुविता, काकल्यन्तरैः स्वरैः या गीयते सा साधारणी' इति । दत्तिलोऽप्याह–

.... ।
.... ।
सर्वास्ताः पञ्चषट्पूर्णसाधारणकृताः स्मृताः ।

—सिंह भूपाल, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० ११४

अर्थात्—मतङ्ग और दत्तिल ने मूर्च्छनाओं की चतुर्विधता और ही प्रकार से बतायी है। मतङ्ग का कथन है—सप्तस्वरा मूर्च्छना के पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणी (अन्तरकाकलीयुक्त) ये चार प्रकार हैं। सात स्वरों से गायी जानेवाली पूर्णा, छः स्वरोंवाली षाडवा, पाँच स्वरोंवाली औडुविता तथा काकलीनिषाद एवं अन्तरगान्धार से युक्त साधारणी है ।

दत्तिल ने भी कहा है कि वे (मूर्च्छनाएँ) पञ्चस्वरा, षट्स्वरा, पूर्णा और साधारणकृता होती हैं ।

इस मत का आधार महर्षि भरत के नाटचशास्त्र में पाया जानेवाला यह पाठ कहा जा सकता है —

एवमेताः प्रक्रमयुताः पूर्णाः षाडवितौडुवितीकृताः साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दश मूर्च्छनाः । —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

अर्थात्—क्रमयुक्त ये मूर्च्छनाएँ पूर्ण, षाडवित, औडुवित एवं साधारणकृत चार प्रकार की हैं।

दूसरे पक्ष का कथन है —मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती हैं; शुद्धा, अन्तरसहिता, काकलीसहिता, अन्तरकाकली सहिता।[७]

आचार्य शार्ङ्गदेव, सिंह भूपाल या कुम्भ के समक्ष महर्षि भरत का यह पाठ नहीं था। सिंह भूपाल ने इस मत को मतङ्ग और दत्तिल का बताया है, महर्षि भरत का नहीं। कुम्भ ने तो इस मत को भरतविरोधी एवं असङ्गत बताते हुए इसका खण्डन किया है।

हमारी दृष्टि से नाट्यशास्त्र में पाया जानेवाला पूर्वोक्त पाठ प्रक्षिप्त है।

७ – यह मत आचार्य शार्ङ्गदेव, पण्डितमण्डली एवं कुम्भ इत्यादि का है और महर्षि भरत के अनुसार प्रतीत होता है। महर्षि का कथन है —

क्रमयुक्ताः स्वरास्सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।
षट्पञ्चकस्वरास्तासां षाडवौडुविताः स्मृताः॥
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः।
अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः॥

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

अर्थात्—क्रमयुक्त सात स्वर मूर्च्छना कहलाते हैं। उन मूर्च्छनाओं के षट्स्वर षाडव और पञ्चस्वर औडुवित की उत्पत्ति होती है। साधारणकृत, काकलीयुक्त, एवं अन्तरसंयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनों ग्रामों में होती हैं।

यहाँ षाडवित और औडुवित शुद्ध (अविकृत स्वर) मूर्च्छनाओं से उत्पन्न होनेवाले रूप हैं, जिनकी संख्या चौरासी और नाम 'तान' है। ये मूर्च्छनाओं के भेद नहीं।

षाडवित एवं औडुवित रूप शुद्ध मूर्च्छनाओं से ही बनते हैं, विकृत स्वरोंवाली मूर्च्छनाओं से नहीं, इसी लिए मूर्च्छना के शुद्ध रूप के साथ षाडवित और औडुवित की चर्चा की गयी है। महर्षि भरत के द्वारा उपदिष्ट चौरासी तानें शुद्ध मूर्च्छनाओं से ही बनती हैं। यही बात आचार्य शार्ङ्गदेव ने कही है —

तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० ११५

अर्थात्—शुद्ध मूर्च्छनाएँ षाडव या औडुवित किये जाने पर 'तान' कहलाती हैं।

कुछ और आचार्य भी यही कहते हैं —

एकद्विस्वरलोपेन षाडवौडुवितीकृताः।
तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः ग्रामद्वयमुपाश्रिताः॥

—पण्डितमण्डली, म० को०, पृ० ५०१

न चैतेषां मूर्च्छनात्वमेषु यत्स्वरलोपनम्।
....

हमें दूसरा पक्ष मान्य है, क्योंकि 'औडुवित' और 'षाडवित' अवस्था को महर्षि भरत ने 'तान' और सम्पूर्ण अवस्था को मूर्च्छना कहा है। सप्तस्वरता मूर्च्छना का प्रधान लक्षण है।

षड्ज-ग्राम में सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता।[८] इनके आरम्भिक स्वर क्रमशः षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम, मध्यम, गान्धार और ऋषभ हैं।[९]

अर्थात्—[१०]

१. उत्तरमन्द्रा	स	रे	ग	म	प	ध	नि
२. रजनी	नि़	स	रे	ग	म	प	ध
३. उत्तरायता	ध़	नि़	स	रे	ग	म	प
४. शुद्धषड्जा	प़	ध़	नि़	स	रे	ग	म
५. मत्सरीकृता	म़	प़	ध़	नि़	स	रे	ग
६. अश्वक्रान्ता	ग़	म़	प़	ध़	नी़	स	रे
७. अभिरुद्गता	रे़	ग़	म़	प़	ध़	नि़	स

तस्मात्सप्तस्वरैर्युक्ता मूर्च्छनोक्ता मनीषिभिः।
षट्पञ्चस्वरकास्तानाः भिद्यन्तेऽतः पृथक् ततः।
....................षाडवौडुवितीकृताः।
पृथक् चतुरशीतिः स्युरेवं षट्त्रिंशता युतम्।
शतत्रयं भवेयुस्ते न चैवं मुनिसम्मतम्।
तानाश्चतुरशीतिः स्युरिति तद्वचनं यतः।
विकृतस्वरलोपोऽतो नात्र विद्भिश्चिकीर्षितः।
प्रामाण्यान्मुनिवाक्यस्य शुद्धा एवात्र सम्मताः॥

—कुम्भ, भ० को०, पृ० २४४

८—आदावुत्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चोत्तरायता। चतुर्थी शुद्धषड्जा च पञ्चमी मत्सरीकृता॥ अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता। षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः॥ —भरत० ब० सं०, पृ० ४३४

९—आसां षड्जनिषादधैवतपञ्चममध्यमगान्धारर्षभाद्याः स्वराः। —भरत०, ब० सं०. पृ० ४३४

१०—तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति। —भरत, ब० सं०, पृ० ४३४

मध्यमग्राम में भी सात मूर्च्छनाएँ हैं, सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी और हृष्यका ।[११] इनके आरम्भक स्वर क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम हैं ।[१२]

अर्थात् —[१३]

१. सौवीरी	म	प	ध	नि	स	रे	ग
२. हारिणाश्वा	ग	म	प	ध	नि	स	रे
३. कलोपनता	रे	ग	म	प	ध	नि	स
४. शुद्धमध्या	स	रे	ग	म	प	ध	नि
५. मार्गी	नि़	स	रे	ग	म	प	ध
६. पौरवी	ध़	नी़	स	रे	ग	म	प
७. हृष्यका	प़	ध़	नि़	स	रे	ग	म

एक मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से होती है। षड्ज-ग्राम में यदि गान्धार की दो श्रुतियाँ चढ़ाकर उसे 'धैवत' मान लिया जाय, तो उसमें मध्यम-ग्राम की सभी शुद्ध मूर्च्छनाएँ मिल जायँगी ।[१४]

नवतन्त्री पर ग्रामसिद्धि के समय भी यह सत्य स्पष्ट किया जा चुका है। मण्डल-प्रस्तार में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

११—सौवीरी हारिणाश्वाथ स्यात्कलोपनता तथा ।
शुद्धमध्या तथा चैव मार्गी स्यात् पौरवी तथा ॥
हृष्यका चेति विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः ।
मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥
—भरत, ब० सं०, पृ० ४३४–४३५

१२—आसां मध्यमगान्धारर्षभषड्जनिषादधैवतपञ्चमा आनुपूर्व्याद्याः स्वराः ।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३५

१३—अथ मध्यमग्रामे—मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हारिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पञ्चमेन हृष्यका इति ।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३५

१४—द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः । तथा द्विश्रुतिप्रकर्षाद् धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छना-ग्रामयोरन्यतरत्वं षड्जग्रामे ।
—भरत०, ब० सं०, (का० सं०), अ० २८, पृ० ४३५

ग्रामद्वयमूर्च्छना-बोधक मण्डल-प्रस्तार

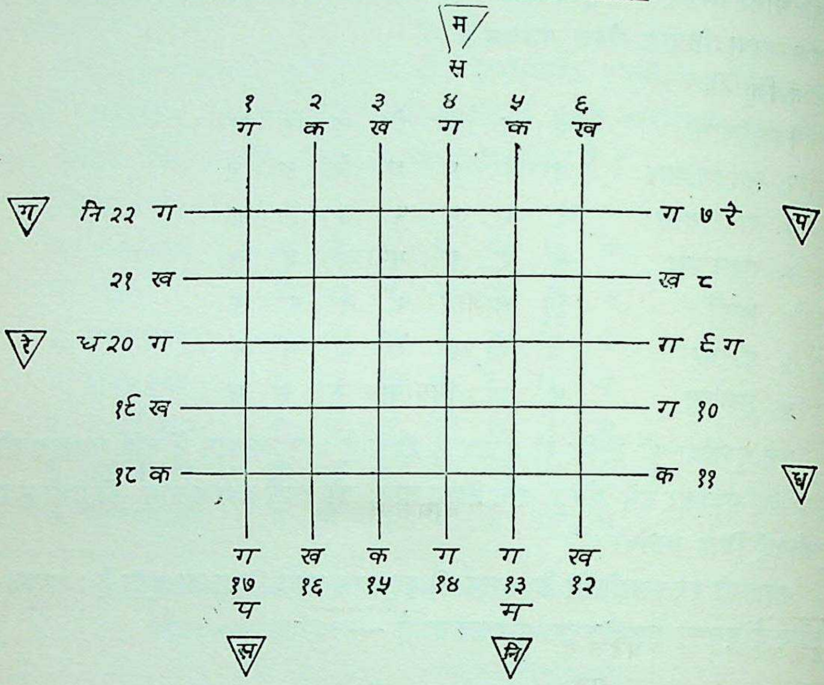

इस मण्डल-प्रस्तार में आपको दोनों ग्राम दृष्टिगोचर होंगे। मध्यम-ग्रामीय स्वर त्रिकोणों में दिखाये गये हैं।

ग्यारहवीं श्रुति भरतोक्त अन्तरगान्धार का स्थान है, जहाँ मध्यमग्राम का 'धैवत' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षड्जग्राम के अन्तरगान्धार को धैवत मान लेने पर षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना ही मध्यमग्राम की प्रथम मूर्च्छना बन जाती है।

इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि मध्यमग्राम के धैवत को दो श्रुति उतार कर उसे 'गान्धार' की संज्ञा दे देने पर मध्यमग्रामीय प्रथम मूर्च्छना ही षड्जग्रामीय प्रथम मूर्च्छना बन जायगी।[१५] इस क्रिया में मध्यमग्रामीय निषाद, धैवत द्वारा परित्यक्त दो श्रुतियाँ ले लेने के कारण उत्कर्षयुक्त होकर षड्जग्रामीय मध्यम बन जाता है।

१५—मध्यमग्रामेऽपि धैवतमार्दवात् निषादोत्कर्षाद् द्वैविध्यं भवति।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

द्विग्रामीय मण्डल-प्रस्तार भी हमें बताता है कि एक ग्राम का जो स्वर इस क्रिया के परिणामस्वरूप दूसरे ग्राम के जिस स्वर का स्थान ग्रहण करता है, उसके साथ उस स्वर का संवाद होता है। बदली हुई संज्ञावाले स्वर में भी श्रुतियाँ प्रायः उतनी ही होती हैं, जितनी श्रुतियाँ कि पूर्वसंज्ञावाले स्वर में होती हैं।[१६] मध्यम-ग्राम के पञ्चम और धैवत में चार श्रुतियों का अन्तर होता है,[१७] जब षड्जग्रामीय ऋषभ की संज्ञा मध्यमग्रामीय पञ्चम हो जाती है, तब षड्जग्रामीय गान्धार की दो श्रुतियाँ चढ़ा देने से अन्तर-गान्धारवाली श्रुति पर मध्यमग्रामीय चतुःश्रुतिक धैवत प्राप्त हो जाता है।[१८] षड्जग्रामीय मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, षड्ज भी मध्यमग्रामीय निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार एवं षड्ज बन जाते हैं।[१९]

निम्नलिखित सारणी में परस्पर प्रतिनिधित्व-जन्य संवाद स्पष्ट है। षड्जग्राम के स्वर का स्थान ग्रहण करनेवाले मध्यमग्रामीय स्वरों के साथ षड्ज-ग्रामीय स्वरों का षड्ज-मध्यम भाव से संवाद है।

ग्रामद्वय-बोधक सारणी

षड्जग्राम से मध्यमग्राम

षड्ज-मध्यमभाव (नवश्रुत्यन्तरसंवाद)	षड्ज-ग्रामीय संज्ञाएँ	मध्यमग्रामीय संज्ञाएँ	श्रुतिसंख्या (मध्यम-ग्रामीय)	मध्यमग्राम में प्राप्त श्रुतिक्रम
षड्ज-मध्यम	स	म	४	'ग, क, ख, ग'
ऋषभ-पञ्चम	रि	प	३	'क, ख, ग'
अन्तरगान्धार-धैवत	अ० गा०	ध	४	'ख, ग, ग, क'
मध्यम-निषाद	म	नि	२	'ख, ग'
पञ्चम-षड्ज	प	स	४	'ग, क, ख, ग'
धैवत-ऋषभ	ध	रे	३	'क, ख, ग'
निषाद-गान्धार	नि	ग	२	'ख,ग'

१६—तुल्यश्रुत्यन्तरत्वात् संज्ञान्यत्वम्। —भरत०, ब० सं० अ० २८, पृ० ४३५
१७—चतुःश्रुतिकमन्तरं पञ्चम-धैवतयोः। " " " "
१८—तद्वद्गान्धारोत्कर्षाच्चतुःश्रुतिकमेव भवति। " " " "
१९—शेषाश्चापि मध्यमपञ्चमधैवतनिषादषड्जर्षभा मध्यमादित्वं (निषादादित्वं ?) प्राप्नुवन्ति। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३५

जिन दो स्वरों में बीस श्रुतियों का अन्तर हो, वे परस्पर विवादी होते हैं[२०] और कदापि परस्पर प्रतिनिधित्व नहीं करते। ग्रामद्वयबोधक श्रुतिमण्डलप्रस्तार से यह स्पष्ट है कि ऋषभ 'गान्धार' से और धैवत 'निषाद' से बीसवीं श्रुति पर स्थित हैं, इसी लिए 'गान्धार-ऋषभ' परस्पर विवादी हैं और 'निषाद-धैवत' भी।

शुद्ध गान्धार और धैवत परस्पर ग्यारह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित होने के कारण संवादी नहीं हैं, फलतः षड्जग्राम से मध्यमग्राम बनाने में गान्धार को दो श्रुति चढ़ाकर धैवत के साथ उसका नव श्रुत्यन्तर संवाद बनाना पड़ता है, तब वह 'अन्तरगान्धार' संज्ञा-परिवर्तन होने पर मध्यमग्रामीय धैवत बनता है।

अन्तरगान्धार का एक महत्त्व और भी है, अन्तर स्वर होने के कारण वह हमें 'श्रुति' की प्राप्ति कराता है।

ग्रामसिद्धि में हम देख चुके हैं कि हमें षड्ज से मध्यम, मध्यम से निषाद और निषाद से गान्धार की प्राप्ति हो जाती है। धैवत की प्राप्ति हमें तब होती है, जब हम षड्ज का आश्रय पुनः लेकर अन्तर गान्धार की सिद्धि स्वतन्त्र रूप से करते हैं। फलतः गान्धार से धैवत और धैवत से ऋषभ की प्राप्ति होती है।

ऋषभ की प्राप्ति होने पर ही प्रथम सारणा सम्भव होती है, क्योंकि मध्यमग्रामीय पञ्चम का निर्माण ऋषभ के साथ उसका संवाद करने पर ही सम्भव होता है और 'प्रमाणश्रुति' की प्राप्ति होती है। इसी लिए अन्तर स्वर 'श्रुति' तक पहुँचानेवाले कहे गये हैं।[२१]

'श्रुति' की प्राप्ति का एक उपाय और भी है, परन्तु षड्जान्तर-भाव का आश्रय हमें उस अवस्था में भी लेना पड़ता है। पञ्चम से षड्जान्तर-भाव के आधार पर काकली-निषाद की सिद्धि, उससे षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर अन्तरगान्धार की सिद्धि और तत्पश्चात् धैवत और ऋषभ की सिद्धि करने पर प्रमाणश्रुति की प्राप्ति सम्भव है, परन्तु यह द्रविड़-प्राणायाम है।

षड्जान्तर भाव के आधार पर मध्यम से धैवत और निषाद से ऋषभ की सीधी सिद्धि भी सम्भव है। तात्पर्य यह है कि 'प्रमाणश्रुति' की प्राप्ति के लिए षड्जान्तर भाव का आश्रय हमें लेना ही पड़ता है।

२०—विवादिनस्तु ये तेषां स्याद् विंशतिकमन्तरम्।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३२

२१—जातिरागं श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वराः।

—भरत, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३७

गान्धार से षड्जान्तर-भाव के आधार पर भी हमें त्रिश्रुतिक पञ्चम प्राप्त हो सकता है, क्योंकि त्रिश्रुतिक पञ्चम गान्धार के पश्चात् सात श्रुतियों के अन्तर पर है।

तान —

मूर्च्छनाओं पर आश्रित तानें चौरासी हैं, उनमें उनचास षाडव और पैंतीस औड़व हैं। (शुद्ध मूर्च्छनाओं की संख्या सात होने के कारण) षड्जग्राम में षाडव मूर्च्छनाओं का लक्षण सात प्रकार का है। जैसे, षड्जग्राम में षड्ज, ऋषभ, पञ्चम और निषाद से रहित चार तानें हैं।[२२]

मध्यमग्राम में षड्ज, ऋषभ और गान्धार से हीन तीन तानें हैं। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओं में की जानेवाली ये (षाडव) तानें उनचास होती हैं,[२३] जो निम्नलिखित हैं —

उत्तरमन्द्रा —

१.	×	रे	ग	म	प	ध	नि
२.	स	×	ग	म	प	ध	नि
३.	स	रे	ग	म	×	ध	नि
४.	स	रे	ग	म	प	ध	×

रजनी —

५.	नी	×	रे	ग	म	प	ध
६.	नी	सा	×	ग	म	प	ध
७.	नी	सा	रे	ग	म	×	ध
८.	×	सा	रे	ग	म	प	ध

उत्तरायता —

९.	ध	नी	×	रे	ग	म	प
१०.	ध	नी	स	×	ग	म	प

२२–मूर्च्छनासंश्रितास्तानाश्चतुरशीतिः। तत्र एकोनपञ्चाशत् षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वराः। लक्षणं तु षट्स्वराणां सप्तविधम्। यथा षड्जर्षभगान्धारहीनाश्चत्वारस्तानाः षड्जग्रामे।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३७

२३–मध्यमग्रामे तु षड्जर्षभगान्धारहीनास्त्रयस्तानाः। एवमेते सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्त्येकोनपञ्चाशत्तानाः।

—भरत०, ब० सं०, अ० २९, पृ० ४२६

११. ध नी स रे ग म ×
१२. ध × स रे ग म प

शुद्ध षड्जा —

१३. प ध नी × रे ग म
१४. प ध नी सा × ग म
१५. × ध नी सा रे ग म
१६. प ध × सा रे ग म

मत्सरीकृता —

१७. म प ध नी × रे ग
१८. म प ध नी सा × ग
१९. म × ध नी सा रे ग
२०. म प ध × सा रे ग

अश्वक्रान्ता —

२१. ग म प ध नी × रे
२२. ग म प ध नी स ×
२३. ग म × ध नी स रे
२४. ग म प ध × स रे

अभिरुद्गता —

२५. रे ग म प ध नी ×
२६. × ग म प ध नी स
२७. रे ग म × ध नी स
२८. रे ग म प ध × स

सौवीरी (मध्यमग्राम) —

२९. म प ध नी × रे ग
३०. म प ध नी स × ग
३१. म प ध नी स रे ×

हारिणाश्वा —

३२. ग म प ध नी × रे
३३. ग म प ध नी स ×
३४. × म प ध नी स रे

कलोपनता —

३५.	रे	ग	म	प	ध	नी	×
३६.	×	ग	म	प	ध	नी	स
३७.	रे	×	म	प	ध	नी	स

शुद्धमध्या —

३८.	×	रे	ग	म	प	ध	नि
३९.	स	×	ग	म	प	ध	नि
४०.	स़	रे	×	म	प	ध	नि

मार्गी —

४१.	नी	×	रे	ग	म	प	ध
४२.	नी	सा	×	ग	म	प	ध
४३.	नी	सा	रे	×	म	प	ध

पौरवी —

४४.	ध	नी	×	रे	ग	म	प
४५.	ध	नी	स	×	ग	म	प
४६.	ध	नी	स	रे	×	म	प

हृष्यका —

४७.	प	ध	नी	×	रे	ग	म
४८.	प	ध	नी	स	×	ग	म
४९.	प	ध	नी	स	रे	×	म

पाँच स्वरवाली तानों का लक्षण पाँच ही प्रकार का है। जैसे, षड्जग्राम में "षड्ज-पञ्चम-हीन', 'ऋषभ-पञ्चम-हीन' और 'गान्धार-निषाद-हीन' तीन तानें (एक मूर्च्छना में) होती हैं। मध्यमग्राम (की एक मूर्च्छना) में 'गान्धार-निषाद-हीन' और 'ऋषभ-धैवत-हीन' दो तानें होती हैं। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओं में बनायी जानेवाली औडुव तानें पैंतीस होती हैं; षड्जग्राम में इक्कीस और मध्यमग्राम में चौदह ।[२४] इनके रूप निम्नलिखित हैं —

२४—पञ्चस्वराणां तु पञ्चविधमेव लक्षणम्। यथा षड्जपञ्चमहीना ऋषभ-पञ्चमहीना गान्धारनिषादहीना इति त्रयस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु गान्धारनिषादवद्धीनावृषभधैवतहीनाविति द्वौ तानौ। एवं पञ्चस्वराः

उत्तरमन्द्रा —

१.	×	रे	ग	म	×	ध	नि
२.	स	×	ग	म	×	ध	नि
३.	स	रे	×	म	प	ध	×

रजनी —

४.	नी	×	रे	ग	म	×	ध
५.	नी	स	×	ग	म	×	ध
६.	×	स	रे	×	म	प	ध

उत्तरायता —

७.	ध	नी	×	रे	ग	म	×
८.	ध	नी	स	×	ग	म	×
९.	ध	×	स	रे	×	म	प

शुद्धषड्जा —

१०.	×	ध	नी	×	रे	ग	म
११.	×	ध	नी	स	×	ग	म
१२.	प	ध	×	स	रे	×	म

मत्सरीकृता —

१३.	म	×	ध	नी	×	रे	ग
१४.	म	×	ध	नी	स	×	ग
१५.	म	प	ध	×	स	रे	×

अश्वक्रान्ता —

१६.	ग	म	×	ध	नी	×	रे
१७.	ग	म	×	ध	नी	स	×
१८.	×	म	प	ध	×	स	रे

अभिरुद्गता —

१९.	रे	ग	म	×	ध	नी	×
२०.	×	ग	म	×	ध	नी	स
२१.	रे	×	म	प	ध	×	स

सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्तानाः पञ्चत्रिंशद् भवन्ति। षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश।

—भरत, ब० सं०, अ० २८

सौवीरी (मध्यमग्राम) —

२२. म प ध × स रे ×
२३. म प × नी स × ग

हारिणाश्वा —

२४. × म प ध × स रे
२५. ग म प × नि स ×

कलोपनता —

२६. रे × म प ध × स
२७. × ग म प × नि स

शुद्धमध्या —

२८. स रे × म प ध ×
२९. स × ग म प × नि

मार्गी —

३०. × स रे × म प ध
३१. नि स × ग म प ×

पौरवी —

३२. ध × स रे × म प
३३. × नि स × ग म प

हृष्यका —

३४. प ध × स रे × म
३५. प × नि स × ग म

इस प्रकार उनचास षाडव तानों और पैंतीस औडुव तानों को जोड़ने से तानों की संख्या चौरासी होती है ।[२५]

षड्जग्राम में धैवत, मध्यमग्राम में पञ्चम एवं दोनों ग्रामों में मध्यम का लोप नहीं होता । मध्यम का लोप कदापि न होने के कारण उसे 'अविलोपी' या 'अविनाशी' कहा गया है ।[२६]

२५—एवमेत एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति । —भरत, ब० सं०, पृ० ४३६

२६—न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन । सप्तस्वराणां प्रवरो ह्यनाशी चैव मध्यमः ।। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४४२

पञ्चमं मध्यमग्रामे षड्जग्रामे तु धैवतम् । अलोपिनं विजानीयात्सर्वत्रैव तु मध्यमम् ।। —दत्तिल मुनि, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, सिंह० पृ० १०३

मूर्च्छनाओं का प्रयोजन

हम यह देख चुके हैं कि 'मूर्च्छनाएँ' तानों को जन्म देती हैं, परन्तु मूर्च्छनाओं और तदाश्रित तानों का प्रयोजन कुछ और भी है। इसे भली भाँति जानने के लिए प्राचीन वीणाओं के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

प्राचीन काल में दो प्रकार की वीणाएँ होती थीं —

(१) वे, जिनमें एक तार पर तीनों सप्तकों के इक्कीसों स्वर प्रत्यक्ष किये जाते थे।

(२) वे, जिनमें प्रत्येक स्वर के प्रत्यक्षीकरण के लिए अलग-अलग तार होते थे।

प्रथम प्रकार की वीणाओं में आदिम वीणा[२७] 'एकतन्त्री' में एक तार होता था, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है। एकतन्त्री वीणा के दूसरे नाम 'ब्रह्मवीणा',[२८] 'घोषक'[२९], 'घोषा'[३०] भी हैं। एकतन्त्री वीणा में पर्दे नहीं होते थे, जिस प्रकार आज 'सारङ्गी' या 'सरोद' में पर्दे नहीं होते। जिस प्रकार आज 'विचित्र वीणा' में स्वरों की सारणा बट्टे से की जाती है, उसी प्रकार एकतन्त्री में स्वरों की सारणा बाँस की बनी हुई एक बारह अंगुल की सलाई से की जाती थी, जिसे 'कम्रिका' कहा जाता था।[३१]

एकतन्त्री में पर्दे न होने के कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनियाँ सरलतापूर्वक निकाली जा सकती थीं,[३२] यह सुविधा उन वीणाओं में न थी, जिनमें प्रत्येक स्वर के लिए अलग-अलग तार थे। एकतन्त्री पर तीनों सप्तकों का प्रत्यक्षीकरण पूर्णतया सम्भव था।

२७—प्रकृतिस्सर्ववीणानामेषा श्रीशार्ङ्गिणोदिता।
—आचार्य शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २३७

२८—इयं ब्रह्मवीणेत्यपि कथ्यते। —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ८९

२९—घोषकश्चैकतन्त्रिका। —आ० शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २४८

३०—इदमेकतन्त्र्या वीणाया नामान्तरम्। —श्रीकण्ठ, भ० को०, पृ० १९४

३१—शलाकां वेणुनिर्वृत्तां द्वादशाङ्गुलमात्रिकाम्।
वामहस्तकनिष्ठायां पृष्ठे विन्यस्य तत्परम्॥
संवेष्ट्यानामिकाङ्गुल्या तर्जन्यङ्गुष्ठकस्ततः।
सम्पीड्य गाढमनया वादयेदखिलान् स्वरान्॥
—हरिपाल, भ० को०, पृ० ४२७

३२—श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्ताना नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीकवीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम्॥
समुदायोऽस्ति नान्यत्र मतङ्गोऽप्याह तत्तथा।
...एकतन्त्र्यां स्वयमेवास्ति सरस्वतीति॥ —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ८९

'मत्त-कोकिला' वीणा तीनों सप्तकों अर्थात् स्थानों की दृष्टि से पूर्ण थी। इसमें इक्कीस तार होते थे। सात-सात तारों पर क्रमशः एक-एक सप्तक मिला रहता था।

'जाति' या 'राग' के वादन में मन्द्रस्थान में जाने की परावधि और तारस्थान में जाने की परावधि 'मत्तकोकिला' और 'एकतन्त्री' में प्राप्त हो सकती थी।

कल्पना कीजिए कि किसी 'जाति' या 'राग' में 'षड्ज' अंश स्वर है तो मन्द्र षड्ज[३३] उस 'जाति' में मन्द्रस्थान में जाने की अन्तिम अवधि तथा षड्ज से सप्तम अर्थात् निषाद तारस्थान में जाने की अन्तिम अवधि था।[३४] मन्द्र और तार स्थान की ये दोनों पराकाष्ठाएँ 'मत्तकोकिला' पर उस समय सरलतापूर्वक सम्भव हैं, जब कि तीनों सप्तकों में 'षड्जादि' मूर्च्छना उस पर मिली हुई हों।

इसी प्रकार 'ऋषभ' अंशवाली 'जाति' के वादन में मन्द्र और तार स्थान में भरतोक्त पराकाष्ठा की प्राप्ति तभी सम्भव थी, जब मत्तकोकिला के इक्कीस तार ऋषभादि (रे, ग, म, प, ध, नि, स—रे, ग, म, प, ध, नि, स—रे, ग, म, प, ध, नि, स) मूर्च्छना में मिले हों। एक 'जाति' के 'अंश' स्वर कई हो सकते थे और उनके अनुसार मूर्च्छना परिवर्तित होती थी। मत्तकोकिला वीणा में मन्द्र एवं तार स्थान की पराकाष्ठाओं का मिलना सम्भव था। मन्द्र-तार-नियमों में विकल्प भी किया गया था। इस सम्बन्ध में 'मन्द्र' स्थान की अवधि 'न्यास' और 'अपन्यास'[३५] स्वर को भी मान लिया गया और तारस्थान में अंश स्वर से चौथे या पाँचवें स्वर[३६] को भी तारावधि मान लिया गया। फलतः मन्द्र और तारावधियों में संकोच हो गया।

अस्तु, इस प्रकार हम देखते हैं कि 'जाति' या 'राग' के प्रयोग में मन्द्र और तार सप्तक में प्रयोज्य अवधियों का निर्णायक 'अंश'[३७] स्वर है। मूर्च्छनाओं का आश्रय लेने से

३३–मन्द्रस्त्वंशपरो नास्ति। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४४३

३४–सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते। —भरत०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, कल्लि० पृ० १८५

३५–त्रिविधा मन्द्रगतिः, अंशपरा न्यासपरा अपन्यासपरा च। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४४३

३६–अंशात्तारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आपञ्चमात्सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते॥
—भरत०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १८५

३७–रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते।
नेता च तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥

मन्द्र और तार अवधियों की प्राप्ति हो जाती है और 'वादक' एवं श्रोता को सुविधा या सुख की प्राप्ति होती है।[३८] किसी विशेष जाति के लिए विशेष मूर्च्छना की बात महर्षि भरत के विधान के अनुसार नहीं उठती। जातिविशेष में प्रयोज्य मन्द्र और तार अवधियों के विकल्प के अनुसार स्थापनीय मूर्च्छनाओं में 'विकल्प' वादक कर सकता था।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने एक जाति के लिए एक 'मूर्च्छनाविशेष' का निर्देश किया, क्योंकि महर्षि भरत के पश्चात् मन्द्रावधि[३९] और तारावधि[४०] वाले नियमों में शिथिलता आ गयी थी और वादक को यह स्वतन्त्रता मिल गयी थी कि वह इन दोनों स्थानोंमें इच्छापूर्वक (जहाँ तक चाहे) जाय।[४१]

फलतः एक नियम निश्चित किया गया कि 'जाति' में अंशबाहुल्य (अंशों की बहुलता) को देखकर मूर्च्छना का निश्चय बुद्धिमानों को स्वयं कर लेना चाहिए,[४२] अर्थात् जाति में निर्दिष्ट अनेक अंशस्वरों को देखते हुए ऐसी मूर्च्छना मिलानी चाहिए कि किसी भी स्वर को अंश मानकर जाति का वादन किया जाय, तो यथासम्भव मन्द्र एवं तार स्वर मिल सकें।

इस बात का परिणाम यह हुआ कि विशेष जाति के लिए आचार्यों ने विशेष मूर्च्छना निर्दिष्ट की, परन्तु इसका परिणाम वैसा सन्तोषप्रद नहीं हुआ, जैसा कि होना चाहिए था; तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्यों ने जातिवादन के समय मूर्च्छना निश्चित करने का कार्य वादकों पर छोड़ दिया।

इस विषय पर कुछ विस्तृत विचार की आवश्यकता को देखते हुए हम मतङ्ग के मूर्च्छनासम्बन्धी मत एवं उस पर अन्य आचार्यों की प्रतिक्रिया देखेंगे।

ग्रहापन्यासविन्याससंन्याससन्यासयोगतः ।
अनुवृत्तश्च यश्चेह सोऽशः स्याद् दशलक्षणः ॥

—भरत०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १८२

३८—इत्थं प्रयोक्तुः श्रोतुः सुखार्थं तानमूर्च्छनातत्त्वम्। मूर्च्छनाप्रयोजनमपि स्थानप्राप्तिः। —भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३६

३९—ततोऽर्वाक् कामचारिता। —शार्ङ्गदेव, सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० १८६

४०—अर्वाक् तु कामचारः स्यात्। —शार्ङ्गदेव, सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० १८४

४१—उक्तावधेरर्वाङ्‌ न्यूनतायां कामचारिता गातुरिच्छयाऽशक्त्या वाऽप्रवर्तमानत्वम्।
—कल्लिनाथ, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १८६-१८७

४२—ज्ञात्वा जात्यंशबाहुल्यं निर्देश्या मूर्च्छना बुधैः।
—कश्यप, सं० र०, अ० सं०, रागा०, कल्लि०, पृ० ३२

द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद

प्राचीन आचार्य, अर्थात् महर्षि भरत और उनके अनुयायी, मूर्च्छनाओं का प्रयोजन कण्ठ तथा तन्त्रीवाद्यों पर जातिविशेष या रागविशेष में प्रयोज्य मन्द्र, मध्य एवं तारस्थानों की प्राप्ति मानते थे, परन्तु मतङ्ग ने मूर्च्छना में राग की सिद्धि भी ढूँढ़नी चाही।[४३] उनका तात्पर्य था कि मूर्च्छना में मन्द्र तथा तारस्थान के भी कुछ स्वर सम्मिलित होने चाहिए। मन्द्र और तार स्वरों के दर्शन से ही राग की सिद्धि हो सकती है, फलतः मूर्च्छना में बारह स्वर होने चाहिए।[४३]

इस दृष्टिकोण से आचार्य मतङ्ग ने महर्षि भरत की मूर्च्छनाओं में पहले या पीछे कुछ अन्य स्वर जोड़े। परिणामतः मतङ्ग की मूर्च्छनाओं का स्वरूप निम्नलिखित[४४] हो गया—

१. उत्तरमन्द्रा	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग
२. रजनी	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म
३. उत्तरायता	स	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प
४. शुद्धषड्जा	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध
५. मत्सरीकृता	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि
६. अश्वक्रान्ता	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स
७. अभिरुद्गता	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे

मध्यमग्राम[४५]

१. सौवीरी	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म
२. हारिणाश्वा	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प

४३—मूर्च्छते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५०१

यद्यप्याचार्य्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः। स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वररेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः।......एवं च सति रागसिद्धिः स्यात्।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० २८९

४४—तेन 'धनिसरेगमपधनिसरेग' इत्युत्तरमन्द्रा। 'निसरिगमपधनिसरेगम' इति रजनी। 'सरिगमपधनिसरिगमप' इत्युत्तरमन्द्रा। एवं क्रमात् शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता, अभिरुद्गता च जायन्ते। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २८९

४५—मध्यमग्रामे तु एवमेव 'निसरेगमपधनिसारेगम' सौवीरी। 'सरिगमपधनि-

३. कलोपनता	**रे**	**ग**	**म**	**प**	**ध**	**नि**	**स**	रे	ग	म	प	ध
४. शुद्धमध्या	ग	म	प	ध	नी	**स**	**रे**	**ग**	**म**	**प**	**ध**	**नी**
५. मार्गी	म	प	ध	**नी**	**स**	**रे**	**ग**	**म**	**प**	**ध**	नि	स
६. पौरवी	प	**ध**	**नि**	**स**	**रे**	**ग**	**म**	**प**	ध	नि	स	रे
७. हृष्यका	ध	नी	स	रे	ग	म	**प**	**ध**	**नि**	**स**	**रे**	**ग**

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि महर्षि भरत की मूर्च्छनाओं का क्रम अवरोहोन्मुख है, अर्थात् उनकी षाड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ क्रमशः 'स, नि, ध, प, म, ग, रे,' तथा माध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ क्रमशः 'म, ग, रे, स, नि, ध, प' से आरम्भ होती हैं। परन्तु मतङ्ग की मूर्च्छनाओं का क्रम आरोहोन्मुख है, अर्थात् उनकी द्वादशस्वर-मूर्च्छनाएँ षड्जग्राम में क्रमशः 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' और मध्यमग्राम में 'नी, स, रे, ग, म, प, ध' से आरम्भ होती हैं।

इस क्रम-विरोध के परिणामस्वरूप महर्षि भरत की अश्वक्रान्ता और हृष्यका मूर्च्छनाओं के पूर्ण रूप मतङ्ग की मूर्च्छनाओं में नहीं मिलते। द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं में स्थूलाक्षरों में मुद्रित स्वर महर्षि भरत की मूर्च्छनाओं का मूल रूप प्रकट करते हैं।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने 'द्वादश-स्वर-मूर्च्छनावाद' का खण्डन करते हुए उस पर निम्नलिखित आक्षेप किये—[४६]

(क) मूर्च्छना का लक्षण क्रमशः आरोह-अवरोह है, द्वादशस्वर 'उत्तरमन्द्रा' का आरम्भिक स्वर धैवत है, जो किसी ग्राम के मूल सप्तक का आदिम स्वर नहीं। फलतः उत्तरमन्द्रा का धैवतादित्व किसी क्रमसम्बन्धी सिद्धान्त पर आश्रित नहीं। मध्यमग्रामीय द्वादशस्वर 'सौवीरी' का निषादादित्व भी इसी प्रकार अकारण है।

सप्तस्वर मूर्च्छनाओं में आरोह की समाप्ति के पश्चात् हमें अग्रिम स्वर अगले सप्तक में वही मिलता है, जो मूर्च्छना का आरम्भिक स्वर है, इस प्रकार क्रम बना रहता

सरेगमप' हारिणाश्वा। 'रिगमपधनिसरेगमपध' कलोपनता। एवं शुद्धमध्या मार्गी, पौरवी, हृष्यका ऊह्याः। —मतङ्ग० भ० को०, पृ० २८९

४६—अत्र या मूर्च्छनाः प्राह द्वादशस्वरसम्भवाः।
मतङ्गोऽस्य मतं नैव सुन्दरं प्रतिभाति मे॥
अत्रैव कोहलाचार्य्यो नन्दिकेश्वर एव च। मतङ्गमनुसृत्यैवोचतुस्तदिह वर्ण्यते॥
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः। अत्र प्रतिसमाधत्ते खुम्भाणकुलनन्दनः॥
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

है। परन्तु द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं में आरोह की समाप्ति पर अगला स्वर मूर्च्छना के आरम्भिक स्वर के अतिरिक्त ही मिलता है, फलतः क्रमभङ्ग होता है।[४७]

(ख) द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद की स्थापना का आधार यह है कि बारह स्वरों में जाति या राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह आधार ठीक नहीं, क्योंकि 'नन्दयन्ती' जाति का रूप तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक उसमें मन्द्र, मध्य एवं तार 'ऋषभ' का प्रयोग न हो। मन्द्र ऋषभ से तार ऋषभ तक स्वरों की संख्या पन्द्रह होने के कारण किसी भी द्वादशस्वर मूर्च्छना की सीमा में 'नन्दयन्ती' की सिद्धि नहीं हो सकती।[४८] फलतः द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद व्यर्थ है।

(ग) षाडवित जाति में बारह स्वरों का अर्थ दो सप्तक और औडुवित जातियों में प्रायः ढाई सप्तक होता है। अतः द्वादशस्वरमूर्च्छना का लक्षण स्वरसंख्या के आधार पर उन स्थितियों में भी घटित होने के कारण द्वादशस्वरमूर्च्छना तीनों सप्तकों को घेरने लगेगी। यदि इस अतिव्याप्ति-दोष से बचने के लिए षाडवित और औडुवित जातियों में लुप्तस्वरों की भी गणना की जाय, तो लोप्य स्वरों को धारण करने के कारण मूर्च्छना कुछ 'जातियों' या 'रागों' की जननी नहीं रहती।[४९]

(घ) महर्षि भरत की उत्तरमन्द्रा में 'स-प', 'रे-ध', 'ग-नि' में षड्ज-पञ्चम-भाव और 'स-म' में षड्ज-मध्यम-भाव है। इसी प्रकार उनकी माध्यमग्रामिक सौवीरी में 'म-नि', 'ध-रे', 'नि-ग' और 'स-म' में षड्ज-मध्यम-भाव है तथा 'प-रे' में षड्ज-पञ्चम-भाव। अर्थात् षड्जग्राम की आधारभूत प्रथम मूर्च्छना में षड्ज-पञ्चम-भाव एवं मध्यमग्राम की मूलभूत प्रथम मूर्च्छना में षड्ज-मध्यम-भाव का प्राधान्य है। द्वादश-स्वर षाड्जग्रामिक प्रथम मूर्च्छना धैवतादि 'उत्तरमन्द्रा' में आदिम स्वर धैवत के साथ मूर्च्छना का पाँचवाँ स्वर 'गान्धार' संवाद नहीं करता, इसी प्रकार ऋषभ, जो 'पञ्चम' से पाँचवाँ स्वर है, पञ्चम से संवाद नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि द्वादश-स्वर-मूर्च्छना 'उत्तरमन्द्रा' में 'ध-रे', 'प-स', 'नि-ग' में षड्ज-मध्यम-भाव-संवाद मिल जाता

४७—क्रमात्स्वराणामारोहावरोहौ मूर्च्छनेति यत्।
लक्षणं तद् विहन्येत क्रमादारोहणाद् ऋते॥ —कुम्भ, भ० को०, पृ० २८९

४८—यदुक्तं जातिभाषादितारमन्द्रादिसिद्धये।
द्वादशस्वरगुम्फेन मूर्च्छना स्यात्प्रयोजिका।
नन्दयन्त्यां तदव्याप्तेः तत्पञ्चदशसम्भवात्॥ —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

४९—षाडवौडुवितस्यातिव्याप्तिलोप्यादिसम्भवात्। —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

है, तो यह युक्ति बलिष्ठ नहीं, क्योंकि इस दशा में भी द्वादशस्वर 'उत्तरमन्द्रा' में षड्ज-पञ्चम-भाव का वह प्राधान्य नहीं रहता, जो षड्जग्राम की मूल मूर्च्छना के लिए अनिवार्य है ।

इसी प्रकार द्वादशस्वर निषादादि 'सौवीरी' मूर्च्छना में गान्धार को कोई परवर्ती और धैवत को कोई पूर्ववर्ती स्वर ऐसा न मिलेगा, जो षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद करता हो, फलतः मध्यमग्राम के लिए आवश्यक षड्ज-मध्यम-भाव मध्यम-ग्रामीय द्वादशस्वर प्रथम मूर्च्छना में न मिलेगा ।[५०]

(ङ) सप्तस्वर 'उत्तरमन्द्रा' तथा 'सौवीरी' में संवाद का क्रम उनके उच्चारण में एक विशिष्ट रञ्जन उत्पन्न करता है । संवादक्रम का विघात होने से द्वादशस्वर उत्तरमन्द्रा एवं सौवीरी के उच्चारण में वैसा रञ्जन नहीं रहता ।[५१]

(च) 'जाति' या 'राग' के निर्माण में कुछ स्वरों का लङ्घन, ईषत्स्पर्श करना पड़ता है, यह क्रिया मूर्च्छना में क्रमभङ्ग करती है, अतः मूर्च्छनाओं का प्रयोजन कूट तानों का निर्माण इत्यादि है, वे रागों की जननी नहीं । फलतः उनका सप्तस्वर होना ही उचित है ।[५२]

इन्हीं सब कारणों से मतङ्ग के पश्चाद्वर्ती अनेक आचार्यों ने द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया ।[५३]

५०—विसंवादिसमावेशाद् रक्तिभङ्गो यतः स्मृतः । —कुम्भ०, भ०, को०, पृ० २८९

५१—न तावत्क्रमतोच्चारे रक्तिः कुत्रापि जायते । —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

५२—ईषत्स्पर्शाल्लङ्घनाद्यैः क्रमभङ्गस्य शासनात् ।
कूटतानोपयोगित्वं मुख्यमासां प्रयोजनम् ।।
न रागजनिरेषातश्चार्वी सप्तस्वरेरिता ।। —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

५३—आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है । प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है—
अत्र (यन्मतङ्गेन विवृता) द्वादशस्वरमूर्च्छना सा अभिनवादिभिरनादृता ।
—भ० को०, पृ० ४२४

पुनः एक अन्य स्थल पर उनका कहना है—
He (Kumbha) entered into Sastric discussions so well mastered by Abhinava. —भूमिका, भ० को०, पृ० १९

फलतः हमने यहाँ कुम्भ के मत का उल्लेख किया है । नान्यदेव ने जातिलक्षणों में उनकी मूर्च्छनाओं का निर्देश नहीं किया ।

वादन में मूर्च्छनाजन्य सौकर्य—

मतङ्ग मुनि के 'द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद' का खण्डन अनेक आचार्यों ने भले ही किया हो, परन्तु वादन-सौकर्य के लिए मूर्च्छना का उपयोग सभी को मान्य रहा है। इस वादन-सौकर्य को भली भाँति देख लिया जाय।

चाहे प्राचीन एकतन्त्री हो या आज का सितार, उस पर मेरु और घुड़च के ठीक मध्य भाग में मुक्त तार से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि से द्विगुण ध्वनि निकलेगी। तार के मध्य भाग में निकलने के कारण ही इसे 'मध्यम' कहा जाता है, इसका अर्थ सप्तक का मध्यम स्वर नहीं। इस 'मध्यम' स्वर को मूर्च्छनाओं का आरम्भक स्वर कहा गया है,[५४] मध्य सप्तक[५५] का आरम्भक स्थान यही है, इससे पूर्व मुक्त तार तक सम्पूर्ण मन्द्र सप्तक की प्राप्ति होती है।

प्राचीन काल में इसी स्थान को षड्ज मानकर षाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा एवं मध्यम मानकर माध्यमग्रामिक सौवीरी का आरम्भ होता था।

कुम्भ ने कहा है कि यदि 'मूलभूत ऊर्ध्वतन्त्री' (बाज का तार) तथा पार्श्वतन्त्री (बड़ी चिकारी ?) षड्ज में और 'ह्रस्वा तन्त्री' (छोटी चिकारी) पञ्चम में मिली हों, तो षड्जग्राम होता है।[५६]

नान्यदेव एवं प्रस्तुत प्रकरण पर आचार्य अभिनवगुप्त की टीकाएँ अमुद्रित होने के कारण यहाँ 'भरतकोश' के आधार पर कुम्भ का मत उद्धृत किया गया है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने मतङ्ग के मत के अनुसार जातियों की मूर्च्छना का निर्देश किया है, परन्तु मूर्च्छना की द्वादशस्वरता उन्हें भी मान्य नहीं हुई, उन्होंने संगीतरत्नाकर में मूर्च्छनाएँ सप्तस्वर मानी हैं, द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं की चर्चा तक उन्होंने नहीं की।

५४—मध्यमस्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशो भवति...

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३६

५५—मतङ्गोऽपि—'मध्यसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्य्यो मन्द्रतारसिद्ध्यर्थम्' इति।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १०४

मध्यस्थानस्थषड्जेन मूर्च्छनारभ्यतेऽग्रिमा।

—आ० शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०५

५६—मौलोर्ध्वतन्त्रिका पार्श्वतन्त्र्यौ द्वे षड्जगे यदि।
ह्रस्वा पञ्चमगा चेत्स्यात् षड्जग्रामो भवेदयम्॥

—मतङ्ग किन्नरी लक्षण, भ० को०, पृ० ४५५

ऊर्ध्वतन्त्री (बाज का तार) यदि मध्यम में मिली हो और पार्श्वतन्त्रियाँ (चिकारियाँ) क्रमशः षड्ज एवं मध्यम में मिली हों, तो मध्यमग्राम होता है।[५७]

अतः यह स्पष्ट है कि षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना में तार के मध्य में निकलनेवाली ध्वनि 'मध्य षड्ज' और मध्यमग्राम की प्रथम मूर्च्छना में 'मध्य मध्यम' कहलाती थी तथा षड्जग्रामीय सप्तक का आरम्भ 'षड्ज' तथा मध्यमग्रामीण सप्तक का आरम्भ मध्यम से होता था।

मतङ्ग-किन्नरी

षड्ज-ग्राम		मध्यम-ग्राम		
मेरु	स	मेरु	म	
पर्दे—१	रे	पर्दे—१	प	
२	ग	२	ध	
३	म	३	नि	मन्द्र स्थान
४	प	४	स	
५	ध	५	रे	
६	नि	६	ग	
७	स	७	म	
८	रे	८	प	
९	ग	९	ध	
१०	म	१०	नि	मध्य स्थान
११	प	११	स	
१२	ध	१२	रे	
१३	नि	१३	ग	
१४	स	१४	म	
१५	रे	१५	प	
१६	ग	१६	ध	तार स्थान
१७	म	१७	नि	
१८	प	१८	स	

मतङ्ग की जिस वीणा में तारों के मिलाने का क्रम पूर्वनिर्दिष्ट है, वह उनकी

५७—ऊर्ध्वतन्त्री यदि भवेन्मध्यमस्वरयोगिनी।
तत्पार्श्वे तन्त्रिकाद्वन्द्वं षड्जमध्यमगं यदि॥
मध्यमग्रामगा ज्ञेया तदेयं किन्नरी बुधैः॥

—वही, भ० को०, पृ० ४५५

'किन्नरी' है। इस 'किन्नरी' में अठारह सारिकाएँ (पर्दे) हैं। एक वाज का तार और दो चिकारियाँ हैं।

मतङ्ग की इस वीणा में उन्नीस स्वरों की प्राप्ति सम्भव है, एक स्वर मुक्त अर्थात् मेरुसंस्थ तार पर तथा अठारह स्वर अठारह पर्दों पर उपलव्ध होते हैं।[५८] (उपर्युक्त सारणी में यह स्थिति दिखलायी गयी है।)

मतङ्ग-किन्नरी में षड्जग्राम से मध्यमग्राम वनाने के लिए दूसरे, नवें और सोलहवें पर्दों पर स्थित तीनों सप्तकों के गान्धारों को जब अन्तरगान्धार वना दिया जायगा, तव वे मेरु पर निकलनेवाली ध्वनि को 'मध्यम' मानने पर मध्यमग्रामीय धैवत बन जायँगे।

इस समय जो स्थिति है, उसमें षड्जग्रामीय 'षड्जादि' अथवा मध्यमग्रामीय 'मध्यमादि' मूर्च्छना में किन्नरी की सारणा की गयी है। मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थान (सप्तक), सातवें से तेरहवें तक मध्यस्थान तथा चौदहवें से अठारहवें तक तारस्थान (के पाँच स्वर) है।

सातवाँ पर्दा मेरु और घुड़च के ठीक मध्य भाग में होने के कारण "वीणा का 'मध्यम' स्वर" (सप्तक का मध्यम स्वर नहीं) है और मध्यसप्तक का आरम्भिक स्थान भी है। किन्नरी पर कोई भी मूर्च्छना मिलायी जाय, सातवें पर्दे पर उस मूर्च्छना का आरम्भिक स्वर स्थापित करना होगा, फलतः उस स्वर का मन्द्र रूप हमें मुक्त तार की ध्वनि पर प्राप्त हो जायगा।

मतङ्ग की किन्नरी में इस समय जो 'मूर्च्छना' मिली हुई है, उस पर षाड्जग्रामिक तार धैवत या निषाद अथवा माध्यमग्रामिक तार ऋषभ या गान्धार की प्राप्ति अन्तिम पर्दे पर मीड से होती है।

यदि मूर्च्छना का आरम्भ 'गान्धार' से हो, अर्थात् सातवें पर्दे पर निकलनेवाली ध्वनि को 'गान्धार' मानकर अन्य पर्दों को अग्रिम स्वरों की श्रुतिसंख्या के अनुसार उतार-चढ़ाकर यथास्थान स्थापित कर लिया जाय, तो किन्नरी के सत्रहवें पर्दे पर तार धैवत और अठारहवें पर्दे पर निषाद की प्राप्ति हो जायगी, तार षड्ज और ऋषभ अन्तिम पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे। इसी लिए मूर्च्छना का प्रयोजन स्थान-प्राप्ति कहा गया है।[५९]

५८–अष्टादशाथवा दण्डपृष्ठे न्यस्य यथायथम् ॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ४५५

५९–मूर्च्छनाप्रयोजनमपि स्थानप्राप्तिः।
—भरत०, ब० सं०, (का० सं०) अ० २८, पृ० ४३६

निष्कर्ष यह है कि वादक को पहले यह सोच लेना चाहिए कि उसे मन्द्र एवं तार-स्थानों में किस मन्द्रतम और तारतम स्वर का उपयोग करना है। यह निश्चय हो जाने पर सातवें तार के पर्दे से निकलनेवाली ध्वनि को मध्यसप्तक का वही स्वर मानना चाहिए, जिस स्वर तक मन्द्रस्थान में जाना है, फलतः मुक्त तार पर उस स्वर की मन्द्र अवस्था मिल जायगी। कल्पना कीजिए कि हमें किसी राग में मन्द्र ऋषभ से तार धैवत तक उन्नीस स्वरों का प्रयोग करना है, तो हमें सातवें पर्दे की ध्वनि को मध्य सप्तक का ऋषभ मानकर अन्य पर्दों की (इस प्रकार आवश्यकतानुसार उतार-चढ़ाव कर) स्थापना कर लेनी चाहिए कि आठवें इत्यादि पर्दों पर गान्धार इत्यादि परवर्ती स्वर एवं छठे इत्यादि पूर्ववर्ती पर्दों पर यथाक्रम षड्ज इत्यादि पूर्ववर्ती स्वर बोलने लगें।

इस क्रिया के परिणामस्वरूप मुक्त तार पर 'मन्द्र ऋषभ' और अठारहवें पर्दे पर 'तार धैवत' की प्राप्ति होने लगेगी।

यदि आपको किसी राग में मन्द्र मध्यम से तार मध्यम या पञ्चम तक पन्द्रह या सोलह स्वरों का ही उपयोग करना है, तो आपका काम ऋषभादि मूर्च्छना से भी चल सकता है और षड्जादि से भी, क्योंकि आपके अभीष्ट स्वर इन्हीं दो मूर्च्छनाओं में ही नहीं; षड्जादि, ऋषभादि, गान्धारादि और मध्यमादि मूर्च्छनाओं में भी मिल जायँगे। एक मूर्च्छना की स्थापना का परिणाम किन्नरी पर उन्नीस स्वरों की प्राप्ति होता है, आपको जब केवल पन्द्रह या सोलह स्वर चाहिए, तो वे स्वभावतः कई मूर्च्छनाओं में मिल सकेंगे।

जाति के साथ विशेष मूर्च्छना का निर्देश

विशेष जाति की विशेष मूर्च्छना का निर्देश मतङ्ग ने किया है। उनका यह निर्देश इसी सिद्धान्त के आधार पर है।

एक जाति में 'अंश' स्वर कई हो सकते हैं। मन्द्र और तार अवधि का नियामक 'अंश' स्वर होता है। 'न्यास' और 'अपन्यास' स्वर भी मन्द्र अवधि के नियामक होते हैं, फलतः मतङ्ग ने विचारपूर्वक जाति के विभिन्न अंश स्वरों को देखते हुए जातिविशेष के लिए ऐसी मूर्च्छना निश्चित की, कि उसके अनुसार सारणा करके बजाने पर जाति के शुद्ध एवं विकृत रूपों का वादन उस एक ही मूर्च्छना में सम्भव हो सके।

ऐसी स्थिति में हमें जाति के विभिन्न रूपों में मन्द्रस्थानीय अंश, न्यास या अप-न्यास स्वर की प्राप्ति हो जाती है और तारस्थान में अंश स्वर के पश्चात् कभी एक या

अनेक स्वर प्राप्त हो जाते हैं। किसी विकृत रूप के वादन में मन्द्रस्थानीय स्वर भी एक-दो ही मिलते हैं।

जातिविशेष के लिए मूर्च्छनाविशेष के निश्चय का परिणाम ही यह हुआ कि मन्द्र एवं तार स्थान में अवधिसम्बन्धी नियमों का पालन पूर्णतया सम्भव न हुआ और यह मान लिया गया कि मन्द्रस्थान एवं तारस्थान में जाना, न जाना या किसी विशेष स्वर तक जाना प्रयोक्ता की इच्छा पर है।

जहाँ तक महर्षि भरत का सम्बन्ध है, उनके अनुसार जाति के प्रत्येक रूप के लिए ऐसी मूर्च्छना निश्चित की जानी चाहिए, जिसका आरम्भक अभीष्ट अंश स्वर हो, फलतः मन्द्र, मध्य एवं तार स्थान के सम्पूर्ण स्वर मिलेंगे। मत्तकोकिला-जैसे वाद्य में प्रथम, अष्टम एवं पन्द्रहवें तार को अभीष्ट अंश स्वर की संज्ञा देकर अन्य तारों को श्रुतिसंख्या के अनुसार उतार-चढ़ाकर स्थापित कर लेना चाहिए। इस क्रिया के परिणामस्वरूप मन्द्रावस्था में अंश स्वर मिलेगा, जो मन्द्रस्थान की अन्तिम अवधि है और तारस्थान में तार अंश से सप्तम स्वर इक्कीसवें तार पर मिलेगा, जो तारस्थान की अन्तिम अवधि है।

महर्षि भरत ने वीणा के 'मध्यम' (वीणा के मध्य में स्थित, एकतन्त्री वीणा में मेरु एवं घुड़च के मध्य भाग में तार पर निकलनेवाली ध्वनि) से मूर्च्छना स्थापित करने का निर्देश एकतन्त्री के सम्बन्ध में किया है, जिसमें वादन-क्रिया एक तार पर होती है, अतः मध्य सप्तक वहीं से आरम्भ होता है। मत्तकोकिला इत्यादि वीणाओं में मूल मध्यम सप्तक का आरम्भ आठवें तार से होने के कारण सारणा क्रिया का आधार आठवाँ तार ही होगा।

यदि कोई व्यक्ति मत्तकोकिला के मध्यम (बीचवाले अर्थात् ग्यारहवें) तार से मध्य सप्तक का आरम्भ करने की चेष्टा करे, तो मध्य सप्तक की समाप्ति सत्रहवें तार पर होगी, शेष चार तारों पर तार-सप्तक के केवल चार स्वर मिलेंगे, मन्द्र सप्तक का आरम्भक स्वर चौथे तार पर बोलेगा और आरम्भिक तीन तार व्यर्थ होंगे। फलतः मत्तकोकिला का यह लक्षण भी व्यर्थ होगा कि उस पर तीनों स्थानों की प्राप्ति होती है। अतः मत्तकोकिला में मूर्च्छना के आरम्भक तार पहला, आठवाँ और पन्द्रहवाँ तार हैं। 'उत्तरमन्द्रा' में आठवें तार पर 'मध्य षड्ज'[६०] और 'सौवीरी' में 'मध्य मध्यम' रहता है।

६०—मत्तकोकिलवीणायां तन्त्र्यो यास्तास्वनुक्रमात्।
स्वराः षड्जादयः सप्त सप्त भूत्वा तथा स्थिताः॥

तन्त्रीवाद्यों पर मूर्च्छनाओं की स्थापना का प्रकार

मूर्च्छनाओं की स्थापना के विषय में महर्षि भरत का मत है—"मूर्च्छनाओं की (केवल प्रथम मूर्च्छना की नहीं) स्थापना 'वीणा के मध्यम स्वर (सप्तक के मध्यम स्वर से नहीं) से होनी चाहिए, क्योंकि 'मध्यम' अविनाशी स्वर है।"[६१]

उत्तरमन्द्रा या सौवीरी आदि मूर्च्छनाओं में तो 'मध्यम' अविनाशी या अविलोपी है ही, 'वीणा का मध्यम स्वर' (मेरु और घुड़च के ठीक मध्य में तार पर निकलने वाला स्वर) भी अविनाशी है, क्योंकि कोई भी मूर्च्छना मिलायी जाय, तन्त्री के ठीक मध्य भाग में स्थित सातवाँ पर्दा अपना स्थान कभी नहीं छोड़ता। मेरुसंस्थ अर्थात् मुक्त तार पर निकलनेवाली ध्वनि को 'स, रि, ग, म, प, ध, नि' कोई भी संज्ञा दी जाय सातवें पर्दे पर ठीक उसकी द्विगुण ध्वनि बोलेगी, फलतः मूर्च्छनाओं की सारणा क्रिया में किन्नरी के अन्य सभी पर्दे कभी न कभी नीचे ऊपर सरकाने पड़ते हैं, परन्तु सातवाँ और चौदहवाँ पर्दा क्रमशः मुक्त तार पर उत्पन्न होनेवाली ध्वनि के द्विगुण एवं चतुर्गुण रूप के जनक होने के कारण कभी नहीं सरकाने पड़ते।

'मतङ्गकिन्नरी' के वर्णन में कुम्भ का कथन है—

"**सारणा-भेद** का आश्रय लेने से वादनक्रिया के तार का योग जिस स्वर से होता है, उसी स्वर के अनुसार मुक्त तार का नामकरण होता है, फलतः मूर्च्छना-रहस्य से अवगत व्यक्ति (बाज के तार के विभिन्न नामकरणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली)

मध्यसप्तकषड्जेन मूर्च्छनारभ्यते ऽग्रिमा।
....
मध्यस्थमध्यमेनाद्या मध्यमग्राममूर्च्छना ॥

—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ५०१

६१—मध्यमस्वरेण **वैणेन** मूर्च्छनानिर्देशो भवत्यनाशित्वात्।

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३६

आचार्य कल्लिनाथ ने 'रत्नाकर' में इस प्रकरण पर की हुई टीका में 'वैणेन' के स्थान पर भरत-नाट्यशास्त्र का पाठ '**वैणवेन**' बताया है, जो वेणु की दृष्टि से ठीक है—'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमस्वरः' में भी यही बात बतायी गयी है, जिसका परिणाम 'वेणु' पर तीनों स्थानों की अभीष्ट स्वरसंख्या की प्राप्ति है। प्राचीन वेणुवाद्यों में छिद्रों को आवश्यकतानुसार अर्धमुद्रित इत्यादि अवस्थाओं में लाकर सारणा-क्रिया होती थी।

उस-उस मूर्च्छना का अभ्यास करे। (मुक्त तार से निकलनेवाली ध्वनि का नाम-करण जिस स्वर के आधार पर हो उसका ध्यान रखते हुए उपयुक्त अन्तर पर) षड्ज की स्थापना **उसकी श्रुतिसंख्या** की दृष्टि से करनी चाहिए। इसके पश्चात् वीणा की डाँड पर (अभीष्ट = ग्राम के अनुसार) **स्वरप्रबन्ध** को जन्म देनेवाली सारिकाओं की **स्थापना** यथास्थान करनी चाहिए। स्वच्छमानस व्यक्ति उन सारिकाओं पर इष्ट राग (जिसके लिए सारणा-क्रिया की गयी है) का आलाप निपुणतापूर्वक करे।"[६२]

अन्य लोग भी षड्ज के स्थान पर स्थित निषाद आदि स्वरों से अन्य अन्य रजनी इत्यादि षाड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ तथा मध्यम के स्थान पर स्थित गान्धार इत्यादि से मध्यमग्राम की हारिणाश्वा इत्यादि अन्य मूर्च्छनाएँ मानते हैं।[६३]

६२–येन येन स्वरेणैवं योगस्तन्त्र्याः प्रतन्यते।
सारणाभेदमाश्रित्य सा स्यात्तत्तत्स्वराह्वया॥
तां तां च मूर्च्छनामस्यामभ्यसेत् तद्विदग्रणीः।
स्वस्थाने प्रकृतीकृत्य षड्जं **स्वश्रुतिपेशलम्**॥
स्वरप्रबन्धनाः स्थाप्या दण्डपृष्ठेऽथ सारिकाः।
तास्विष्टरागं निपुणमालपेत् स्वच्छमानसः॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ४५५

६३–षड्जस्थानस्थितैर्न्याद्यैः रजन्याद्याः परे विदुः।
हारिणाश्वादिका गाद्यैः मध्यमस्थानसंस्थितैः॥
षड्जादीन्मध्यमादींश्च तदूर्ध्वं सारयेत् क्रमात्॥
—आचार्य्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०७

आचार्य शार्ङ्गदेव की उपर्युक्त पंक्तियों पर आचार्य कल्लिनाथ का कथन है—

"ननु षड्जमध्यमस्थानयोरेव निषादगान्धारादिप्रयोगे सति षड्जग्राम उत्तर-मन्द्रारजन्यादीनां कथं परस्परं भेदो मध्यमग्रामे च सौवीरीहारिणाश्वादीनां च कथ-मन्योन्यंभेद इत्याशंक्य परिहरिष्यन्नाह—**षड्जादीन्मध्यमादींश्चेति। तदूर्ध्वमिति।** रजन्यादिकायां षड्जस्थानस्थापितनिषादादेर्हारिणाश्वादिकायां मध्यमस्थानस्थापित-गान्धारादेश्च परं षड्जादीन्मध्यमादींश्च स्वरान् **सारयेत्, स्वस्वश्रुतिसंख्यापर्य्या-लोचनया श्रुत्यन्तराणि प्रापयेदित्यर्थः।**"

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०७

अर्थात्—षड्ज एवं मध्यम के स्थान पर निषाद, गान्धार इत्यादि का प्रयोग करने से षड्जग्रामीय उत्तरमन्द्रा और रजनी इत्यादि में तथा मध्यमग्रामीय सौवीरी-

षड्ज के स्थान पर स्थापित निषाद आदि से ऊपर षड्ज इत्यादि तथा मध्यम के स्थान पर स्थित गान्धार आदि के पश्चात् मध्यम आदि स्वरों की **सारणा** (स्वरों की श्रुतिसंख्या के अनुसार) क्रमपूर्वक करनी चाहिए।

'पण्डितमण्डली' के भी शब्द हैं—

"षड्ज और मध्यम के स्थान पर निषाद आदि एवं गान्धार आदि स्वरों की स्थापना करनी चाहिए, उनके बाद षड्ज और मध्यम इत्यादि स्वरों की **सारणा** 'बुद्धिमान्' व्यक्ति को करनी चाहिए।"[६४]

सितार पर आज जितने पर्दे बँधे हुए हैं, उनमें से विकृत स्वरों के पर्दों को यदि निकाल दिया जाय तो सप्तकबोधक पर्दे केवल तेरह रह जायँगे। तेरह स्वर इन पर्दों

हारिणाश्वा इत्यादि में परस्पर भेद कैसे रहेगा? इस आशंका को दूर करने की इच्छा से आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'षड्जादीन्मध्यमादींश्च' इत्यादि पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में 'तदूर्ध्वं' इत्यादि का तात्पर्य्य यह है कि रजनी इत्यादि में षड्ज के स्थान पर स्थापित निषाद इत्यादि स्वरों एवं हारिणाश्वा इत्यादि में षड्ज के स्थान पर स्थापित गान्धार इत्यादि स्वरों के पश्चात् षड्ज इत्यादि और मध्यम इत्यादि स्वरों की **'सारणा'** करनी चाहिए, अर्थात् उन-उन स्वरों को उन-उनकी संख्या के अनुसार श्रुत्यन्तरों तक पहुँचाकर स्थापित करना चाहिए।"

६४—षड्जमध्यमयोः स्थाने न्याद्या गाद्या यथाक्रमात्।
तदूर्ध्वं **सारयेत्** षड्जमध्यमादीन् स्वरान् सुधीः॥

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् निम्नलिखित **भ्रम** दूर हो जाने चाहिए—

(क) आधुनिक 'सितार' या 'वीणा' पर पर्दों के जो अन्तर एवं नाम हैं, तथा इन पर्दों का जो क्रम है, वे अनादि काल से चले आ रहे हैं।

(ख) सितार पर जो पर्दा आज मध्यस्थानीय षड्ज का बोधक है, वही महर्षि भरत का 'वैण मध्यम स्वर' या मतङ्ग के 'मध्यसप्तक का षड्ज' है।

(ग) सितार पर 'मन्द्र पञ्चम' का पर्दा प्राचीनों का षड्ज है और वहाँ से शुद्ध षड्जा मूर्च्छना सदा से आरम्भ होती रही है।

(घ) शार्ङ्गदेव या अन्य आचार्य्य उत्तरमन्द्रा के सात स्वरों को जैसे का तैसा रखकर उन्हीं स्वरों पर रजनी इत्यादि तथा सौवीरी के सातों स्वरों को बिना इधर-उधर सरकाये उसी अवस्था में हारिणाश्वा इत्यादि की सिद्धि करते थे, फलतः विभिन्न मूर्च्छनाओं में स्वरों की श्रुतिसंख्या में परिवर्तन होता था।

पर और चौदहवाँ स्वर मुक्त तार पर बोलेगा। इस प्रकार आज सितार पर मध्यम से आरम्भ होनेवाले केवल दो सप्तकों (चौदह स्वरों) की प्राप्ति होती है।

वादकों ने अपनी सुविधा के लिए मध्यमादि मन्द्रसप्तक के अन्तिम तीन स्वर स, रे, ग तथा मध्यमादि मध्यसप्तक के आरम्भिक चार स्वर म, प, ध, नि को लेकर 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' षड्जादि मध्यसप्तक मान लिया है, परिणामतः बाज के तार पर उन्हें मन्द्रस्थान में इस नवीन षड्जादि मध्यसप्तक के म, प, ध, नि और तारसप्तक के 'स, रे, ग' मिल जाते हैं।[६५]

आधुनिक वादक जब मन्द्र मध्यम से मन्द्रस्थान में जाना चाहते हैं, तब उन्हें अन्य तारों का आश्रय लेना पड़ता है, जो मन्द्र पञ्चम या षड्ज इत्यादि में मिले होते हैं, जब 'तार गान्धार' से ऊपर जाना होता है तब तार गान्धार के पर्दे पर तार को दबाकर खींचना पड़ता है।

सितार पर जो पर्दे होते हैं, वे वीणा के तारों की भाँति सपाट न होकर वक्र (बीच में ऊपर को उठे हुए) होते हैं, फलतः मन्द्र पञ्चम या मन्द्र षड्ज के तारों से बाज का काम लेने पर उन तारों को पर्दों पर दबाकर मीडना पड़ता है, क्योंकि बाज के तार का अन्तर पर्दों से जितना होता है, उतना अन्य तारों का नहीं। अतः विलम्बित लय की तानें तो मन्द्र षड्ज या मन्द्र पञ्चम के तारों पर जा सकती हैं, परन्तु द्रुत लय की तानों के लिए ये तार अनुपयोगी होते हैं।

सितार पर यदि किन्नरी की भाँति अठारह पर्दे बाँधने हों, तो सितार के तूँबे की बनावट में इस प्रकार अन्तर करना होगा कि डाँड पर आज की तार गान्धार के पश्चात् पाँच और ऐसे पर्दे बाँधे जा सकें, जिन पर अग्रिम 'म, प, ध, नि, स' निकल सकें।

यह सम्भव है। आधुनिक सितार पर तार गान्धार के पश्चात् मध्यम और 'पञ्चम' के दो पर्दे बाँधे जा सकते हैं। पञ्चम के पर्दे पर तार को मीडकर अग्रिम षड्ज की प्राप्ति होती है।

'एकतन्त्री' वीणा में पर्दे न होने के कारण यह क्रिया अत्यन्त सरल थी।

६५—'आधुनिक वीणा' और 'सितार' पर पर्दों के वर्तमान क्रम और नामकरण कुछ बहुत अधिक प्राचीन नहीं, इस संबंध में विस्तृत विचार अन्यत्र किया जायगा।

यहाँ हम यह मानकर सितार पर मूर्च्छनाओं की स्थापनाओं का प्रकार दे रहे हैं कि उस पर किन्नरी की भाँति अठारह पर्दे बँधे हुए हैं—

उत्तरमन्द्रा—

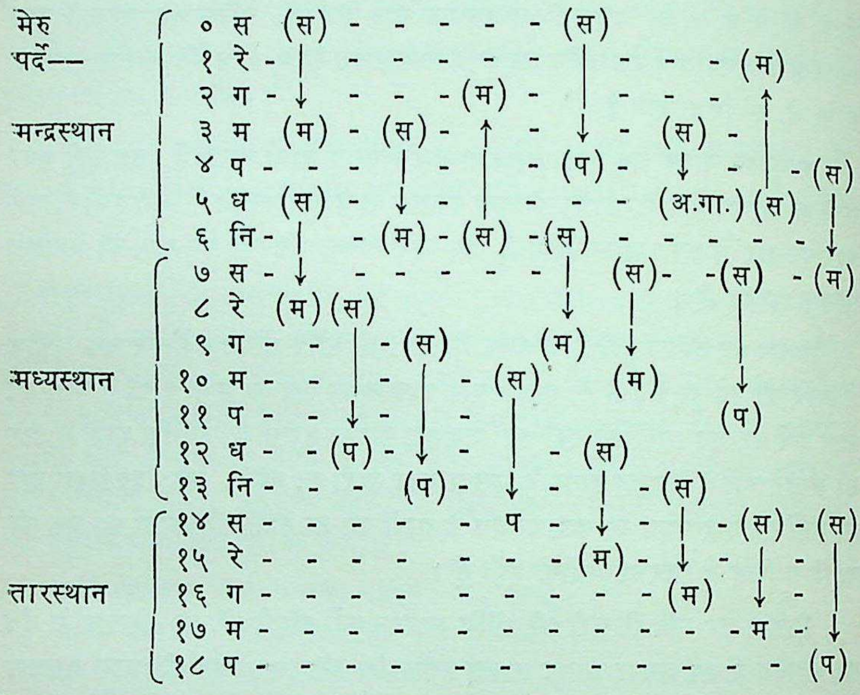

मन्द्रस्थान में 'धैवत' की सिद्धि षड्जान्तर-भाव के आधार पर 'मध्यम' को षड्ज मानकर की गयी है, 'म-ध', 'नि-रे' में षड्जान्तरभाव यथास्थान बताया जा चुका है। अन्य सभी स्वरों की सिद्धि का आधार षड्ज-मध्यम-भाव है।

मूर्च्छना (आरोहावरोहयुक्त क्रम) के उत्तर (अन्तिम) भाग में षड्जग्राम का मन्द्रतम स्वर होने के कारण इस मूर्च्छना का नाम 'उत्तरमन्द्रा' है।*

---

* षड्जे तूत्तरमन्द्रा स्यान्मन्द्रश्चात्रोत्तरस्वरः। तस्मादुत्तरमन्द्रेयम् ....॥

—नान्य०, भ० को०, पृ० ७१

रजनी—

```
मेरु—    ० नि  (स)  (स)    (स)
पर्दे—    १ सा - | - | -(प) ↓  - - (स)
         २ रे - ↓ - |  ↑ - अ.गा. (स) - |
         ३ ग -(म)  ↓  |  - - | - |
         ४ म  - -(प) (स) - - | - ↓
         ५ प -(स) - - - - - - ↓ -(प)
         ६ ध - |-(स) - - - -(प)
         ७ नि - ↓ - | -(स)
         ८ स  (म) ↓  | (स)(स)
         ९ रे - - म - ↓ | - | -(स)
        १० ग - - - - म ↓ - | - |
        ११ म - - - - - म - ↓ - | -(स)
        १२ प - - - - - - प - ↓ - | -(स)
        १३ ध - - - - - - - (प) - ↓ - | -(स)
        १४ नि - - - - - - - - - (म)- ↓ - | -(स)
        १५ स - - - - - - - - - - - म - ↓ - | -(स)
        १६ रे - - - - - - - - - - - - - म ↓ |
        १७ ग - - - - - - - - - - - - - - (म) ↓
        १८ म - - - - - - - - - - - - - - - - म
```

मन्द्र सप्तक में निषाद को षड्ज मानकर षड्जान्तर-भाव के आधार पर ऋषभ की सिद्धि की गयी है। अन्य स्वरों की स्थापना में षड्ज-मध्यम-भाव या षड्ज-पञ्चम-भाव का आश्रय लिया गया है।

उत्तरमन्द्रा में पहला पर्दा ऋषभ का उत्पादक होने के कारण मेरु से 'क, ख, ग' अन्तर पर मिला होता है। रजनी में मेरु पर निषाद स्थित होने के कारण उससे 'ग, क, ख, ग' अन्तर पर स्थित चतुःश्रुति षड्ज प्राप्त करने के लिए मूल मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा के पहले पर्दे को घुड़च की ओर 'ग' अन्तर सरकाना पड़ेगा।

दूसरा पर्दा जो उत्तरमन्द्रा में गान्धार का जनक होने के कारण मेरु से 'क, ख, ग, ख, ग' अन्तर पर स्थित था, रजनी में ऋषभ का जनक होने के कारण मेरु से 'ग, क, ख, ग, क, ख, ग,' अन्तर (सात श्रुतियों का अन्तर) प्राप्त करने के लिए घुड़च की ओर 'ग-क' अन्तर सरकाना पड़ेगा।

तीसरा पर्दा वहीं रखना होगा, क्योंकि यह मेरु से नौ श्रुतियों के अन्तर पर स्थित

हैं। उत्तरमन्द्रा में यह मेरु पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा मध्यम का जनक था और रजनी में यही पर्दा मेरु पर बोलनेवाले निषाद से नव श्रुत्यन्तर पर स्थित गान्धार का जनक है।

चौथा पर्दा उत्तरमन्द्रा में मेरु पर बोलनेवाले षड्ज का पञ्चम था, रजनी में भी वह अपने स्थान पर स्थित रहकर मध्यम का जनक होगा, क्योंकि 'निषाद-मध्यम' में षड्ज-पञ्चम-भाव है।

पाँचवाँ पर्दा उत्तरमन्द्रा में धैवत का जनक होने के कारण चौथे पर्दे से 'क, ख, ग, अन्तर पर स्थित था, रजनी में इस पर्दे पर 'पञ्चम' उत्पन्न करने के लिए इसे एक 'ग' अन्तर चढ़ाना होगा।

छठा पर्दा उत्तरमन्द्रा में मेरु से अठारह श्रुतियों (क, ख, ग, ख, ग, ग, क, ख, ग, ग, क, ख, ग, क, ख, ग, ख, ग) के अन्तर पर स्थित था और उस पर निषाद की उत्पत्ति होती थी। रजनी में उस पर धैवत उत्पन्न करने के लिए मेरु से उसे बीस श्रुतियों के अन्तर पर रखना होगा। फलतः उसे दो श्रुति चढ़ाना होगा।

सातवें पर्दे पर निषाद स्वतः मिल जायगा, क्योंकि मुक्त तार पर स्थित मन्द्र निषाद का द्विगुण मध्य निषाद इस पर स्वतः बोलेगा।

रजनी की स्थापना का जो प्रकार षड्जान्तर-भाव, षड्ज-मध्यम-भाव एवं षड्ज-पञ्चम-भाव के आधार पर प्रदर्शित किया गया है, उस प्रकार से सभी पर्दे यथास्थान आ जायँगे।

मेरु से क्रमशः नौ एवं तेरह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित तीसरे और चौथे पर्दे के अतिरिक्त सभी पर्दे इस मूर्च्छना की सारणा करने में उत्तरमन्द्रा वाले स्थानों से हट जाते हैं, फलतः उत्तरमन्द्रा और इस मूर्च्छना में दिन-रात जैसा अन्तर हो जाने के कारण ही सम्भवतः इसे 'रजनी' कहा गया है। मध्य और तार स्थान के पर्दे भी मन्द्र स्थान के पर्दों में विकार के परिणामस्वरूप यथोचित रूप में सरकेंगे।

उत्तरायता—

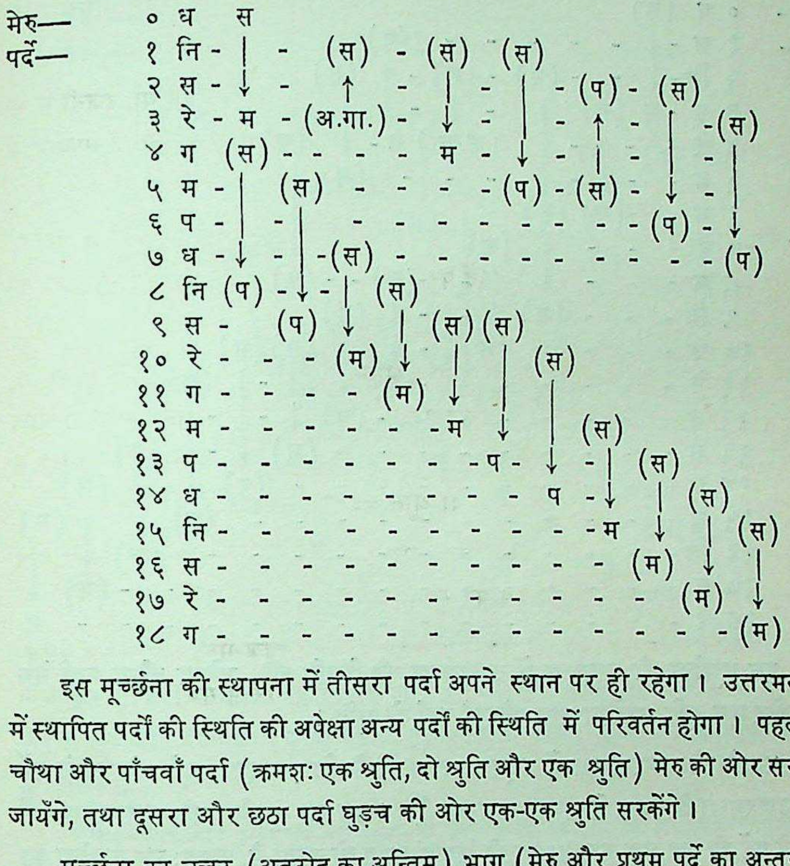

इस मूर्च्छना की स्थापना में तीसरा पर्दा अपने स्थान पर ही रहेगा। उत्तरमन्द्रा में स्थापित पर्दों की स्थिति की अपेक्षा अन्य पर्दों की स्थिति में परिवर्तन होगा। पहला, चौथा और पाँचवाँ पर्दा (क्रमशः एक श्रुति, दो श्रुति और एक श्रुति) मेरु की ओर सरक जायँगे, तथा दूसरा और छठा पर्दा घुड़च की ओर एक-एक श्रुति सरकेंगे।

मूर्च्छना का उत्तर (अवरोह का अन्तिम) भाग (मेरु और प्रथम पर्दे का अन्तर) इस मूर्च्छना में 'आयत' (अतिशयपूर्वक यमनयुक्त, दृढ़ अथवा पहले पर्दे से घुड़च का अन्तर कम) हो जाने के कारण ही इसका नाम सम्भवतः 'उत्तरायता'* है। मध्य और तार स्थान के पर्दे भी यथास्थान हटेंगे।

---

* उत्तरोत्तरतश्चास्यामायतो हि स्वरो यतः।
तेनेयं मूर्च्छना प्रोक्ता धैवते चोत्तरायता॥

—नान्य०, भ० को०, ७१

शुद्धषड्जा—

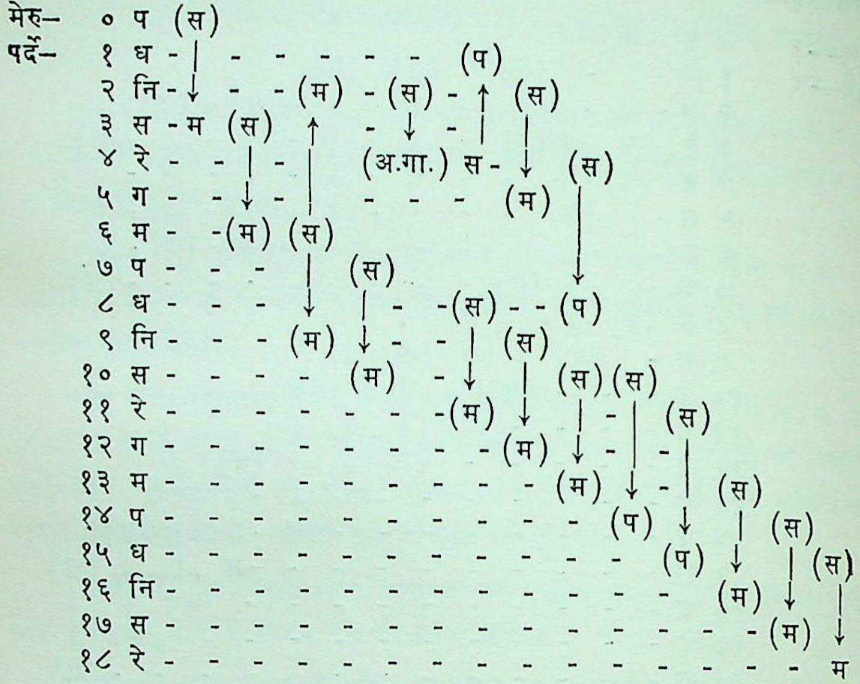

इस मूर्च्छना की स्थापना में उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा चौथा पर्दा मेरु की ओर एक श्रुति सरकेगा तथा पाँचवाँ पर्दा दो श्रुति।

रजनी और उत्तरायता में षड्ज प्राप्त करने के लिए क्रमशः पहले और दूसरे पर्दे को उत्तरमन्द्रा के स्थान से सरकाना पड़ता है, परन्तु इस मूर्च्छना की सारणाक्रिया में तीसरे पर्दे की मूल शुद्ध अवस्था पर ही 'षड्ज' प्राप्त हो जाता है, फलतः इस मूर्च्छना का नाम 'शुद्धषड्जा'* है।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी मन्द्र स्थान के अनुसार हटेंगे।

---

* शुद्धः स्यात्तत्र षड्जस्तु शुद्धषड्जा ततः स्मृता।
पञ्चमेन स्वरेणेयं देवता स्यात्पितामहः॥

—नान्यदेव, भ० को०, पृ० ६७१

मत्सरीकृता—

```
मेरु — ० म  स
पर्दे — १ प - |   - - - - - - - - - - -(प)
      २ ध - ↓   - - - - - (प)              ↑
      ३ नि म  (स) -(स) ↑ - -(स)            |
      ४ स - - ↑  - | | - - | -(प)  (स)(स)
      ५ रे - -(अ.गा.) - ↓ (स)  |    ↑       |
      ६ ग - - - - -(म) |     ↓    |       |
      ७ म (स)- - - - |  -(प) -(स)         ↓
      ८ प - | -(स)- - - ↓  - - - - - -(प)
      ९ ध - ↓ - | - (स)- (प)
     १० नि (म) ↓ - | -(स)
     ११ स - -म - ↓ - | -(स) (स)
     १२ रे - - - - -म - ↓ - | - | -(स)
     १३ ग - - - - - - म   ↓   |   |
     १४ म - - - - - - - म - ↓ - | -(स)
     १५ प - - - - - - - - -प ↓ | -(स)
     १६ ध - - - - - - - - - - प ↓  |
     १७ नि - - - - - - - - - - -(म) ↓
     १८ स - - - - - - - - - - - - -(म)
```

इस मूर्च्छना में केवल पहले और दूसरे पर्दे को, उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा, क्रमशः एक और दो श्रुति (घुड़च की ओर) सरकाना पड़ता है, अन्य सभी पर्दे जैसे के तैसे रहते हैं।

केवल पहले और दूसरे पर्दे के विकार से उत्तरमन्द्रा के प्रति इस मूर्च्छना का हलका-सा मात्सर्य प्रकट होने के कारण सम्भवतः इसका नाम मत्सरीकृता है।*

अन्य स्थानों (सप्तकों) में पर्दे यथोचित रूप में सारणाक्रिया के परिणामस्वरूप हट जायँगे।

---

* मध्यमालापसरणे सा भवेन्मत्सरीकृता।
—नान्य०, भ० को०, पृ० ४५८

अश्वक्रान्ता—

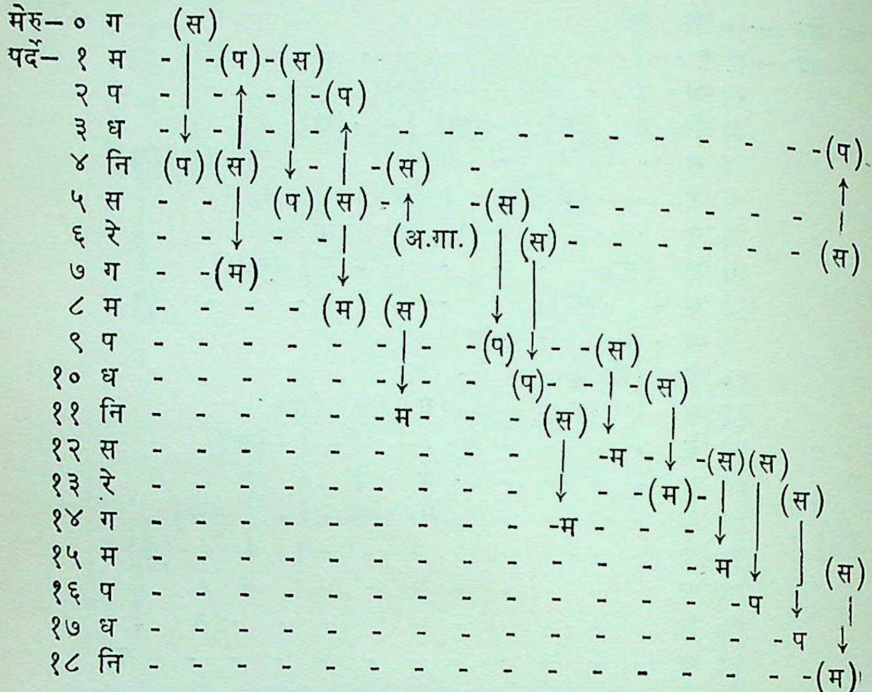

इस मूर्च्छना में चौथे पर्दे के अतिरिक्त सभी पर्दे* उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा (अश्व की गति (क्रमण) के समान) घुड़च की ओर बढ़ते हैं, सम्भवतः इसी लिए इस मूर्च्छना का नाम 'अश्वक्रान्ता' है।

अन्य सप्तकों के पर्दे भी मन्द्र स्थान की स्थिति के अनुसार अपने स्थान से हटेंगे।

---

* भरतकालीन वीणाएँ सारिकाहीन होती थीं। इसलिए एकतंत्री वीणा पर मूर्च्छनाओं की अन्वर्थता समझने के लिए 'पर्दे' के स्थान पर तन्त्री का वह 'स्थान' समझना चाहिए, जिस स्थान पर अभीष्ट स्वर की अभिव्यक्ति होती हो।

अभिरुद्गता—

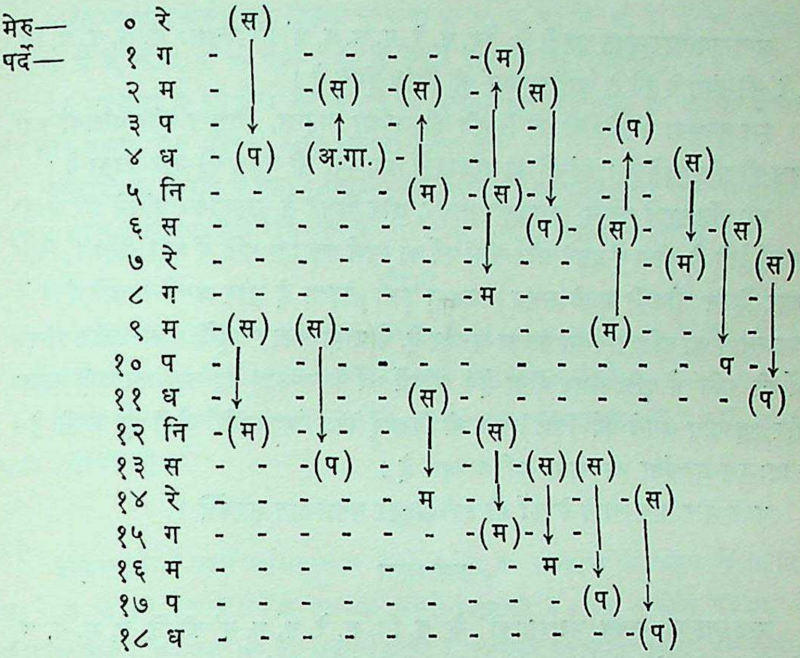

इस मूर्च्छना में उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा पहला और पाँचवा पर्दा मेरु की ओर तथा दूसरा, तीसरा और छठा पर्दा घुड़च की ओर बढ़ते हैं। इस मूर्च्छना में पर्दे परस्पर 'अभिरोध' करते दिखाई देते हैं, फलतः इसका नाम अभिरुद्गता (अभि+रुध्+गता) है।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी यथोचित रूप में सरकेंगे।

माध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

सौवीरी

उत्तरमन्द्रा के गान्धार को दो श्रुति चढ़ाने के पश्चात् उसे 'धैवत' की संज्ञा देने अर्थात् अन्तरगान्धार-युक्त उत्तरमन्द्रा के 'सरिगमपधनि' को 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' की संज्ञा देने से 'सौवीरी' की सिद्धि हो जाती है।

उत्तरमन्द्रा से 'सौवीरी' के निर्माण की प्रस्तुत योजना सम्भवतः सौवीर देश के निवासियों ने की, फलतः इसका नाम 'सौवीरी' है।

हारिणाश्वा

अन्तरगान्धार-युक्त रजनी के 'नि, स, रे, ग, म, प, ध' को क्रमशः 'ग, म, प, ध, नि, स, रे' की संज्ञा दे देने से 'हारिणाश्वा' की सिद्धि होती है।

इस मूर्च्छना में सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा पहला, तीसरा और पाँचवाँ पर्दा घुड़च की ओर बढ़ते हैं। पाँचवें का पश्चाद्वर्ती छठा पर्दा भी घुड़च की ओर बढ़ता है।

यह गति पहले पर्दे से उछलकर तीसरे, और तीसरे से उछलकर पाँचवें पर जाती दिखाई देती है, बीच में दूसरे और चौथे पर्दे का स्पर्श तक इस गति में नहीं होता। जिस प्रकार हिरन चौकड़ी भरते समय उछलता हुआ दौड़ता है और अगले-पिछले पैरों के मध्य स्थान का परित्याग-सा करता चलता है, वैसा ही प्रकार पहले, तीसरे और पाँचवें पर्दे की 'गति' में दृष्टिगोचर होता है। पाँचवें पर्दे के पश्चात् यह उल्लंघन नहीं रहता और वह गति अगले पर्दे (छठे) पर भी दिखाई देकर 'अश्वगति' जैसी हो जाती है। फलतः इस मूर्च्छना का नाम 'हारिणाश्वा' है।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी इसी प्रकार यथास्थान सरकेंगे।

कलोपनता

अन्तरगान्धार-युक्त 'उत्तरायता' के 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' को 'रे, ग, म, प, ध, नि' की संज्ञा दे देने से 'कलोपनता' मूर्च्छना की सिद्धि होती है।

सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा इस मूर्च्छना में पहला, दूसरा और पाँचवाँ पर्दा मेरु की ओर सरकाने पड़ते हैं। घुड़च की ओर केवल छठा पर्दा चतुःश्रुति षड्ज की सिद्धि के लिए एक श्रुति सरकाना पड़ता है, अतः इसका नाम 'कलोपनता' है। अन्य स्थानों के पर्दे भी यथास्थान सरकेंगे।

शुद्ध मध्या

अन्तरगान्धार-युक्त 'शुद्धषड्जा' मूर्च्छना 'प, ध, नि, स, रे, ग, म' को क्रमशः 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' की संज्ञा दे देने से 'शुद्धमध्या' की सिद्धि होती है।

हारिणाश्वा और कलोपनता में मध्यम की सिद्धि के लिए सम्बद्ध पर्दों को सरकाना पड़ता है, परन्तु इस मूर्च्छना में 'मध्यम' तीसरे पर्दे की अविकृत अवस्था में ही मिल जाता है, फलतः इसका नाम 'शुद्धमध्या' है।

शुद्धमध्या में दूसरा और चौथा पर्दा सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा मेरु की ओर सरकेंगे। अन्य सप्तकों में भी अभीष्ट पर्दे यथास्थान सरकेंगे।

मार्गी

अन्तरगान्धार-युक्त मत्सरीकृता मूर्च्छना के 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' को क्रमशः 'नि, स, रे, ग, म, प, ध' की संज्ञा दे देने से 'मार्गी' मूर्च्छना की सिद्धि होती है।

इस मूर्च्छना में 'सौवीरी' की स्थिति की अपेक्षा पहले पर्दे तथा छठे पर्दे को घुड़च की ओर क्रमशः एक और दो श्रुति चढ़ाना पड़ता है।

सौवीरी की स्थिति से इसकी स्थापना का 'मार्ग' सरलतापूर्वक मिल जाने के कारण अथवा सारणा में मृग-जैसी गति होने के कारण यह मूर्च्छना 'मार्गी' कहलाती है।

पौरवी

अन्तरगान्धार-युक्त 'अश्वक्रान्ता' मूर्च्छना के 'ग, म, प, ध, नि, स, रे' को क्रमशः 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' की संज्ञा दे देने से पौरवी की सिद्धि होती है।

किसी पौरव व्यक्ति अथवा 'जन' से किसी प्रकार सम्बद्ध होने के कारण इसकी संज्ञा 'पौरवी' है।

हृष्यका

अन्तरगान्धार-युक्त 'अभिरुद्गता' के 'रे, ग, म, प, ध, नि, स' को क्रमशः 'प, ध, नि, स, रे, ग, म' की संज्ञा दे देने से 'हृष्यका' की सिद्धि होती है। यह मूर्च्छना 'पञ्चम' से आरम्भ होकर 'पञ्चम' पर ही समाप्त होती है, जिसकी प्रधानता 'हास्य' एवं शृंगार में विनियोज्य है। 'नन्दयन्ती' (प्रसन्न करती हुई) नामक जाति में मतङ्ग ने इसी मूर्च्छना का प्रयोग किया है, इस प्रकार हर्षविधायिका होने के कारण सम्भवतः इसका नाम 'हृष्यका' है।

तृतीय अध्याय

जाति-लक्षण

रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' कहे जाते हैं। दस लक्षणों से युक्त विशिष्ट स्वर-सन्निवेश 'जाति' कहलाता है।[1]

जातियाँ श्रुति, ग्रह, स्वर इत्यादि के समूह से जन्म लेती हैं, इसलिए 'जातियाँ' कहलाती हैं, जातियों से 'रस' की प्रतीति उत्पन्न या आरम्भ होती है। अथवा 'राग' इत्यादि के जन्म का कारण होने से विशिष्ट-स्वरसन्निवेश 'जाति' की संज्ञा ले लेता है अथवा ये जातियाँ मनुष्यों की 'ब्राह्मणत्व' इत्यादि जातियों के समान हैं।[2]

जातियों के भेद

षाड्जी, आर्षभी, धैवती, नैषादी, षड्जोदीच्यवती, षड्जकैशिकी और षड्जमध्या षड्जग्रामाश्रित सात जातियाँ हैं। गान्धारी, मध्यमा, गान्धारोदीच्यवा, पञ्चमी, रक्त-गान्धारी, गान्धारपञ्चमी, मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती, कार्मारवी, आन्ध्री तथा कैशिकी मध्यम-ग्रामाश्रित ग्यारह जातियाँ हैं। इस प्रकार जातियों की संख्या अठारह है।[3]

१—तत्र केयं जातिर्नाम ? उच्यते—स्वरा एवं विशिष्टसन्निवेशभाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदयं च जनयन्तो जातिरित्युक्ताः। कोऽसौ सन्निवेश इति चेत्, जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेशः। —आचार्य अभिनवगुप्त, भ० को०, पृ० २२७

२—श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्त इति जातयः। अतो जातय इत्युच्यन्ते। यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारभ्यत इति जातयः। अथवा सकलस्य रागादेः जन्महेतुत्वाज्जातय इति। यद्वा जातय इव जातयः, यथा नराणां ब्राह्मणत्वादयो जातयः। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २२७

३—षाड्जी चैवार्षभी चैव धैवती सनिषादिनी।
षड्जोदीच्यवती चैव तथा वै षड्जकैशिकी॥

इन अठारह में सात जातियों के नाम सात स्वरों पर हैं। वे दो प्रकार की हैं, शुद्ध और विकृत। षड्जग्राम में षाड्जी, आर्षभी, धैवती और निषादवती (नैषादी) शुद्ध हैं। शुद्ध जातियाँ वे हैं, जिनमें कोई स्वर कम नहीं होता और नामस्वर ही जिनमें अंश, ग्रह और न्यास होता है। न्यासस्वर के अतिरिक्त एक, दो या अनेक लक्षणों में विकार होने पर ये जातियाँ विकृत कहलाने लगती हैं। फलतः जो शुद्ध हैं, वही विकृत भी हो जाती हैं।[४]

शुद्ध जातियों में मन्द्रस्वर नियमपूर्वक न्यास होता है, परन्तु विकृत जातियों में यह नियम शिथिल भी हो जाता है। अठारह जातियों में ग्यारह जातियाँ दो या कई जातियों के संसर्ग के कारण विकृत हो जाती हैं। परस्पर संयोग से इन जातियों का निर्माण होता है।[५]

षाड्जी और मध्यमा के संयोग से '**षड्जमध्यमा**'; गान्धारी और षाड्जी के योग से **षड्जकैशिकी**; षाड्जी, गान्धारी और धैवती के योग से **षड्जोदीच्यवा**; षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा और धैवती के योग से **गान्धारोदीच्यवती**; गान्धारी, पञ्चमी, मध्यमा और धैवती से **मध्यमोदीच्यवती**; गान्धारी, पञ्चमी और सप्तमी (नैषादी) के योग से **रक्तगान्धारी**; गान्धारी और आर्षभी से **आन्ध्री**; आर्षभी, पञ्चमी और

षड्जमध्या तथा चैव षड्जग्रामसमाश्रया।
गान्धारी मध्यमा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा॥
पञ्चमी रक्तगान्धारी तथा गान्धारपञ्चमी।
मध्यमोदीच्यवा चैव नन्दयन्ती तथैव च।
कर्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी तथा॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३९

४—एतासामष्टादशानां सप्त स्वराख्याः। ताश्च द्विविधाः शुद्धा विकृताश्च। तत्र शुद्धाः षड्जग्रामे षाड्जी आर्षभी धैवती निषादवती च। गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी चेति मध्यमग्रामे। शुद्धा अन्यूनस्वराः स्वरांशग्रहन्यासाः। एषामन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वापि लक्षणैर्विक्रियामुपगता न्यासवर्जं विकृतसंज्ञा भवन्ति। तेन ता एव शुद्धास्ता एव च विकृताः। —भरत, ब० सं०, पृ० ४३९

५—न्यासविधावप्यासां मन्द्रो नियमाद् भवति शुद्धासु विकृतास्वनियमात्। तत्रैकादश संसर्गजा विकृताः। परस्परं संयोगादेकादश निर्वर्तयन्ति। यथा—

शुद्धा विकृताश्चैव हि समवायाज्जातयस्तु जायन्ते।
ता एव शुद्धविकृता भवन्ति चैकादशान्यासु॥

गान्धारी से **नन्दयन्ती**; नैषादी, आर्षभी और पञ्चमी के संसर्ग से **कार्मारवी**; गान्धारी और पञ्चमी के मिश्रण से **गान्धारपञ्चमी**; तथा षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी एवं नैषादी के मिश्रण से **कैशिकी** जाति का निर्माण होता है।[६]

इन जातियों में से चार जातियाँ सदा सप्तस्वरा, दस पञ्चस्वरा और चार षट्स्वरा होती हैं।[७]

मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कार्मारवी तथा गान्धारपञ्चमी सदा सप्तस्वरा होती हैं; षाड्जी, आन्ध्री, गान्धारोदीच्यवा और नन्दयन्ती षट्स्वरा और अवशिष्ट दस जातियाँ पञ्चस्वरा भी होती हैं। जिन्हें पञ्चस्वरा कहा गया है, वे कभी षट्स्वरा और जिन्हें षट्स्वरा कहा गया है, वे कभी पञ्चस्वरा भी होती हैं।[८]

६—स्यात् षड्जमध्यमायां निर्वृत्ता षड्जमध्यमा जातिः।
गान्धारीषाड्जीभ्यां संयोगात् षड्जकैशिकी वापि॥
षाड्जीगान्धारीभ्यां धैवत्याश्चापि या विनिष्पन्ना।
संसर्गाद् विज्ञेया सा षड्जोदीच्यवा जातिः॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१
षाड्जीगान्धारीभ्यां धैवत्याश्चापि मध्यमायाश्च।
गान्धारोदीच्यवा स्यान्निर्वृत्ता नामतो जातिः॥ —भरत०, का० सं०, पृ० ३२३
गान्धारपञ्चमाभ्यां मध्यमया विरचिता च धैवत्या।
जातिस्तु मध्यमोदीच्यवेति सद्भिः सदा ज्ञेया॥
गान्धारीपंचम्योः सप्तम्याश्चैव रक्तगान्धारी।
गान्धार्य्यार्षभिभ्यामान्ध्री सञ्जायते जातिः॥
योनिस्तु नन्दयन्त्यास्त्वार्षभी पञ्चमी सगान्धारी।
कार्म्मारवीं निषादी सार्षभी पञ्चमी कुर्य्युः॥
गान्धारीपञ्चम्योर्योगाद् गान्धारपञ्चमी जातिः।
धैवत्यार्षभीम्यां हीनां खलु कैशिकीं कुर्य्युः॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१

७—आभ्यां चतस्रो नियमाज्ज्ञेयाः सप्तस्वरा बुधैः।
दश पञ्चस्वरा ज्ञेयाश्चतस्रश्चैव षट्स्वराः॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१

८—मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्जकैशिकी।
कार्म्मारवी च सम्पूर्णा तथा गान्धारपञ्चमी॥
षड्जान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा।
चतस्रः षट्स्वरा ज्ञेयाः पञ्चवस्तुस्वरा दश॥
यास्ताः पञ्चस्वराः प्रोक्ता याश्चैव षट्स्वराः स्मृताः।
कदाचिदौडुवीभूताः कदाचित् षाडवीकृताः॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१

भरत-सम्प्रदाय में यह नियम है कि 'अंश' स्वर के संवादी स्वर का लोप कभी नहीं होता, फलतः कुछ जातियों में स्वरविशेष का अंशत्व उनकी षाडव या औडुव अवस्था का बाधक हो जाता है। षाडव या औडुव अवस्था के बाधक अंशस्वर षाडवद्वेषी या औडुवद्वेषी कहलाते हैं।

षड्जमध्यमा जाति का षाडव प्रकार निषाद के लोप से बनता है। यदि निषाद ही उस जाति में अंशस्वर हो, तो उसकी षाडवावस्था असम्भव है। इस जाति की औडुवावस्था 'निषाद-गान्धार' के लोप से होती है। निषादांश अवस्था में षाडव बनाने के लिए निषाद के संवादी गान्धार का लोप असम्भव है।[९]

मध्यमग्रामीय गान्धारी, रक्तगान्धारी और कैशिकी जातियों का षाडव रूप ऋषभ के लोप से होता है। मध्यमग्राम में ऋषभ-पञ्चम संवाद है, फलतः इन तीन जातियों की षाडवावस्था में पंचम अंशस्वर कभी नहीं होता, पञ्चम के 'अंश' होने पर ऋषभ का लोप असम्भव है।[१०]

षाड्जी में 'निषाद' का लोप इस जाति को षाडव बनाता है, फलतः इस जाति में गान्धार के अंशस्वर होने पर उसके संवादी निषाद का लोप असम्भव है।[११]

षड्जोदीच्यवती में ऋषभ का लोप उसे षाडव बनाता है, फलतः धैवत के अंश-स्वर होने पर ऋषभ का लोप असम्भव है।[१२]

अतः षड्जमध्यमा में निषाद, गान्धारी, रक्तगान्धारी और कैशिकी में पञ्चम (तीन जातियों में), षाड्जी में गान्धार और षड्जोदीच्यवती में धैवत अंश होने पर षाडवद्वेषी हो जाते हैं।[१३]

गान्धारी में षड्ज-मध्यम-पञ्चम-निषाद, रक्त-गान्धारी में षड्ज-मध्यम-

---

९—षट्स्वरी सप्तमे त्वंशे नेष्यते षड्जमध्यमा।
संवादिलोपाद् गान्धारस्तत्रैव न भविष्यति ॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१

१०—गान्धारी-रक्तगान्धारी-कैशिकीनां तु पञ्चमम्।
—भरत, ब० सं०, पृ० ४४१

११—षाड्जायाञ्चैव गान्धारमनंशं विद्धि षाडवे।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४१

१२—षड्जोदीच्यवत्याश्चैव धैवतांशे न षाडवम्।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४२

१३—संवादिलोपात्सप्तैते षाट्स्वर्य्ये तु विवर्जिताः। —भरत०, का० सं०, पृ० ३२४
षाट्स्वर्य-वर्जित इन स्वरों की संख्या छः होती है, मध्यम सदा षाडवद्वेषी होता है, सम्भवतः महर्षि ने उसे जोड़कर समस्त षाडवद्वेषी स्वर सात माने हैं।

पञ्चम-निषाद, षड्जमध्यमा में गान्धार-निषाद, पञ्चमी में ऋषभ और कैशिकी में धैवत स्वर औडुवावस्था में लुप्त नहीं होते।[१४]

जातियों में सभी स्वरों का लोप विहित है, परन्तु मध्यम का लोप कभी नहीं करना चाहिए। सातों स्वरों में मध्यम अविनाशी स्वर है। साम गान करनेवालों ने भी गान्धर्व कल्प में मध्यम का विधान अनाशी रूप में किया है।[१५]

जाति के दस लक्षण

जाति के दस लक्षण अंश, ग्रह, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडुवित हैं।[१६]

(१) अंशस्वर

जिस स्वर में राग **रहता** है, जिस स्वर से **प्रवर्तित होता** है, जो **तार** और **मन्द्र** अवधि का नेता, नियामक या प्रदर्शक है, जिसका प्रयोग **अधिक** पाया जाता है, **ग्रह, अपन्यास, विन्यास, संन्यास** एवं **न्यास** आदि के योग से जिसका पुनः-पुनः अनुवर्तन होता है, वह इन दस (**स्थूलाक्षरों में निर्दिष्ट**) लक्षणों से युक्त स्वर 'अंश' कहलाता है।[१७]

१४–गान्धारीरक्तगान्धार्यौ षड्जमध्यमपञ्चमाः।
सप्तमश्चैव विज्ञेयः येषु* चौ(नौ)डुवितं भवेत्॥
द्वौ षड्जमध्यमांशौ तु गान्धारोऽथ निषादवान्।
ऋषभश्चैव पञ्चम्यां कैशिक्याञ्चैव धैवतः॥
एवं हि द्वादशैते स्युः वर्ज्याः पञ्चस्वरे सदा।
तास्वनौडुविता नित्यं कर्तव्या जातयो बुधैः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४२

१५–सर्वस्वराणां नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु।
न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन॥
सप्तस्वराणां प्रवरो ह्यनाशी चव मध्यमः।
गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः॥
—भरत०, का०, सं०, पृ० ३२४

१६–ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च षाडवौडुविते तथा॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

१७–रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चव प्रवर्तते।
नेता च तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते।

* (सप्तमी चैव विज्ञेया यासु ?)

षाड्जी में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत; **आर्षभी** में ऋषभ, निषाद, धैवत; **गान्धारी** में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद; **मध्यमा** में षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पञ्चम, धैवत; **पञ्चमी** में ऋषभ, पञ्चम; **धैवती** में ऋषभ, धैवत; **नैषादी** में निषाद, ऋषभ, गान्धार; **षड्जकैशिकी** में षड्ज, गान्धार, पञ्चम; **षड्जोदीच्यवती** में षड्ज, मध्यम, धैवत, निषाद; **षड्जमध्यमा** में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद; **गान्धारोदीच्यवा** में षड्ज, मध्यम; **रक्तगान्धारी** में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद; **कैशिकी** में षड्ज, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद; **मध्यमोदीच्यवा** में पञ्चम; **कार्मारवी** में ऋषभ, पञ्चम, धैवत, निषाद; **गान्धारपञ्चमी** में पञ्चम; **आन्ध्री** में ऋषभ, गान्धार, पञ्चम, निषाद और **नन्दयन्ती** में पञ्चम स्वर को अंशावस्थाएँ प्राप्त होती हैं।[१८]

ग्रहापन्यास-विन्यास——संन्यास——न्यासयोगतः।
अनुवृत्तश्च यश्चेह सोंऽशः स्याद् दशलक्षणः॥
—भरत०, रत्नाकर की टीका में कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

१८—मध्यमोदीच्यवायास्तु नन्दयन्त्यास्तथैव च।
तथा गान्धारपञ्चम्याः पञ्चमोंऽशो ग्रहस्तथा।
धैवत्याश्च तथैवांशौ विज्ञेयौ धैवतर्षभौ।
पञ्चम्यास्तु ग्रहावंशौ भवतः पञ्चमर्षभौ।
गान्धारोदीच्यवायास्तु ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ।
आर्षभ्यां तु निषादस्तु तथा चर्षभधैवतौ।
निषाद्यां च निषादस्तु गन्धारश्चर्षभस्तथा।
तथा च षड्जकैशिक्यां षड्जगान्धारपञ्चमाः।
तिसृणामपि जातीनां ग्रहास्त्वंशास्तु कीर्तिताः।
षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा।
षड्जोदीच्यवतीजातेर्ग्रहास्त्वंशाश्च कीर्तिताः।
पञ्चमश्चर्षभश्चैव निषादो धैवतस्तथा।
कर्मारव्या बुधैरंशा ग्रहाश्च परिकीर्तिताः।
गान्धारश्चर्षभश्चैव पञ्चमोऽथ निषादवान्।
चत्वारोंऽशा भवन्त्यान्ध्र्या ग्रहाश्चैते तथैव हि।
ऋषभश्चैव षड्जश्च मध्यमः पञ्चमस्तथा।
मध्यमाया ग्रहा ज्ञेया अंशाश्चैव सधैवताः।
निषादषड्जगान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा।

इस प्रकार कुल अंशस्वर तिरसठ[१९] हो जाते हैं, जो निम्नस्थ सारणी में स्पष्ट हैं-

जाति	अंशस्वर	संख्या
१. षाड्जी	स, ग, म, प, ध	५
२. आर्षभी	रे, नि, ध	३
३. गान्धारी	स, ग, म, प, नि	५
४. मध्यमा	स, रे, म, प, ध	५
५. पञ्चमी	रे, प	२
६. धैवती	रे, ध	२
७. नैषादी	नि, रे, ग	३
८. षड्जकैशिकी	स, ग, प	३
९. षड्जोदीच्यवती	स, म, ध, नि	४
१०. षड्जमध्यमा	स, रे, ग, म, प, ध, नि	७
११. गान्धारोदीच्यवा	स, म	२
१२. रक्तगान्धारी	स, ग, म, प, नि	५
१३. कैशिकी	स, ग, म, प, ध, नि	६
१४. मध्यमोदीच्यवा	प	१
१५. कार्मारवी	रे, प, ध, नि	४
१६. गान्धारपञ्चमी	प	१
१७. आन्ध्री	रे, ग, प, नि	४
१८. नन्दयन्ती	प	१
	योग	६३

गान्धारीरक्तगान्धार्योर्ग्रहांशाः परिकीर्तिताः ।
षड्जायाः षड्जगान्धारौ मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
धैवतस्यापि विज्ञेया ग्रहाश्चांशाः प्रकीर्तिताः ।
कैशिक्याश्च ऋषभहीना ग्रहांशाः षट्स्वराः स्मृताः ।
सर्वस्वरग्रहांशाश्च विज्ञेयाः षड्जमध्यमा ।
एवं त्रिषष्टिर्विज्ञेया ग्रहाश्चांशाश्च जातिषु । भरत०, ब० सं०, पृ० ४४४-४४५

१९–द्वैग्रामिकीणां जातीनां सर्वासामपि नित्यशः ।
त्रिषष्टिरंशा विज्ञेयास्तासाञ्चैव तथा ग्रहाः ।।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४४

(२) ग्रहस्वर

अंशस्वर ही समस्त जातियों के 'ग्रह' स्वर होते हैं।[२०] प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग या गान-वादन में जो स्वर अंश होता है, वही 'ग्रह' माना जाता है।[२१] जातियों के गान-वादन का आरम्भ अंशस्वर से ही होता है, उस अवस्था में 'अंश' स्वर ही 'ग्रह' कहलाता है। गान-वादन का 'ग्रहण' (आरम्भ) अंशस्वर से होने के कारण ही उसे 'ग्रह' कहते हैं।

(३) तारगति

जाति-प्रयोगों में अंशस्वर से चौथे, पाँचवें या सातवें स्वर तक तारस्थान में जाना चाहिए, इससे ऊँचा जाना जाति-प्रयोग में अभीष्ट नहीं।[२२] जाति-विशेष में अंश-विशेष से मूर्च्छना का आरम्भ होने के कारण मूर्च्छना के तार-स्थान में अंशस्वर से सातवें स्वर की ही सत्ता सम्भव है, क्योंकि इससे आगे अति तार स्वर आयेगा, जिसका प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नहीं।

(४) मन्द्रगति

मन्द्रगति तीन प्रकार की है, 'अंश' तक, 'न्यास' तक या 'अपन्यास' तक[२३]। अवरोहोन्मुख अवस्था में अंशस्वर से पश्चात् मन्द्र नहीं होता, क्योंकि तीनों स्थानों में आरम्भ-स्वर 'अंश' ही होता है। मन्द्रगति की अवधि 'न्यास' और 'अपन्यास', ये दो

२०–ग्रहास्तु सर्वजातीनामंशवत् परिकीर्तिताः।
यः प्रवृत्तौ भवेदंशः सोऽसौ ग्रहविकल्पितः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४२

२१–ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः।
यत्प्रवृत्तौ भवेद् गानं सोंऽशो ग्रहविकल्पितः॥
—भरत०, का० सं०, पृ० ३२४

२२–अंशात्तारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आ पञ्चमात्सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते।
—भरत०, रत्नाकर की कल्लिनाथ टीका में उद्धृत (अडयार-संस्करण)

अंशाक्षरैर्गतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आ पञ्चमात्सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते।
—भरत०, रत्नाकर की कल्लिनाथ टीका (आनन्दाश्रम संस्क०)

२३–त्रिविधा मन्द्रगतिः–अंशपरा, न्यासपरा, अपन्यासपरा च।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

स्वर भी, विहित हैं। हाँ, गान्धार के न्यास स्वर होने पर अवरोहात्मक गति में उसके पश्चाद्वर्ती ऋषभ का प्रयोग भी देखा जाता है। उदाहरणतया 'नन्दयन्ती' जाति में गान्धार न्यास स्वर है, परन्तु उसमें मन्द्रगान्धार से, अवरोहात्मक रूप में पश्चाद्वर्ती ऋषभ का प्रयोग भी देखा जाता है।[२४]

(५) न्यास-स्वर

जिस स्वर पर 'अङ्ग' (गीत या वाद्य-प्रबन्ध) की समाप्ति होती हो, वह 'न्यास' कहलाता है। 'न्यास' स्वर इक्कीस हैं।[२५]

एक स्वर कई जातियों में न्यासस्वर हो सकता है और अवस्था-भेद से एक जाति में कई 'न्यास' स्वर भी हो सकते हैं। फलतः न्यासस्वरों की संख्या इक्कीस हो जाती है।

निम्नस्थ सारणी में यह स्थिति स्पष्ट है—

न्यासस्वर	जाति	संख्या
षड्ज	षाड्जी, षड्जमध्यमा	२
ऋषभ	आर्षभी	१
गान्धार	गान्धारी, रक्तगान्धारी, षड्जकैशिकी, आन्ध्री, कैशिकी, नन्दयन्ती	६
मध्यम	मध्यमा, षड्जमध्यमा, षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा	५
पञ्चम	पञ्चमी, गान्धारपञ्चमी, कैशिकी, कार्मारवी	४
धवत	धैवती	१
निषाद	कैशिकी, नैषादी	२
	योग	२१

२४—मन्द्रस्त्वंशपरो नास्ति न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ।
गान्धारन्यासलिङ्गेन दृष्टमृषभसेवनम्॥
—भरत०, रत्नाकर टीका में कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

२५—'एकविंशतिविधो न्यासो ह्यङ्गसमाप्तौ......
न्यासो ह्यङ्गसमाप्तौ स चैकविंशतिविधो विधातव्यः।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

(६) अपन्यास स्वर

जिस स्वर पर 'अङ्ग' (गीत या वाद्य-प्रबन्ध) के मध्य की समाप्ति होती हो, वह 'अपन्यास' कहलाता है।[२६] एक जाति के अपन्यास स्वर कई हो सकते हैं तथा एक स्वर कई जातियों में अपन्यास स्वर हो सकता है। फलतः अपन्यास स्वर के छप्पन प्रकार हो जाते हैं।[२७] कभी-कभी ऋषभ को भी 'कैशिकी' जाति का अपन्यास स्वर माना जाता है, उस दशा में अपन्यास स्वरों की संख्या सत्तावन हो जायगी।[२८]

निम्नलिखित सारणी में अपन्यास स्वर के समस्त प्रकार स्पष्ट हैं—

अपन्यास स्वर	जातियाँ	संख्या
षड्ज	षड्जकैशिकी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, गान्धारी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमा, मध्यमोदीच्यवा, कैशिकी	८
ऋषभ	षड्जमध्यमा, आर्षभी, गान्धारपञ्चमी, पञ्चमी, धैवती, नैषादी, कार्मारवी, मध्यमा, आन्ध्री	९
गान्धार	षाड्जी, षड्जमध्यमा, कैशिकी, आन्ध्री, नैषादी	५
मध्यम	गान्धारी, मध्यमा, षड्जमध्यमा, धैवती, नैषादी, कैशिकी	६
पञ्चम	षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा, षड्जमध्यमा, गान्धारपञ्चमी, पञ्चमी, कैशिकी, आन्ध्री, नन्दयन्ती, कार्मारवी, षड्ज-कैशिकी	११
धैवत	षड्जोदीच्यवा, आर्षभी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, मध्यमा, धैवती, कैशिकी, कार्मारवी	९
निषाद	षड्जकैशिकी, आर्षभी, षड्जमध्यमा, पञ्चमी, नैषादी, कैशिकी, आन्ध्री, कार्मारवी	८
	योग	५६

२६—तद्वदपन्यासोऽप्यङ्गमध्ये......

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

२७—'षट्पंचाशत्संख्योऽङ्गमध्येऽपन्यास एव स्यात्।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

२८—'अपन्यासः कदाचिच्च ऋषभोऽपि भवेदिह।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५२

(७) अल्पत्व

स्वरों का अल्पत्व दो प्रकार से होता है, 'लङ्घन' से या 'अनभ्यास' से।[२९] स्वर का ईषत् स्पर्श भी 'लङ्घन' है और उसका परित्याग भी।[३०] स्वर-विशेष की अनावृत्ति (एक से अधिक बार न लगाना) 'अनभ्यास' कहलाती है। जिन स्वरों के लोप से जाति-विशेष के षाडव या औडुव प्रकार बनते हों, वे उस जाति में 'लोप्य' स्वर कहलाते हैं। उस जाति की सम्पूर्णावस्था में भी लोप्य स्वरों का प्रयोग अल्प होता है। जिस जाति में जो स्वर 'अंश' नहीं होते, वे उस जाति के 'अनंश' स्वर कहलाते हैं। लोप्य स्वरों का ईषत्स्पर्श भी होता है और अनभ्यास, अनंश या लोप्य स्वरों का।[३१]

(८) बहुत्व

स्वर-विशेष का पूर्ण रूप से स्पर्श करते हुए उसकी पुनः पुनः आवृत्ति बहुत्व का एक प्रकार है और स्वर-विशेष का अपरित्याग बहुत्व का दूसरा प्रकार है। अल्पत्व का उलटा होने के कारण ही बहुत्व भी दो प्रकार का है। बहुत्व में जातिविशेष के अन्य बली (अंशों तथा उनके संवादी एवं अनुवादी) स्वरों का भी सञ्चार (आरोहावरोह में पुनः पुनः प्रयोग) होता है।[३२]

(९) षाडवित

'अन्तरमार्ग' को प्राप्त, गाये हुए अनंश स्वरों में लंघन एवं अनभ्यास से एक बार यथा-जाति उच्चारण षाडवित (और औडुवित) है।[३३]

'षट्' का अर्थ छः और 'अव्' का अर्थ रक्षण है। जाति, राग इत्यादि के 'अव'

२९–द्विविधमल्पत्वम्––लङ्घनादनभ्यासाच्च।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

३०–ईषत्स्पर्शो लङ्घनं स्यात्।

—सं० रत्ना०, अं० सं०, स्वरा०, पृ० १९०

३१–ईषत्स्पर्शो लङ्घनं स्यात्प्रायस्तल्लोप्यगोचरम्।
अनभ्यासस्त्वनंशेषु प्रायो लोप्येष्वपीष्यते॥ " "

३२–तद्वद् बहुत्वमल्पत्वविपर्ययाद् द्विविधमेवान्येषां बलिनां सञ्चारः।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

३३–तत्र षाडवौडुवितत्वकरणमं (मनं?) शानां गीतानामन्तरमार्गमुपगतानां स्वराणां लङ्घनादनभ्यासाच्च सकृदुच्चारणं यथाजाति।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४३

'रक्षक' 'षट्' स्वर 'षडव' (षट्+अव) कहलाते हैं। षडव स्वरों में व्यक्त होने के कारण ही षट्स्वर गीत षाडव कहलाते हैं।[३४]

चार नित्य सम्पूर्ण जातियों के अतिरिक्त चौदह जातियों का षाडवीकरण होता है। इन चौदह जातियों के समस्त अंशस्वरों का योग चौवन है। सात षाडवद्वेषी स्वरों को इस संख्या में से घटा देने पर षाडवित प्रकार सैंतालीस रह जाते हैं। इसी लिए कहा गया है; षट्स्वर षाडवित चतुर्दशविध हैं, जिनके (उप) प्रकार सैंतालीस होते हैं।[३५]

(१०) औडुवित

उडु का अर्थ (नक्षत्र) और 'वा' का अर्थ 'गमन करना' है। 'उडु' जिसमें 'वान' करें, वह 'उडुव' कहलाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में आकाश (उडुव) का स्थान पाँचवाँ है, अतः पाँचवीं संख्या 'औडुवी' कहलाती है। सात स्वरों में नियमानुसार दो स्वरों का लोप होने पर अवशिष्ट पाँच स्वर 'औडुव' कहलाते हैं। सम्पूर्ण अवस्था को औडुव अवस्था में परिणत करना ही औडुवित या औडुवीकरण है।[३६]

आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती, नैषादी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, रक्तगान्धारी और कैशिकी, इन दस जातियों में औडुवित प्रयोग होता है।

दस औडुवित जातियों के अंशस्वरों का योग बयालीस है, इनमें से बारह औडुवद्वेषी स्वरों की संख्या घटा देने पर वे अंशस्वर तीस बचते हैं,जो औडुवित प्रकारों की संख्या

३४–षडवन्ति प्रयोगं ये स्वरास्ते षाडवा मताः। षट्स्वरं तेषु जातत्वाद् गीतं षाडवमुच्यते॥
—रत्नाकर, स्वरा०, अ० सं०, पृ० १९१

३५–षट्स्वरं षाडवितं चतुर्दशविधं सप्तचत्वारिंशत्प्रकारम्। पूर्वोक्तविधानं यथाजात्यंशप्रकारैरिति॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४४

३६–वान्ति यान्त्युडवोऽत्रेति व्योमोक्तमुडुवं बुधैः।
पञ्चमं तच्च भूतेषु पञ्चसंख्या तदुद्भवा॥
औडवी सास्ति येषां च स्वरास्ते त्वौडुवा मताः।
ते सञ्जाता यत्र गीते तदौडुवितमुच्यते।
तत्सम्बन्धादौडुवं च पञ्चस्वरमिदं विदुः॥
—रत्नाकर, स्वरा०, पृ० १९२

भी 'तीस' कर देते हैं। इसी लिए कहा गया है कि प्रयोगज्ञों को औडुवित दशविध समझना चाहिए, जिसके प्रकार तीस हैं।[३७]

महर्षि भरत के दस जातिलक्षणों की व्याख्या उपर्युक्त है। अन्तरमार्ग, संन्यास और विन्यास को महर्षि ने पृथक् लक्षण न मानकर इनका अन्तर्भाव दस लक्षणों में किया है। शार्ङ्गदेव ने इन तीनों को पृथक् गिनकर 'जाति-लक्षण' तेरह बताये हैं।[३८]

(१) अन्तरमार्ग

न्यास, अपन्यास, विन्यास, ग्रह और अंश के स्थान के अतिरिक्त, बीच-बीच में अंश, ग्रह, अपन्यास, विन्यास एवं संन्यास स्वरों के साथ अल्प स्वरों की विचित्रता उत्पन्न करनेवाली सङ्गति, जो कहीं अनभ्यास और कहीं लंघन द्वारा हो, 'अन्तरमार्ग' कहलाती है, जो प्रायः विकृत जातियों में होती है।[३९]

(२) संन्यास

गीत की प्रथम 'विदारी' को समाप्त करनेवाला अंश का संवादी या अनुवादी स्वर संन्यास कहलाता है। 'विदारी' का अर्थ 'गीतखण्ड' है।[४०]

३७—पञ्चस्वरमौडुवितं विज्ञेयं दशविधं प्रयोगज्ञैः।
त्रिंशत्प्रकारविहितं पूर्वोक्तं लक्षणं त्वस्य॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४४

३८—यद्यपि भरतमतङ्गादिभिः संन्यासविन्यासयोर्विदार्याश्रितत्वादपन्यासेऽन्तर्भावेणान्तरमार्गस्याप्यंशाद्यवयवानामन्योन्यसंघटनात्मकस्यांशादिसम्बन्धाधीनसिद्धेः पृथगुद्देशो नापेक्षित इति दशकं जातिलक्षणमित्युक्तम्, तथापि संन्यासविन्यासयोः पृथगवयवत्वेनान्तरमार्गस्य तु सत्स्वंशादिष्ववयवेषु तेन विना प्रयोगासिद्धेस्तस्यावश्यकत्वाल् लक्षणेषु पृथगुद्दिश्य त्रयोदशेत्युक्तं ग्रन्थकारेण।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १८१

३९—न्यासादिस्थानमुज्झित्वा मध्ये मध्येऽल्पतायुजाम्।
स्वराणां या विचित्रत्वकारिण्यंशादिसङ्गतिः।
अनभ्यासैः क्वचित् क्वापि लङ्घनैरेव केवलैः।
कृता सान्तरमार्गः स्यात् प्रायो विकृतजातिषु॥

—आचार्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १९१

४०—अंशाविवादी गीतस्याद्यविदारीसमाप्तिकृत्।

—आचार्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १८९

(३) विन्यास

जो स्वर विदारी के खण्डरूप पदों अर्थात् शब्दों के अन्त में रहता है, वह 'विन्यास' कहलाता है।[४१]

स्थायी स्वर

महर्षि भरत ने इस परिभाषा की चर्चा की है, परन्तु नाट्यशास्त्र के अट्ठाईसवें अध्याय में यह शब्द नहीं आया है। गान-क्रिया में 'इकतारे' या तानपूरे पर 'अंश' स्वर निरन्तर गूँजता रहता था। तन्त्रीवाद्यों में चिकारियाँ 'अंश' स्वर में मिलायी जाती थीं।[४२] निरन्तर गूँजते रहने के कारण ही 'अंश' स्वर 'स्थायी स्वर' कहलाता था। प्राचीन सम्प्रदाय का लोप हो जाने के कारण हम आज प्रत्येक 'स्थायी स्वर' को षड्ज कहने लगे हैं, फलतः स्थायी स्वर से अगले स्वरों को हम आज 'ऋषभ' इत्यादि की संज्ञा दे डालते हैं।

'उपोहन' क्रिया में 'स्थायी' स्वर को ही आधार स्वर मानकर अग्रिम स्वरों की यथास्थान स्थापना की जाती थी।[४३] 'ध्रुवा'[४४] इत्यादि के गान में राग के प्रकाशन के लिए 'झण्टुम्'[४५] इत्यादि वर्णों (अक्षरों) का स्थायिस्वराश्रित परिग्रह तथा 'लघु'

४१—...अंशाविवाद्येव विन्यासः स तु कथ्यते।
यो विदारीभागरूपपदप्रान्तेऽवतिष्ठते ॥
—आचार्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १८९

४२—गान्धाराद्यंशत्वमपि स्वस्थानस्थितानामेव। तेषां स्थायित्वकरणमपि वीणाया-मुपतन्त्रीणां स्वनादसाम्यापादनमिति रहस्यम्।
—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ०२०३

४३—उपोह्यन्ते समासव्यासतः पदकालतालमभिहिताः स्वरा यस्मिन् अङ्गे तत् तथोक्तम्।
—आचार्य अभिनवगुप्त, ना० शा०, बड़ोदा, द्वि० संस्क०, चतुर्थ अ०, पृ० १८५

४४—गेय पदविशेष 'ध्रुवा' कहलाते हैं, जिनका विस्तृत परिचय यथास्थान दिया जायेगा।

४५—कुछ निरर्थक अक्षर या अक्षरसमूह ब्रह्मप्रोक्त शुष्काक्षर कहलाते हैं, बहिर्गीत या निर्गीत प्रयोग में इनका प्रयोग सार्थक शब्दों के स्थान पर होता है। उपोहन क्रिया में गेय छन्द की गति, यति, लघु आदि अक्षरों का अनुकरण करनेवाला निरर्थक छन्द भी इनसे बन जाता है।

इत्यादि काल के परिज्ञान के लिए ताल का परिग्रह 'उपोहन' कहलाता है[४६]। 'उपोहन' से गीत की प्रवृत्ति (आरम्भ) होती है और वह स्थायिस्वराश्रित होता है।[४७] फलतः महर्षि भरत के अनुसार भी गीत का प्रवर्तक स्थायी स्वर 'अंश स्वर' ही है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने स्थायी स्वर की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिस पर राग का उपवेशन (अधिष्ठान) किया जाय, वह स्थायी स्वर कहलाता है।[४८] फलतः स्थायी स्वर राग का 'स्थान' है,[४९] वही राग में प्रयोज्य सप्तक का आरम्भक स्वर होता है।[५०]

जातियों के लक्षण

जातियाँ ब्रह्महत्या के पातक से भी मुक्ति दिलानेवाली मानी गयी हैं, इसी लिए उनमें मनमाना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार ऋक्, यजु और साम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वेदसम्मित जातियों में परिवर्तन असम्भव

४६–उपोहनं नाम–ध्रुवादिगानेषु रागप्रकाशनार्थं स्थायिस्वराश्रयणेन झण्टुमादिवर्णपरिग्रहो लघ्वादिकालपरिज्ञानाय तालपरिग्रहश्च।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० ३१

४७–उपोह्यन्ते स्वरा यस्मात् तस्माद् गीतं प्रवर्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं स्थायिस्वरसमाश्रयम्॥

—नाट्यशास्त्र, का० सं०, ३१ अ०, पृ० ३६०

४८–(अ) यत्रोपवेश्यते रागः स्थायी स्वरः स कथ्यते।

—आचार्य शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, प्रकीर्णका०, पृ० १७६

(आ) यत्र यस्मिस्तत्तद्रागांशभूते षड्जादिष्वन्यतमे स्वरे राग उपवेश्यते स्थाप्यते स स्वरो रागस्थितिहेतुत्वात् स्थायीति कथ्यते।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अ० सं०, प्रकी०, पृ० १७६

४९–स्थायिनं रागस्थितं स्थानमित्यर्थः।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २९६

५०–अस्यां स्थायिनमारभ्य गणयेत् सप्तकद्वयम्।

—आचार्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २८३

अस्यां किन्नर्यां स्थायिनमंशस्वरमारभ्य सप्तकद्वयं गणयेत्।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अ० सं०, वाद्या०, पृ० २८३

एवं अवाञ्छनीय है।[५१] पवित्रता-प्रिय हिन्दू जाति ने इसी लिए जातियों के रूप को अक्षुण्ण रखा है।

पहले कहा जा चुका है कि मतङ्ग ने जातियों की सीमा में संकोच करके बारह स्वरों को जातिरूप की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त मान लिया था, पर जातियों के अन्य लक्षणों में कोई परिवर्तन न तो उनके काल में हुआ था न शार्ङ्गदेव के काल में।

भरत की जाति-परम्परा अक्षुण्ण रही, केवल मन्द्रसीमा और तारसीमा में संकोच हुआ। उसका कारण ऐसे वाद्यों का निर्माण था, जिनमें चौदह सारें होने के कारण एक तार पर तीन सप्तकों का बजना सम्भव नहीं था। कुछ लोगों का विचार है कि मतङ्ग किन्नरी वीणा के आविष्कारक हैं,[५२] यदि यह सत्य है, तो उन्हें बार-बार तारों को सरकाने के झंझट से बचने के लिए जातियों की मन्द्रावधि एवं तारावधि में संकोच करना पड़ा होगा। कहा जाता है कि तन्त्रीवाद्यों पर 'सारें' भी पहले पहल मतङ्ग ने ही रखीं।

अस्तु, हम विभिन्न आचार्यों के द्वारा किये हुए जातिलक्षण देंगे, जिनसे यह सिद्ध हो जायगा कि उनमें भरत-परम्परा अक्षुण्ण है।

(१) षाड्जी

महर्षि भरत का कथन है—

"षाड्जी' के अंशस्वर निषाद और ऋषभ के अतिरिक्त पाँच स्वर (स, ग, म, प, ध) होते हैं। वहाँ गान्धार और पञ्चम अपन्यास होते हैं। इसमें न्यासस्वर षड्ज होता

५१—अपि ब्रह्महणं पापाज्जातयः प्रपुनन्त्यमूः।
ऋचो यजूंषि सामानि क्रियन्ते नान्यथा यथा।
तथा सामसमुद्भूता जातयो वेदसंमिताः॥
—आचार्य शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २७३

५२—मतङ्गप्रभृतिभिः किन्नरीनामवीणावादनमेव सम्प्रदाये प्रावर्तत (वर्त्यंत ?)।
—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५१९

आचार्य शार्ङ्गदेव ने देशी किन्नरी को प्राचीन किन्नरी से भिन्न बताकर दोनों के तीन-तीन पृथक् भेद किये हैं। महाराणा कुम्भ ने 'मतङ्गकिन्नरी' के नाम से एक किन्नरी विशेष का लक्षण दिया है, जिसमें चौदह या अठारह सारें बतायी हैं। संभवतः मतङ्ग ने किन्नरी में कोई संशोधन किया, 'मतङ्गकिन्नरी' शब्द इसी का द्योतक है। वाद्य पर मतङ्ग का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं।

हैं और सप्तम अर्थात् निषाद लोप्य होता है। निषाद के लोप से षाड्जी का षाडव रूप बनता है एवं ऋषभ तथा निषाद का प्रयोग अल्प होता है (क्योंकि ये दोनों स्वर इस जाति में अनंश हैं)। षड्ज-गान्धार तथा धैवत-षड्ज की सङ्गति होती है। प्रयोक्ताओं को इस जाति में गान्धार का बाहुल्य करना चाहिए।"[५३]

मतङ्ग का कथन है—

"षड्ज ग्राम से सम्बद्ध षाड्जी जाति के पाँच अंश और ग्रह होते हैं। तो जैसे—षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत ग्रह और अंश हैं। गान्धार और पञ्चम अपन्यास हैं। निषादहीन होने पर यह षाडव होती है। न्यास स्वर षड्ज है। षड्ज-गान्धार और षड्ज-धैवत की सङ्गति है। तारगति पञ्चस्वरपर है, मन्द्रगति षड्ज तक है। षड्ज और धैवत के लोप से औडुवित कभी नहीं बनता। जब सम्पूर्ण गायी जाती है तब ऋषभ-पञ्चम और निषाद-पञ्चम का अल्पत्व करना चाहिए। अन्य स्वरों का बाहुल्य है। इसकी मूर्च्छना धैवतादि है, ताल 'पञ्चपाणि' है। चित्र मार्ग में मागधी गीति और द्विकल '(एककल ?) पञ्चपाणि ताल, वार्तिक मार्ग में (द्विकल पञ्चपाणि ताल) सम्भाविता गीति, दक्षिण मार्ग में चतुष्कल पञ्चपाणि ताल और पृथुला गीति है। वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस हैं, (नाटक के) प्रथम प्रेक्षण के ध्रुवागान में इस जाति का विनियोग है।"[५४]

५३—अंशाः स्युः पञ्च षाड्जाया निषादर्षभवर्जिताः।
अपन्यासो भवत्यत्र गान्धारः पञ्चमस्तथा॥
न्यासश्चात्र भवेत् षड्जो लोप्यः सप्तम एव तु।
षाडवं सप्तमोपेतमल्पौ वै धैवतर्षभौ॥
षड्जगान्धारसञ्चारस्तथा धैवतषड्जयोः।
गान्धारस्य च बाहुल्यं त्वत्र कार्यं प्रयोक्तृभिः॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४७

५४—षड्जग्रामसंबद्धाया अंशा ग्रहाः पञ्च भवन्ति। तद्यथा—षड्जगान्धारमध्यमपञ्चमधैवता ग्रहा अंशाश्च। गान्धारपञ्चमावपन्यासौ। निषादहीना षाडवी। षड्जो न्यासः। षड्जगान्धारयोः षड्जधैवतयोश्च सङ्गतिः। पञ्चस्वरपरा तारगतिः। षड्जस्वरपरा मन्द्रगतिः। षड्जधैवतयोश्चौडुवितत्वं सर्वथैव नास्ति। सम्पूर्णा षाडवा। यदा सम्पूर्णा गीयते तदा ऋषभपञ्चमयोः निषादपञ्चमयोश्चाल्पत्वं कार्यम्। यदा षाडवा गीयते तदा ऋषभस्याल्पत्वं कार्यम्। शेषाणां स्वराणां बहुत्वम्। अस्य धैवतादिर्मूर्च्छना। (तालः)पञ्चपाणिः। चित्रे

जाति के रूप के सम्बन्ध में मतङ्ग ने जो कुछ कहा है, वह महर्षि के अनुसार अथवा उनके वचनों का पूरक मात्र है।

गीति, मार्ग और ताल इत्यादि का विनियोग भी महर्षि के अनुसार है, इन विषयों पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

वीर, रौद्र एवं अद्‌भुत रसों में इसका विनियोग बतलाता है कि मतङ्ग षाड्‌जी की षड्‌जांश अवस्था का लक्षण प्रधानतया कर रहे हैं।

महर्षि भरत के अनुसार यदि मन्द्र और तारावधि की पराकाष्ठाओं का प्रयोग करना हो, तो मतङ्ग की अठारह सारोंवाली किन्नरी में मूर्च्छना का आरम्भ अभीष्ट अंशस्वर से करना होगा और इस प्रकार अंशस्वर के परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूर्च्छना में परिवर्तन करना होगा। अठारह सारोंवाली किन्नरी में सातवाँ पर्दा मध्य स्थान का आरम्भक और चौदहवाँ पर्दा तार स्थान का आरम्भक है। अठारहवें पर्दे पर तारसप्तक पाँचवाँ स्वर प्राप्त होता है, तथा इसी पर्दे पर तार को मींडकर छठा एवं सातवाँ स्वर भी प्राप्त किया जा सकता है।

इसी लिए मतङ्ग ने मध्यसप्तक (सातवें पर्दे) से मूर्च्छनाओं के निर्देश की बात कही है, जिसके परिणामस्वरूप किन्नरी पर तीनों सम्पूर्ण स्थान प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि मुक्त तार से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थान की प्राप्ति हो जाती है।

मतङ्ग ने 'षाड्‌जी' में 'धैवतादि' मूर्च्छना का निर्देश किया है, फलतः इसी एक मूर्च्छना के स्थापित करने से षाड्‌जी के षड्‌जांश, गान्धारांश, मध्यमांश और पञ्चमांश रूप की प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि वे बारह स्वरों के अन्दर जाति के रूप की अभिव्यक्ति मान लेते हैं एवं मन्द्र तथा तार अवधियों के नियमों का कठोर रूप से पालन आवश्यक नहीं समझते। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि मतङ्ग की 'धैवतादि' मूर्च्छना 'ध नि स रे ग म प ध नि स रे ग' है, क्योंकि उनकी मूर्च्छनाएँ बारह स्वरों की हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उनकी किन्नरी पर सातवें से अठारहवें तक पर्दों की संख्या 'बारह' ही होती है।

मार्गे मागधी गीतिः पञ्चपाणिर्द्विकलः (एककलः ?)। वार्तिकमार्गे सम्भाविता गीतिः (द्विकलः पञ्चपाणिः तालः), चतुष्कलः पञ्चपाणिः दक्षिणे मार्गे पृथुला गीतिः। वीररौद्राद्‌भुता रसाः। प्रथमप्रेक्षणिके ध्रुवागाने विनियोगः।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६९०

मतङ्ग-किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करके उनकी मान्यताओं की परीक्षा की जा सकती है।

मतङ्ग-किन्नरी, धैवतादि मूर्च्छना

	पर्दे	स्वर
मेरु	०	ध
	१	नि
	२	स
	३	रे
	४	ग
	५	म
	६	प
	७	ध
	८	नि
	९	स
	१०	रे
	११	ग
	१२	म
	१३	प
	१४	ध
	१५	नि
	१६	स
	१७	रे
	१८	ग (मींड से म, प)

जिस स्वर को 'अंश' मानकर वादन करना हो, वही स्थायी स्वर होगा, फलतः 'चिकारी' अभीष्ट अंश में मिलाकर वादन करना चाहिए। अंश-स्वर से ही सप्तक का आरम्भ मानना होगा, भले ही वह अंश-स्वर किसी पर्दे पर हो।

षड्जांश षाड्जी

षड्ज अंश मानकर वादन करने पर नवें पर्दे पर स्थित 'स' मध्यसप्तक का आरम्भक स्वर होगा। दूसरे पर्दे पर स्थित मन्द्रषड्ज तक मतङ्ग-निर्दिष्ट मन्द्रावधि मिल जायगी। सोलहवाँ पर्दा तारसप्तक का आरम्भक होगा, तारसप्तक के पाँच स्वर मिल जायेंगे, जिनमें मध्यम और पञ्चम की प्राप्ति अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा होगी।

गान्धारांश षाड्जी

यह षाड्जी की अंशविकृत अवस्था है, फलतः इसमें मन्द्र अंश तक जाना अनिवार्य नहीं।

चौथे पर्दे पर स्थित गान्धार से पन्द्रहवें पर्दे पर स्थित निषाद तक बारह पर्दे होते हैं। चिकारी को गान्धार में मिला लेने पर गान्धारांश षाड्जी का रूप व्यक्त करने के लिए मतङ्ग के मत में ये बारह स्वर पर्याप्त हैं। जो मन्द्रावधि से तारावधि में यथेच्छ सीमा तक भ्रमण मानते हैं, वे मन्द्र और तार स्थान में और भी स्वर प्राप्त कर सकते हैं।

मध्यमांश षाड्जी

चिकारियाँ मध्यम में मिलायी जानी चाहिए। पाँचवें से सोलहवें पर्दे तक बारह स्वरों में जाति का स्वरूप व्यक्त होगा। अन्य मन्द्र एवं तार स्वरों का प्रयोग भी कामचारवादी कर सकते हैं।

पञ्चमांश षाड्जी

चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर छठे पर्दे से सत्रहवें पर्दे तक बारह स्वर मिलेंगे। कामचारवादियों को अन्य मन्द्र-तार स्वर मिल जायँगे। जाति का रूप मतंग के अनुसार पूर्वोक्त बारह पर्दों पर अभिव्यक्त हो जायगा।

धैवतांश षाड्जी

धैवत में चिकारियाँ मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र स्थान, सातवें से तेरहवें तक मध्य स्थान और चौदहवें से अठारहवें तक (मींड द्वारा प्राप्त मध्यम, पञ्चम को मिलाकर) सम्पूर्ण तारसप्तक की प्राप्ति हो जायगी।

सितारवादक भी सितार पर अभीष्ट स्वरों में चिकारियाँ मिलाकर जातिवादन कर सकते हैं, मूर्च्छनाओं की स्थापना भी की जा सकती है। तरबहीन सितार में यह प्रक्रिया सुविधाजनक रहेगी।

एक जाति के लिए तन्त्रीवाद्यों पर ऐसी मूर्च्छना की स्थापना करने की पद्धति मतङ्ग से पूर्वकालीन है, जिसकी स्थापना के परिणामस्वरूप उस जाति के अंश-विकृत रूपों के वादन के लिए मूर्च्छना न बदलनी पड़े। कश्यप का कथन है कि जाति में अंशों की बहुलता को देखकर बुध व्यक्तियों को मूर्च्छना का निर्देश करना चाहिए।[५५] मतङ्ग ने प्रत्येक जाति की मूर्च्छना निर्दिष्ट करके काश्यप के विधान को स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है —

"षाड्जी में निषाद और ऋषभ के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं, निषाद के लोप से षाडव रूप बनता है। पूर्णावस्था में कहीं-कहीं काकली का प्रयोग होता है। इस जाति में षड्जगान्धार एवं षड्ज-धैवत की सङ्गति है और गान्धार स्वर बहुल है। गान्धार के अंश स्वर होने पर निषाद का लोप नहीं होता। इसकी मूर्च्छना 'धैवतादि' है। इस जाति में तीन प्रकार का एककल, द्विकल और चतुष्कल ताल (पञ्चपाणि) है, क्रमशः चित्र, वृत्ति (वार्तिक) एवं दक्षिण मार्ग हैं, क्रमशः मागधी, सम्भाविता

५५–ज्ञात्वा जात्यंशबाहुल्यं निर्देश्या मूर्च्छना बुधैः।

—कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत–सं० र०, रागा०, अ० सं०, पृ० ३२

और पृथुला गीतियाँ हैं। प्रथम अंक की नैष्क्रामिकी ध्रुवा में इसका विनियोग है।[५६] इस षाड्जी में षड्ज न्यास है, गान्धार और पञ्चम अपन्यास हैं।"[५७]

नाटक के अतिरिक्त शंकरस्तुति में भी इसका विनियोग है।[५८] षड्ज के अंश होने पर इसमें कभी-कभी काकली का प्रयोग भरत के प्रतिकूल नहीं, आरोह में अन्तर स्वरों के प्रयोग की ओर नाटचशास्त्र में स्पष्ट संकेत है।[५९]

५६–षाड्ज्यामंशस्वराः पञ्च निषादर्षभवर्जिताः।
निलोपात् षाडवं सोऽत्र पूर्णत्वे काकली क्वचित ॥
सगयोः सधयोश्चात्र सङ्गतिर्बहुलस्तु गः।
गान्धारेंऽशे न नेर्लोपो मूर्च्छना धैवतादिका ॥
त्रिधा तालः पञ्चपाणिरत्र चैककलादिकः।
क्रमान्मार्गाश्चित्रवृत्तिदक्षिणा गीतयः पुनः ॥
मागधी सम्भाविता च पृथुलेति क्रमादिमाः।
नैष्क्रामिकध्रुवायां च प्रथमे प्रेक्षणे स्मृतः ॥
विनियोगो......

—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० १९६-१९७

५७–अस्यां षाड्ज्यां षड्जो न्यासः। गान्धारपञ्चमावपन्यासौ।

—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० १९७

५८–चकारात्स्वातन्त्र्येणापि ब्रह्मप्रोक्तपदैरन्यैर्वा शंकरस्तुतावेव विनियोगः समुच्चीयते।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र०, अं०सं०, स्वरा०, पृ०१९८

५९–अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः। —भरत०, ब० सं०, पृ० ४३७

षाड्जी जाति का ध्यान

जातियों या रागों के ध्यान का सम्बन्ध यथासम्भव सङ्गीत की आगम-पुराण-परम्परा से है। जगदेकमल्ल ने जातियों के ध्यान भी दिये हैं। षाड्जी का ध्यान निम्नलिखित है—

वीणाक्वणश्रवणजातकुतूहलेन देवेन कामरिपुणा परिरभ्यमाणाम्।
पाशांकुशांकितकरामरुणावभासां षाड्जीं समस्तजननीमनिशं नमामि ॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० ६९०

अर्थात्—'मैं सबकी जननी षाड्जी को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, वीणाध्वनि के श्रवण से सकुतूहल, कामरिपु (होने पर भी) भगवान् शंकर के द्वारा जिनका आलिङ्गन किया जा रहा है, जिनका करतल पाश और अंकुश के चिह्नों से युक्त है और जिनकी कान्ति अरुण है।

(२) आर्षभी

महर्षि भरत का कथन है —

"आर्षभी में धैवत, ऋषभ और निषाद अंश तथा अपन्यास स्वर हैं। न्यासस्वर ऋषभ है। षाडवकारी (षड्ज) का अल्पत्व है, आरोह में पञ्चम का लंघन है। षड्ज के लोप से षाडव और पञ्चम के लोप से औडुव प्रकार बनता है, (अन्य अवशिष्ट स्वरों के साथ) निषाद और गान्धार की सङ्गति होती है।"[६०]

मतङ्ग का कथन है —

"शुद्ध आर्षभी का गान होता है, (नियम इस प्रकार हैं—) षड्ज-पञ्चम का अल्पत्व है। ऋषभ, धैवत एवं निषाद ग्रह हैं, यही स्वर अंश हैं, यही अपन्यास हैं। तार निषाद (अंश स्वर से पाँच स्वर पश्चात् विद्यमान) प्रयुक्त होता है। ऋषभ न्यासस्वर है, मन्द्रावस्था न्यासस्वर पर्यन्त अथवा (अवरोहस्थिति में) उससे पश्चाद्वर्ती स्वर तक मन्द्रावधि है। (ऋषभांश, निषादांश एवं धैवतांश अवस्थाओं में क्रमशः अंशस्वरों से पूर्ववर्ती षड्ज, धैवत और पञ्चम तक मन्द्रावधि है।) निषाद-गान्धार की सङ्गति है। षड्जहीन रूप षाडव एवं षड्ज-पञ्चमहीन रूप औडुव होता है। पूर्णावस्था में षड्ज, गान्धार, पञ्चम का अल्पत्व है और औडुवित अवस्था में गान्धार और मध्यम का। अवशिष्ट स्वर बहुल हैं। तीन सम्पूर्ण, तीन षाडव और तीन औडुव रूप होने के कारण इसके कुल अंशस्वर नौ (तीन ऋषभ+तीन निषाद+तीन धैवत=नौ) शुद्ध एवं अंश विकृत अवस्थाओं में हो जाते हैं। मूर्च्छना पञ्चमादि है। ताल चञ्चत्पुट है।

६०—आर्षभ्यां तु भवन्त्यंशा धैवतर्षभसप्तमाः।
एत एवं अपन्यासा न्यासश्च ऋषभः स्मृतः॥
अल्पत्वञ्च विशेषेण भवेत्षाडवकारिणः।
लंघनं पञ्चमस्यैव स्यादारोहणसंश्रयात्॥
षट्स्वरं सप्तमहीनं*(षड्जहीनत्वे) पञ्चस्वर्ये च पञ्चमः।
विवादिनां स्वराणां च सञ्चारोऽत्र विधीयते॥

—भरत, ब० सं०, पृ० ४४८

*नाटचशास्त्र के मुद्रित संस्करणों का यह पाठ लिपिकों के प्रमाद का परिणाम है। परस्पर संवादी स्वर औडुवावस्था के निर्माता होते हैं। इस पाठ में औडुव-कारी स्वर पञ्चम कहा गया है और आरोह में उसका लंघन बताया है, फलतः षाडवावस्था के जनक षड्ज का लोप ही सम्भव है। मतङ्ग एवं शार्ङ्गदेव ने भी षड्ज का लोप आर्षभी में षाडवकारी माना है।

एककल ताल चित्रमार्ग से मागधी, द्विकलताल वार्तिक मार्ग से संभाविता और चतुष्कल ताल, दक्षिण मार्ग से पृथुला गीति होती है। वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस हैं। प्रथम अङ्क में नैष्क्रामिकी ध्रुवा का गान इसमें होता है।''[६१]

मतङ्ग-लक्षण में गान्धार का अल्पत्व भरत-विधान के अनुकूल नहीं, इसी लिए सम्भवतः शार्ङ्गदेव को यह मान्य नहीं हुआ।

मतङ्ग-किन्नरी पर पञ्चमादि मूर्च्छना में आर्षभी की विभिन्न अवस्थाएँ देखें—

पर्दे	स्वर
०मेरु	प
१	ध
२	नि
३	स
४	रे
५	ग
६	म
७	प
८	ध
९	नि
१०	स
११	रे
१२	ग
१३	म
१४	प
१५	ध
१६	नि
१७	स
१८	रे

ऋषभांश शुद्ध आर्षभी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने के पश्चात् चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य एवं अठारहवें से तार स्थान का आरम्भ मानिए।

मन्द्र न्यासस्वर ऋषभ की प्राप्ति मन्द्रावस्था में चौथे पर्दे में होगी, अवरोहगति में इससे पर अर्थात् तीसरे पर्दे पर स्थित षड्ज भी मिल जायगा।

अठारहवें पर्दे पर तार को पाँच स्वर तक मींड़ द्वारा निषाद की प्राप्ति कुशल वैणिकों के लिए असम्भव नहीं। पर्दे में गुंजाइश होने पर वैणिक सात-सात स्वर तक खींचते हैं।

धैवतांश विकृत आर्षभी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने के पश्चात् मन्द्रस्थान का आरम्भ पहले, मध्यस्थान का आठवें तथा तारस्थान का पन्द्रहवें से मानिए।

सम्पूर्ण मन्द्रस्थान, सम्पूर्ण मध्यस्थान और अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा ग म, प की सिद्धि करने पर सम्पूर्ण तारस्थान भी प्राप्त हो जायगा।

मतङ्ग के विधान के अनुसार पहले पर्दे से बारहवें तक भी बारह स्वर मिलते हैं और आठवें पर्दे से, अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त गान्धार तक भी, जो धैवतांश षाड्जी के रूप को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। धैवत अंश से, (अवरोहगति में) परवर्ती पञ्चम दोनों स्थितियों में सुलभ है।

६१—आर्षभी शुद्धा गीयते। निषाद (षड्ज ?) पञ्चमाल्पत्वम्। ऋषभधैवतनिषादा ग्रहाः। स्वयमेवांशाः। त एवापन्यासाः। पञ्चस्वरपरस्तारो निषादः। ऋषभो न्यासः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। (मन्द्राः ?) षड्जधैवतपञ्चमाः। ऋषभ-

निषादांश विकृत आर्षभी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने के पश्चात् दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार-स्थान की प्राप्ति हो जायगी। अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा धैवत प्राप्त करने पर तीनों सम्पूर्ण स्थान प्राप्त होंगे।

बारह स्वरों में जाति के रूप की अभिव्यक्ति माननेवालों को यथेच्छ बारह स्वर मिलेंगे।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"आर्षभी में तीन स्वर अंश होते हैं; निषाद, ऋषभ और धैवत। द्विश्रुति स्वरों की सङ्गति अन्य स्वरों के साथ होती है। पञ्चम का लंघन है। षड्ज के लोप से षाडव और षड्ज-पञ्चम के लोप से इस जाति में औडुव रूप होता है। मूर्च्छना पञ्चमादि है, और ताल चञ्चत्पुट।...विनियोग षाड्जी जाति के समान है।[६२] इस आर्षभी में ऋषभ न्यास है और अंश स्वर ही अपन्यास स्वर हैं।"[६३]

(निषाद ?) गान्धारयोस्तु संगतिः। षड्जहीने (नं ?) षाडव (म्) षड्जपञ्चमहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायां षड्जगान्धारपञ्चमानामल्पत्वम्। औडुविते गान्धारमध्यमयोरल्पत्वम्। शेषाणां बहुत्वम्। दश (नव ?) विधत्वं चास्या दशां (नवां) शाः शुद्धविकृताः पूर्णास्त्रयः। पञ्चम्या (मा ?) दि-मूर्च्छना। चञ्चत्पुटस्तालः। एककलेन चित्रेण मागधी। द्विकलेन वार्तिकेन सम्भाविता। चतुष्कलेन दक्षिणेन पृथुला। वीररौद्राद्भुता रसाः। प्रथमप्रेक्षणके नैष्क्रामिकी-ध्रुवागाने विनियोगः।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५७

६२—आर्षभ्यां तु त्रयोंऽशाः स्युर्निषादर्षभधैवताः।
द्विश्रुत्योः सङ्गतिः शेषैर्लङ्घनं पञ्चमस्य च॥
षाडवं षड्जलोपेन सपलोपादिहौडुवम्।
मूर्च्छना पञ्चमादिश्च तालश्चञ्चत्पुटो मतः।
अष्टौ कला भवन्तीह विनियोगश्च पूर्ववत्॥

—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० २०३

६३—अस्यामार्षभ्यामृषभो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।

—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० २०४

आर्षभी का ध्यान

निस्सीमवाङ्मनसयो (?) रतिदूरवर्ति यस्या महत्त्वमवधीरयितुं प्रवृत्तः।
पद्मासनो ऽपि परिहास्यदशां प्रयाति तामार्षभीं शुकनिभामनिशं नमामि॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० ५७

ध्यान देने की बात यह है कि जातियों की मूर्च्छनाएँ आचार्य शार्ङ्गदेव ने मतङ्गोक्त ली हैं, परन्तु इस जाति में मतंगविहित गान्धार के अल्पत्व को भरतविरोधी होने के कारण अमान्य कर दिया है।

(३) गान्धारी

महर्षि भरत का कथन है—

"गान्धारी में धैवत और ऋषभ के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं। षड्ज एवं पञ्चम अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यासस्वर है। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुवित रूप होता है। ऋषभ और धैवत का लङ्घन है, अर्थात् पूर्णावस्था में इनका प्रयोग अत्यल्प है। ऋषभ से धैवत पर जाना चाहिए।"[६४]

मतङ्ग मुनि का कथन है—

"गान्धारी जाति में गान्धार, षड्ज, मध्यम, पञ्चम, निषाद ग्रह और अंश हैं। तारस्थान में पाँच स्वरों तक गति है। न्यास तक अथवा अवरोहगति में उससे पर (ऋषभ) तक मन्द्रगति है। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुव रूप बनता है। पूर्णावस्था में ऋषभ-धैवत का अल्पत्व होता है, अवशिष्ट स्वरों का बाहुल्य होता है। स्वरनामयुक्त जाति होने के कारण गान्धार न्यास है। षड्ज-मध्यम (पञ्चम) अपन्यास हैं। धैवत-ऋषभ की संगति है। यह दस प्रकार की होती है (पञ्चम अंश होने पर केवल सम्पूर्ण अवस्था, निषाद, षड्ज और मध्यम के अंश होने पर सम्पूर्ण और षाडव अवस्थाएँ तथा गान्धार के अंश होने पर पूर्ण, षाडव और औडुव अवस्थाएँ होती हैं)। मूर्च्छना धैवतादि है। ताल चञ्चत्पुट है। एककल, द्विकल, चतुष्कल ताल से चित्र, वार्तिक, दक्षिण मार्ग में मागधी,

---

अर्थात्—जिसके निस्सीम, वाणी और मन के अत्यन्त दूरवर्ती महत्त्व का तिरस्कार करने में प्रवृत्त पद्मासन ब्रह्मा भी उपहास के पात्र बनते हैं, मैं उस शुककान्ति आर्षभी को प्रणाम करता हूँ।

६४–गान्धार्याः पञ्च स्युरंशा धैवतर्षभवर्जिताः।
अपन्यासो भवेच्चात्र षड्जः पञ्चम एव च॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यासः षाडवं चर्षभं विना।
ऋषभधैवतोपेतं तथा चौडुवितं भवेत्।
लंघनीयौ च तौ नित्यमृषभो धैवतं व्रजेत्॥ ——भरत०, ब० सं०, पृ० ४४९

संभाविता और पृथुला गीतियाँ होती हैं। करुण रस है। तृतीय अंक के ध्रुवा-गान में इस जाति का प्रयोग करना चाहिए।"[६५]

मतङ्ग के वर्तमान लक्षण में षड्ज-मध्यम का अपन्यास लिपिक के प्रमाद का परिणाम है। भरत, दत्तिल[६६], नान्यदेव[६७] इत्यादि सभी ने इस जाति के अपन्यास स्वर षड्ज-पञ्चम बताये हैं।

मतङ्ग-किन्नरी पर धैवतादि (मध्यमग्राम की) मूर्च्छना स्थापित करके गान्धारी के विभिन्न रूपों को देखना चाहिए—

	पर्दे स्वर
मेरु	०—ध
	१—नि
	२—स
	३—रे
	४—ग
	५—म
	६—प
	७—ध
	८—नि
	९—स
	१०—रे

गान्धारांश शुद्ध गान्धारी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे, मध्यस्थान ग्यारहवें पर्दे और तारस्थान अठारहवें पर्दे से आरम्भ होगा। अठारहवें पर्दे पर मींड के द्वारा तार मध्यम, पञ्चम, धैवत निषाद भी प्राप्त किये जा सकते हैं। मन्द्रस्थान में न्यासस्वर गान्धार और अवरोह गति में उस पर अर्थात् तीसरे पर्दे पर ऋषभ की प्राप्ति भी हो जायगी।

मध्यमांश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर मन्द्रस्थान पाँचवें पर्दे और मध्यस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। तारस्थानीय म, प, ध, नि अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। बारह स्वरों में जाति के रूप को देखनेवाले बारह स्वर प्राप्त कर सकते हैं। मन्द्रस्थान में न्यासस्वर भी उन्हें मिल सकता है।

६५—गान्धारषड्जमध्यमपञ्चमनिषादा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। ऋषभहीनं षाडवम्। रिधहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायाम् ऋषभधैवतयोरल्पत्वम्। शेषाणां बहुत्वम्। स्वरजातित्वाद् गान्धारो न्यासः। षड्जमध्यमावपन्यासौ। धैवतर्षभयोः सङ्गतिः। अस्यां दशविधलक्षणम्। मूर्च्छना धैवतादिः। चञ्चत्पुटस्तालः। एकद्वित्रिचतुष्कलैः। चित्रवार्तिकदक्षिणेषु मागधीसम्भाविता पृथुला गीतयः। करुणो रसः। तृतीयप्रेक्षणि (ण?) के ध्रुवागाने विनियोगः। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० १७३

६६—गान्धार्या द्वावनंशौ तु ज्ञेयावृषभधैवतौ।
क्रमान्वि (न्नि?) त्यमपन्यासौ विज्ञेयौ षड्जपञ्चमौ॥ —दत्तिल, भ० को०, पृ० १७४

६७—सगमपनि स्वरा अंशाश्च। सपावपन्यासौ। गान्धारो न्यासः। रिलोपे षाडवम्। रिधलोपे औडुवितम्। रिधौ लंघनीयौ। —नान्य०, भ० को०, पृ० १७३

पर्दे	स्वर
११	ग
१२	म
१३	प
१४	ध
१५	नि
१६	स
१७	रे
१८	ग

पञ्चमांश विकृत गान्धारी—द्वादशस्वरवादियों को यथेच्छ बारह स्वर मिलेंगे। चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्यस्थान और तेरहवें से तारस्थान मिलेगा। मन्द्र में न्यासस्वर गान्धार और अपन्यास स्वर षड्ज की प्राप्ति भी हो जायगी।

निषादांश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्रस्थान, आठवें से मध्यस्थान और पन्द्रहवें से तारस्थान मिलेगा। तारस्थानीय म, प, ध अठारहवें पर्दे पर मींड के द्वारा मिल जायँगे। द्वादशस्वरवादियों को भी यथेष्ट मन्द्र-तार सीमाएँ मिल जायँगी।

षड्जांश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर मन्द्रस्थान दूसरे पर्दे, मध्यस्थान नवें पर्दे तथा तारस्थान पन्द्रहवें पर्दे से मिलेगा। कुशल वैणिक अठारहवें पर्दे पर मींड के द्वारा तारस्थानीय म, प, ध, नि भी प्राप्त कर सकते हैं। द्वादशस्वरवादी भी अपनी अभीष्ट सीमाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"गान्धारी में ऋषभ-धैवत के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं, न्यास और अंश-स्वरों की परस्पर एवं अन्य स्वरों के साथ संगति होती है। क्रमशः ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुव रूप बनता है। धैवत से ऋषभ पर जाना चाहिए। पञ्चम (अंश होने पर) षाडव अवस्था का द्वेषी (बाधक) होता है। निषाद, षड्ज, मध्यम एवं पञ्चम के अंश होने पर औडुवित रूप नहीं होता। मूर्च्छना धैवतादि है, ताल चञ्चत्पुट है। तृतीय अंक के ध्रुवागान में प्रयोज्य है।[६८] इस गान्धारी में गान्धार स्वर न्यास है और षड्ज-पञ्चम अपन्यास हैं।"[६९]

६८—पञ्चांशा रिधवर्ज्याः स्युर्गान्धार्याः सङ्गतिः पुनः।
न्यासांशाभ्यां तदन्येषां धैवताद् ऋषभं व्रजेत्॥
रिलोपरिधलोपाभ्यां षाडवौडुविते क्रमात्।
पञ्चमः षाडवद्वेषी निसमध्यमपञ्चमाः॥
अंशा द्विपन्त्यौडुवितं कलाः षोडश कीर्तिताः।
मूर्च्छना धैवतादिः स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मतः।
विनियोगो ध्रुवागाने तृतीये प्रेक्षणे भवेत्॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २०६

६९—अस्यां गान्धार्यां गान्धारो न्यासः। षड्जपञ्चमावपन्यासौ।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २०७

(४) मध्यमा

महर्षि भरत का कथन है—

"मध्यमा जाति में गान्धार और निषाद के अतिरिक्त अन्य स्वर अंश होते हैं, वही स्वर अपन्यास भी होते हैं। मध्यम न्यास होता है। गान्धार और निषाद के लुप्त होने पर औडुव एवं गान्धार का लोप होने पर षाडव रूप होता है। इस जाति के प्रयोग में षड्ज-मध्यम का बाहुल्य तथा गान्धार का लंघन प्रयोक्ताओं के द्वारा किया जाना चाहिए।"[७०]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"मध्यमा में गान्धार और निषाद के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं। षड्ज-मध्यम का बाहुल्य और गान्धार का अल्पत्व होता है। गान्धार के लोप से षाडव और गान्धार-निषाद के लोप से औडुव रूप होता है। मूर्च्छना ऋषभादि है, ताल चञ्चत्पुट माना गया है। द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।[७१] इस जाति में मध्यम न्यास है तथा अंशस्वर अपन्यास हैं।"[७२]

गान्धारी का ध्यान

स्वर्णाभिरामरुचिमुज्ज्वलरूपवेषां वीणाविनोदकुतुकां मृदुमीलिताक्षीम्।
देवीं दयार्द्रहृदयां प्रणतिगतेषु गान्धारमाश्रितवतीमनिशं नमामि ॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० १७४

अर्थात्—मैं निरन्तर उन गान्धारी देवी को प्रणाम करता हूँ, जिनकी कान्ति स्वर्णाभिराम है, जिनका रूप और वेष उज्ज्वल है, वीणा-विनोद जिनका कौतुक है, जिन्होंने (वीणाविनोद के परिणामस्वरूप) मृदुतापूर्वक नेत्र निमीलित कर लिये हैं और जो प्रणाम करनेवालों के प्रति दयार्द्रहृदया हैं।

७०—मध्यमायां भवन्त्यंशा बिना गान्धारसप्तमौ।
एत एव ह्यपन्यासा न्यास एव हि मध्यमः ॥
गान्धारसप्तमोपेतं पञ्चस्वर्यं विधीयते।
षाट्स्वर्य्यं चाप्यगान्धारं कर्तव्यं तु प्रयोगतः ॥
षड्जमध्यमयोश्चात्र कार्यं बाहुल्यमेव च।
गान्धारलङ्घनं चात्र नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५०

७१—पञ्चांशा मध्यमायां स्युरगान्धारनिषादकाः।
षड्जमध्यमबाहुल्यं गान्धारोऽल्पोऽत्र षाडवम् ॥
गलोपान्निगलोपेन त्वौडुवं स्यात्कलाष्टकम्।

मतङ्ग-किन्नरी पर ऋषभादि मूर्च्छना की स्थापना करके मध्यमा के शुद्ध एवं विकृत रूपों की स्थिति देखें—

पर्दे	स्वर
०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प
११	ध
१२	नि
१३	स
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

मध्यमांश शुद्ध मध्यमा—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर दूसरें पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य एवं सोलहवें से तार स्थान का आरम्भ होगा । अठारहवें पर्दे पर मींड के द्वारा निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार की प्राप्ति करने पर तारस्थानीय समस्त स्वर मिल जायँगे ।

पञ्चमांश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य एवं सत्रहवें से तारस्थान का आरम्भ मिलेगा । अठारहवें पर्दे पर मींड के द्वारा नि, स, ग, म प तक तारस्थानीय स्वर प्राप्त किये जा सकते हैं ।

धैवतांश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे से, मध्यस्थान ग्यारहवें से और तारस्थान अठारहवें से प्रारम्भ होगा । अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा नि, स, रे, ग, म तक तारस्थानीय स्वर मिल जायँगे ।

षड्जांश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर मध्यसप्तक का आरम्भ छठे और तारसप्तक का तेरहवें से होगा, तारस्थानीय निषाद अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त हो जायगा । मन्द्र स्थान में षड्ज के अतिरिक्त अन्य छहों स्वरों की प्राप्ति हो जायगी । मन्द्रावधि में न्यासस्वर मध्यम दूसरे पर्दे पर मिलेगा ।

ऋषभांश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य एवं चौदहवें पर्दे से तार-स्थान का आरम्भ होगा, तारस्थानीय निषाद और षड्ज अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त होंगे ।

ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मतः ।
विनियोगो ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणे भवेत् ॥

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २११

७२–अस्यां मध्यमायां मध्यमो न्यासः । अंशा एवापन्यासाः ।

(५) पञ्चमी

महर्षि भरत का कथन है —

"पञ्चमी जाति में दो स्वर, पञ्चम और ऋषभ, अंश होते हैं। निषाद, पञ्चम और ऋषभ अपन्यास हैं। मध्यमा के समान षाडव-औडुव (अर्थात् गान्धार लोप से षाडव और गान्धार-निषाद के लोप से औडुव) करना चाहिए। इस जाति में षड्ज-गान्धार-पञ्चम दुर्बल हैं। इस जाति में मध्यम-ऋषभ की सङ्गति है। गान्धार से निषाद पर जाना चाहिए।"[७३]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं —

"पञ्चमी में ऋषभ-पञ्चम अंश हैं, स-ग-म स्वल्प हैं। ऋषभ-मध्यम की संगति है। पूर्णावस्था में गान्धार से निषाद पर जाना चाहिए। गान्धार एवं गान्धार-निषाद के

टिप्पणी—मतङ्गकृत जाति-लक्षण हम भरत-कोष के आधार पर दे रहे हैं, जिन जातियों के मतङ्गकृत लक्षण उसमें नहीं, वे नहीं दिये जा रहे हैं।

मध्यमा का ध्यान

मन्दारकुन्दकुमुदप्रतिरूपरूपाम् इन्दीवरायतविशालविलोलनेत्राम्।
चन्द्रावतंसपरिचुम्बितपादपद्मां तां मध्यमस्वरमयीमनिशं नमामि॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० ४६७

अर्थात्—मैं उस मध्यमा जाति को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, जिसका रूप मन्दार, कुन्द एवं कुमुद का प्रतिरूप है, जिसके नेत्र इन्दीवर के समान विस्तृत, विशाल एवं चञ्चल हैं और चंन्द्रावतंस (भगवान् शंकर ?) ने जिसके चरणकमलों का चुम्बन किया है।

७३—द्वावंशावपि पञ्चम्या भवतः पञ्चमर्षभौ।
अपन्यासो निषादश्च पञ्चमर्षभसंयुतः॥
न्यासः पञ्चम एव स्यात् मध्यमर्षभहीनता।
दुर्बलाश्चात्र कर्तव्या षड्जगान्धारमध्यमाः॥
कुर्य्याच्चाप्यत्र सञ्चारं मध्यमस्यर्षभस्य च।
गान्धारगमनं चाल्पं सप्तमात् सम्प्रयोजयेत्॥

—भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के बम्बई-संस्करण में 'कुर्यादस्याञ्च संचारं पञ्चमस्यर्षभस्य च' पाठ है, जो लिपिकर्ता के प्रमाद का परिणाम है। माध्यमग्रामिक होने के कारण यह जाति ऋषभ-पञ्चम-परस्परसंवादी है, परस्पर संवादी स्वरों की सङ्गति स्वतः सिद्ध होती है, उसके लिए विशिष्ट विधान की आवश्यकता नहीं होती।

लोप से क्रमशः षाडव एवं औडुव अवस्था जानना चाहिए। ऋषभ अंश होने पर औडुवावस्था का विरोधी है। कलाएँ आठ हैं। मूर्च्छना ताल इत्यादि मध्यमा के समान हैं। तृतीय अंक में विनियोग है। पञ्चम न्यास है, ऋषभ-पञ्चम-निषाद अपन्यास हैं।"[७४]

अब मतङ्ग-किन्नरी पर 'ऋषभादि' मूर्च्छना स्थापित करने से पञ्चमी की शुद्ध एवं विकृत अवस्थाओं की यह स्थिति होगी––

पर्दे	स्वर
मेरु ०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प

पञ्चमांश शुद्ध पञ्चमी––चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर मन्द्रसप्तक का आरम्भ तीसरे, मध्यसप्तक का दसवें और तारसप्तक का आरम्भ सत्रहवें पर्दे से होगा। अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा तारसप्तक के निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम की प्राप्ति हो जायगी।

ऋषभांश विकृत पञ्चमी––चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य एवं चौदहवें पद से तारस्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय निषाद और षड्ज की प्राप्ति भी मींड से हो जायगी।

साधारणतया षाडवकारी स्वर जातियों में अल्प (अनभ्यासयुक्त) और उसका संवादी औडुवकारी स्वर अल्पतर (लंघनयुक्त) होता है। परन्तु इस जाति में औडुवकारी निषाद 'अपन्यास'

७४–रिपावंशौ तु पञ्चम्यां सगमाः स्वल्पका मताः।
रिमयोः संगतिर्गच्छेत्पूर्णत्वे गान्निषादकम् ॥
क्रमाद् गेन निगाभ्यां च षाडवौडुवता मता।
ऋषभोंऽशस्त्वौडुवितं द्वेष्टचष्टौ च कला मताः।
मूर्च्छनादि तु पूर्वावत्प्रेक्षणं तु तृतीयकम् ॥
अस्यां पञ्चम्यां पञ्चमोन्यासः? ऋषभपञ्चमनिषादा अपन्यासाः।

––सं० र०, स्वरा०, अ०सं०, पृ० २१४

टिप्पणी––यद्यपि षाडवौडुवकारी स्वरों से ऋषभ का संवादित्व नहीं, तथापि ऋषभ को अंशावस्था में औडुवद्वेषी कहना भरत के विधान––
'ऋषभश्चैव पञ्चम्यां कैशिक्याञ्चैव धैवतः।
एवं हि द्वादशैते स्युः वर्ज्याः पञ्च स्वरे सदा ॥'
के अनुसार है। ––ना० शा०, ब० सं०, पृ० ४४२

पर्दे	स्वर
११	ध
१२	नि
१३	स
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

स्वर भी है, फलतः उसका प्रयोग अल्पतर नहीं। इसी लिए भरत और उनके अनुयायी आचार्य शार्ङ्गदेव ने इस जाति में अल्प स्वरों का विधान करते समय उनमें निषाद की गणना नहीं की।

गान्धार षाडवकारी होने के कारण अल्प है। षड्ज और मध्यम इस जाति में लोप्य स्वर नहीं, तथापि इस जाति में उनका अल्प प्रयोग अल्पत्व-सम्बन्धी सामान्य नियम का अपवाद है।

(६) धैवती

महर्षि भरत का कथन है—

"धैवती जाति में धैवत न्यास तथा ऋषभ-धैवत अंशस्वर हैं। इस जाति में धैवत-ऋषभ-मध्यम अपन्यास होते हैं। षड्ज-पञ्चमहीन अवस्था औडुव होती है, षाडव अवस्था पञ्चमहीन होती है। आरोह में षड्ज-पञ्चम का लंघन करना चाहिए। निषाद, ऋषभ एवं गान्धार इस जाति में बलवान् होते हैं।"[७५]

पञ्चमी का ध्यान

वाणी न केवलमहारि यथा (या?) विजित्य प्रीतिप्रदा पिककुलात्स च वर्णभेदः।
देवेन्द्रशेखररितपादसरोजरेणुं तां पञ्चमश्रुतिमयीमनिशं नमामि ॥
—जगदेक, भ० को०, पृष्ठ ३४६

अर्थात्—जिसने कोकिल-समूह को जीतकर प्रीतिमयी वाणी ही नहीं (अपितु) विशेष वर्णभेद (असित) का भी हरण कर लिया, मैं उस पञ्चमी जाति को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, जिसके चरणकमलों का पराग देवेन्द्र ने भी सिर पर धारण किया है।

७५—धैवत्यां धैवतो न्यासः स्यादंशौ धैवतर्षभौ।
अपन्यासा भवन्त्यत्र धैवतर्षभमध्यमाः ॥
षड्जपञ्चमहीनं च पञ्चस्वर्य्यं विधीयते।
पञ्चमेन विना चैव षाडवं परिकीर्तितम् ॥
आरोहिणौ च तौ कार्यौ लंघनीयौ तथैव हि।
निषादश्चर्षभश्चैव गान्धारो बलवांस्तथा ॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४४८

मतङ्ग का कथन है —

"धैवती के ग्रह और अंश धैवत और ऋषभ हैं। शुद्ध अवस्था में धैवत ही अपन्यास है, विकृत अवस्था में धैवत, ऋषभ और मध्यम अपन्यास हैं। धैवत न्यासस्वर है। षाडव अवस्था पञ्चमहीन है। औडुवित रूप षड्ज-पञ्चम-हीन है। षड्ज-पञ्चम दुर्बल रखने चाहिए, कहीं लंघनीय भी हैं। तार गति पाँच स्वरों की है। न्यास अथवा अवरोह गति में उससे पर तक मन्द्रगति है। **पूर्णावस्था में गान्धार, मध्यम, पञ्चम और निषाद अल्प हैं, औडुवितावस्था में इनका अल्पत्व है, शेष स्वरों का बाहुल्य है।** इसकी मूर्च्छना ऋषभादि है। ताल पञ्चपाणि है। चित्र मार्ग में एककल, ताल मागधी गीति, वार्तिक मार्ग में द्विकल ताल, संभाविता गीति तथा दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल और पृथुला गीति है। चित्र मार्ग में चार, दक्षिण में बारह और वार्तिक में अड़तालीस कलाएँ हैं। वीर, बीभत्स और भयानक रस हैं। प्रथम अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।"[७६]

शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"धैवती में ऋषभ-धैवत अंश हैं। आरोह में षड्ज-पञ्चम लंघनीय हैं। पञ्चम के लोप से षाडव और षड्ज-पञ्चम के लोप से औडुव रूप बनता है। मूर्च्छना ऋषभादि है। ताल, मार्ग और गीतियाँ षाड्जी के समान हैं तथा विनियोग भी वैसा ही है। कलाएँ बारह हैं। इस जाति में धैवत न्यास है। ऋषभ, मध्यम एवं धैवत अपन्यास हैं।"[७७]

७६—धैवत्या धैवतर्षभौ अंशौ ग्रहौ च। शुद्धावस्थायां धैवत एव न्यासः (अपन्यासः?)। विकृतावस्थायां धैवतर्षभमध्यमा अपन्यासाः। धैवतो न्यासः। पञ्चमहीनं षाडवम्। पञ्चमषड्जहीनमौडुवितम्। षड्जपञ्चमस्वरौ बलौ (दुर्बलौ?) कर्तव्यौ। क्वचिल्लंघनीयौ। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। पूर्णावस्थायां गान्धारमध्यमपञ्चमनिषादानामल्पत्वम्। शेषाणां च बहुत्वम्। . . . . ऋषभादि-मूर्च्छना। तालः पञ्चपाणिः। एककलश्चित्रमार्गे मागधी गीतिः। द्विकलो वार्तिके सम्भाविता गीतिः। चतुष्कलो दक्षिणे पृथुला गीतिः। चित्रे कलाश्चतस्रः। दक्षिणे कला द्वादश। वार्तिकेऽष्टचत्वारिंशत्कलाः। रसा वीरबीभत्सभयानकाः। ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणके विनियोगः। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २९९

७७—स्तो धैवत्यां रिधावंशौ लङ्घ्यावारोहिणौ सपौ।
पलोपात् षाडवं प्रोक्तमौडुवं सपलोपतः॥
ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालो मार्गश्च गीतयः।
विनियोगश्च षाड्जीवत् कला द्वादश कीर्तिताः॥
अस्यां धैवत्यां धैवतो न्यासः, ऋषभमध्यमधैवता अपन्यासाः।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २१७

मतङ्ग ने धैवत का अपन्यासत्व केवल शुद्ध अवस्था में कहा है, फलतः सम्पूर्णावस्था में वे मध्यम को भी अल्प मानते हैं, पञ्चम षाडवकारी होने के कारण अल्प है। गान्धार और निषाद अंशस्वरों के विवादी होने के कारण अल्प हैं।

मतङ्ग-किन्नरी पर ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने से हमें शुद्ध एवं विकृत धैवती की प्राप्ति इस प्रकार होगी—

पर्दे	स्वर
०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प
११	ध
१२	नि
१३	स

धैवतांश शुद्ध धैवती—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर मन्द्र-स्थान चौथे, मध्यस्थान दसवें और तारस्थान अठारहवें से प्राप्त होगा। अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय ध, नि, स, रे भी मींड द्वारा सरलतापूर्वक मिल जायँगे।

ऋषभांश विकृत धैवती—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार-स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय निषाद और षड्ज भी अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिल जायँगे।

(७) नैषादी

महर्षि भरत का कथन है —

"निषादिनी में निषाद, गान्धार और ऋषभ अंशस्वर होते हैं। यही अपन्यास स्वर हैं, न्यासस्वर निषाद है। षाडव एवं औडुव अवस्थाएँ धैवती के समान होती हैं, उसी जाति के समान लंघनीय एवं बलवान् स्वर हैं।"[७८]

धैवती का ध्यान

यस्या वपुर्नवसुधारसनिर्विशेषं पीतं तदप्यतितरां नयनैर्महेशे—
नापीयमानमभितो विदधाति देहं तां धवतीमनुगुणामनिशं नमामि ॥

—जगदेक, भरतकोश, पृ० २९९

अर्थात्—अपने नेत्रों द्वारा भगवान् शंकर जिसके पीत शरीर के शोभामृत का पान अत्यन्त मात्रा में निरन्तर कर रहे हैं, (तब भी, जो शरीर धारण कर रही है,) मैं उस गुणानुरूप धैवती को निरन्तर प्रणाम करता हूँ।

७८–निषादिन्यां निशादोंऽशो गान्धारस्त्वृषभः स्मृतः।
एत एव अ (ह्य) पन्यासा न्यासश्चैवात्र सप्तमः॥

पर्दे	स्वर
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

मतङ्ग मुनि कहते हैं—

"निषादवती में निषाद-ऋषभ-गान्धार अंश एवं ग्रह-स्वर होते हैं। यही स्वर अपन्यास हैं। केवल निषाद न्यास है। षाडवावस्था पञ्चमहीन और औडुवावस्था पञ्चम-षड्जहीन होती है। पूर्णावस्था में षड्ज, मध्यम, गान्धार और पञ्चम अल्प होते हैं। औडुवित अवस्था में मध्यम एवं धैवत अल्प होते हैं। तारस्थान में पाँच स्वरों का प्रयोग है। न्यासस्वर (निषाद) अथवा (अवरोह गति में) उससे पर (धैवत) तक मन्द्रगति है। मूर्च्छना गान्धारादि है। ताल चञ्चत्पुट है। दक्षिण मार्ग में चौंसठ* कलाएँ, चित्र मार्ग में आठ हैं, करुण रस है और प्रथम अंक के ध्रुवागान में प्रयोज्य है।[७९]"

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है —

"नैषादी में नि, रे, ग अंश हैं, अनंश स्वर अवहुल (अल्प) हैं। षाडव और औडुव रूप तथा लङ्घ्य स्वर पूर्व जाति (धैवती) के समान हैं, विनियोग भी उसके सदृश

धैवत्या इव कर्तव्यौ (व्ये ?) षाडवौडुविते तथा।
तद्वच्च लंघनीयौ तु वलवन्तौ तथैव च॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४८

७९–निषादवत्या निषादर्षभगान्धारा ग्रहा अंशाश्च। निषादगान्धारर्षभा अपन्यासाः। निषाद एको न्यासः। पञ्चमहीनं षाडवम्। पञ्चमषड्जहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायां षड्जगान्धारमध्यमपञ्चमानामल्पत्वम्। औडुविते मध्यमधैवतयोरल्पत्वम्। पञ्चस्वरपरा तारगतिः। न्यासपरः तत्परो वा मन्द्रः। गान्धारादिर्मूर्च्छना। तालश्चञ्चत्पुटः। दक्षिणे कलाश्चतुष्षष्टिः। चित्रेऽष्टौ। रसश्च करुणः। ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणि(ण ?) के विनियोगः।

***टिप्पणी**—'कला' शव्द का अर्थ ताल-भाग भी होता है और एक गुरु (दो लघु) भी। मतङ्ग ने यहाँ दक्षिण मार्ग में चौंसठ कला वताते हुए कला शव्द का प्रयोग 'गुरु' के अर्थ में किया है। शार्ङ्गदेव का प्रयोग ताल भाग के अर्थ में है। चञ्चत्पुट की चार आवृत्तियाँ दोनों का ही तात्पर्य है। दक्षिण मार्ग में प्रयोज्य चतुष्कल चञ्चत्पुट की चार आवृत्तियों में सोलह कलाएँ (तालभाग) होती हैं। प्रत्येक कला (ताल भाग) में चार कलाएँ (गुरु) होती हैं। फलतः १६×४=६४ कलाएँ मतङ्ग ने वतायी हैं।

है। ताल चञ्चत्पुट है, कलाएँ सोलह हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है। इस जाति में निषाद न्यासस्वर है और अंशस्वर ही अपन्यास स्वर है।"[८०]

मतङ्ग-किन्नरी पर गान्धारी मूर्च्छना की स्थापना करने से निम्नस्थ स्थिति होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे
१४	ग
१५	म
१६	प
१७	ध
१८	नि

निषादांश शुद्ध नैषादी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर मन्द्रस्थान का आरम्भ चौथे, मध्यस्थान का ग्यारहवें और तारस्थान का आरम्भ अठारहवें से होगा।

मन्द्रावस्था में मन्द्र निषाद से अवरोह गति में पर (धैवत) तीसरे पर्दे पर मिलेगा और अठारहवें पर मींड द्वारा स, रे, ग, म प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायँगे। मतङ्ग का विधान इस प्रकार पूर्ण हो जायगा।

ऋषभांश विकृत नैषादी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मध्यस्थान छठे और तारस्थान तेरहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छः स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यास स्वर निषाद भी है। अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा तारस्थानीय षड्ज भी मिल जायगा।

गान्धारांश विकृत नैषादी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र, सातवें से तेरहवें तक मध्य और चौदहवें से अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त ऋषभ तारस्थान की प्राप्ति होगी।

शुद्ध जातियों में अंशस्वर ही न्यासस्वर होता है। महर्षि भरत के विधान में अंशस्वर से अवरोहगति में मन्द्रगति नहीं होती, क्योंकि महर्षि के मत में, यदि मन्द्र और तार अवधियों की पराकाष्ठा तीनों स्थानों (सप्तकों) में प्राप्त करना है, तो

८०—नैषाद्यां निरिगा अंशा अनंशा बहुलाः स्मृताः।
षाडवौडुवलंघ्याः स्युः पूर्ववद् विनियोजनम्।
चञ्चत्पुटः षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना॥
अस्यां नैषाद्यां निषादो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २२०

मूर्च्छना का आरम्भ (एकतन्त्री या मत्तकोकिला जैसी वीणाओं में) अंश स्वर से करना चाहिए। तीन से अधिक अति मन्द्र अथवा अति तार स्थान महर्षि के यहाँ नहीं हैं।

मतङ्ग ने एक जाति के सभी रूपों के लिए एक मूर्च्छना निश्चित की है, फलतः अनेक अवस्थाओं में, जहाँ उनके विधान के अनुसार निश्चित मूर्च्छनाओं में सम्पूर्ण तीनों स्थान प्राप्त नहीं होते, वहाँ अनेक स्थितियों में अति मन्द्र या अति तार स्वर भी प्राप्त हो जाते हैं। इसी लिए मतङ्ग ने अपने जाति-लक्षणों में विभिन्न मन्द्र-तारावधियों का विशेषरूपेण वर्णन किया है।

शार्ङ्गदेव के काल तक मन्द्र-तारावधि के नियम सर्वथा शिथिल हो गये थे, इस शिथिलता का बीज मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद में निहित है।*

संसर्गज विकृत जातियाँ

(८) षड्जकैशिकी

महर्षि भरत का विधान है —

"षड्जकैशिकी में षड्ज-गान्धार-पञ्चम अंश होते हैं। षड्ज-पञ्चम-सप्तम अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यासस्वर है। इस जाति की षाडव या औडुव अवस्था नहीं होती। इस जाति में धैवत (मध्यम ?) और ऋषभ को दुर्बल रखना चाहिए।"[८१]

मतङ्ग का कथन है —

"षड्जकैशिकी के ग्रह और अंश षड्ज-गान्धार-पञ्चम होते हैं। तारावधि पञ्चस्वर तथा मन्द्रावधि न्यास स्वर तक अथवा (अवरोह गति में) उससे पर तक है। यह जाति नित्य सम्पूर्ण है। धैवत-निषाद-मध्यम का अल्पत्व है और ऋषभ का अल्पतरत्व। शेष स्वरों का बाहुल्य है। गान्धार न्यास स्वर है। चित्र मार्ग में एककल चञ्चत्पुट ताल, मागधी गीति है। वार्तिक मार्ग में द्विकल (चञ्चत्पुट) ताल और

*** नैषादी का ध्यान**

भरत-कोश में न होने के कारण नहीं दिया जा सका।

८१—अंशास्तु षड्जकैशिक्यां षड्जगान्धारपञ्चमाः।
अपन्यासा भवन्त्यत्र षड्जसप्तमपञ्चमाः॥
गान्धारश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चात्र तु।
दौर्बल्यञ्चात्र कर्तव्यं धैवतस्य (मध्यमस्य) र्षभस्य च॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४८

सम्भाविता गीति है। दक्षिण मार्ग में चतुष्कल (चञ्चत्पुट) ताल और पृथुला गीति है। करुण रस है। द्वितीय अंक के प्रथम प्रवेश-गीत में विनियोग है।"[८२]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं —

"षड्जकैशिकी में षड्ज-गान्धार-पञ्चम अंश होते हैं। मध्यम और ऋषभ में अल्पत्व रहता है। धैवत और निषाद (मध्यम और ऋषभ की अपेक्षा) कुछ बहुल होते हैं। चञ्चत्पुट ताल है, सोलह कलाएँ हैं। द्वितीय अङ्क की प्रावेशिकी ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में गान्धार न्यास है और षड्ज-निषाद-पञ्चम अपन्यास हैं।"[८३]

मतङ्ग और शार्ङ्गदेव दोनों ने ही इस जाति की मूर्च्छना निर्दिष्ट नहीं की है, कल्लिनाथ ने भी इस संबंध में मौन का अवलम्बन किया है। मतङ्ग-किन्नरी में षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर मतङ्ग-विहित सीमाएँ मिल जायँगी।

मतङ्ग-किन्नरी पर 'षड्जादि' मूर्च्छना स्थापित करने से निम्नस्थ स्थिति स्पष्ट होती है—

पर्दे	स्वर
०	स
१	रे
२	ग
३	म

षड्जांश षड्जकैशिकी—षड्ज में चिकारियाँ मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र, सातवें से तेरहवें तक मध्य एवं चौदहवें से अठारहवें (मींड द्वारा प्राप्त धैवत, निषाद सहित) तक तार-स्थान की प्राप्ति होगी।

८२–षड्जकैशिक्याः षड्जगान्धारपञ्चमा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। नित्यसम्पूर्णा धैवतनिषादमध्यमानामल्पत्वम् ऋषभस्याल्पतरत्वम्। शेषाणां बहुलत्वम्। न्यासस्तु गान्धारः। चञ्चत्पुटस्तालः। एककलश्चित्रे मागधी गीतिः। वार्तिकमार्गे द्विकलः सम्भाविता गीतिः। चतुष्कले (लो) दक्षिणमार्गे पृथुला गीतिः। रसश्च करुणः। प्रथमप्रवेशगीते द्वितीयप्रेक्षणके विनियोगः।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६८७

८३–अंशाः स्युः षड्जकैशिक्यां षड्जगान्धारपञ्चमाः।
ऋषभे मध्यमेऽल्पत्वं धनिषादौ मनाग्बहू॥
चञ्चत्पुटः षोडशास्यां कलाः स्युर्विनियोजनम्।
प्रावेशिक्यां ध्रुवायां स्यात्प्रेक्षणे तु द्वितीयके॥
अस्यां षड्जकैशिक्यां गान्धारो न्यासः। षड्ज-निषाद-पञ्चमा अपन्यासाः।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २२४

पर्दे	स्वर
४	प
५	ध
६	नि
७	स
८	रे
९	ग
१०	म
११	प
१२	ध
१३	नि
१४	स
१५	रे
१६	ग
१७	म
१८	प

गान्धारांश षड्जकैशिकी—गान्धार में चिकारियाँ मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान का आरम्भ होगा। मतङ्ग के विधान के अनुसार मन्द्र गान्धार (न्यास स्वर) से अवरोह गति में ऋषभ पहले पर्दे पर मिलेगा। अठारहवें पर्दे पर धैवत और निषाद की प्राप्ति करने पर तार-स्थानीय पाँच स्वर ग, म, प, ध, नि मिल जायँगे।

पञ्चमांश षड्जकैशिकी—पञ्चम में चिकारियाँ मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य एवं अठारहवें से तार स्थान की प्राप्ति हो जायगी। अठारहवें पर्दे पर भी ध, नि, स प्राप्त किये जा सकते हैं।

(९) षड्जोदीच्यवा

महर्षि भरत का कथन है—

"षड्जोदीच्यवती के अंशस्वर षड्ज, मध्यम, धैवत और निषाद हैं। न्यासस्वर मध्यम है। इसके अपन्यास स्वर धैवत और षड्ज हैं। इस जाति में अंशस्वरों का परस्पर सञ्चार है। षाडवावस्था में ऋषभ और औडुवावस्था में ऋषभ-पञ्चम का लोप होता है।[८४] इसमें गान्धार बली है।"

सामान्यतः औडुवकारी स्वर परस्पर संवादी होते हैं, परन्तु यह जाति इस संवन्ध में अपवाद है। इस जाति के षड्जग्रामीय होने के कारण यद्यपि इसमें ऋषभ-पञ्चम परस्पर संवादी नहीं, तथापि महर्षि ने ऋषभ-पञ्चम को इस जाति में औडुवकारी कहा है। मतङ्ग और शार्ङ्गदेव ने भी आप्त वाक्य का अनुसरण किया है। इस जाति में औडुवकारी दोनों स्वरों में कोई भी षाडवद्वेषी नहीं, अपितु अंशावस्था को प्राप्त धैवत

८४–षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा।
स्युः षड्जोदीच्यवत्यंश न्यासश्चैव तु मध्यमः॥
अपन्यासो भवत्यस्याः धैवतः षड्ज एव च।
परस्परमिहांशानां सञ्चारश्च विधीयते॥
पञ्चमर्षभहीनं तु पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै।
ऋषभः षाडवे हीनो गान्धारश्च बली भवेत्॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४९

है। सामान्यतः षाडवद्वेषी स्वर औडुवकारी स्वरों में से एक होता है, अतः धैवत का षाडवद्वेषित्व भी सामान्य नियम का अपवाद समझना चाहिए।

मतङ्ग का कथन है—

"षड्जोदीच्यवती में ग्रह एवं अंश स, म, ध, नि होते हैं। तार गति पाँच स्वरों तक है। न्यास स्वर तक या उससे अवरोहगति में पर गान्धार तक मन्द्रावधि है। षाडवावस्था ऋषभहीन और औडुवित अवस्था ऋषभ-पञ्चमहीन है। पूर्णावस्था में गान्धार-पञ्चम का अल्पत्व है। अंश होने पर गान्धार बहुल है (?)। षाडवावस्था में पञ्चम अल्प है। औडुवावस्था में कोई अल्प नहीं, सभी बहुल हैं। मध्यम न्यास है, ऋषभ-धैवत अपन्यास हैं।... गान्धारादि मूर्च्छना है। पञ्चपाणि ताल है। एककल, चित्रमार्ग से मागधी गीति, द्विकल वार्तिक मार्ग से सम्भाविता और चतुष्कल दक्षिण मार्ग से पृथुला गीति होती है। रस शृङ्गार और हास्य हैं। द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।"[८५]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षड्जोदीच्यवा में स, म, नि, ध अंश हैं, उनकी परस्पर सङ्गति है। मन्द्र गान्धार का बाहुल्य है। तारस्थान में षड्ज और ऋषभ भी बहुल हैं। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-पञ्चम के लोप से औडुव रूप बनता है। धैवत के अंश होने पर षाडव रूप नहीं होता। गीत, ताल इत्यादि षाड्जी के समान हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है, द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है। इस जाति में न्यास स्वर मध्यम है। षड्ज और धैवत अपन्यास स्वर हैं।"[८६]

८५—षड्जोदीच्यवत्याः षड्जमध्यमधैवतनिषादा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। ऋषभहीनं षाडवम्। ऋषभपञ्चमहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायां गान्धारपञ्चमयोरल्पत्वम्। गान्धारस्यांशत्वप्राप्तौ बाहुल्यम्। षाडवे पञ्चमस्याल्पत्वम्। औडुविते न कस्याप्यल्पत्वम्। अशेषाणां बहुत्वमेव। मध्यमो न्यासः। ऋषभधैवतावपन्यासौ।... गान्धारमूर्च्छना। तालः पञ्चपाणिः। एककलेन चित्रेण मागधी। द्विकलेन वार्तिकेन सम्भाविता। चतुष्कलेन दक्षिणेन पृथुला। रसौ शृङ्गारहास्यौ। ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणके विनियोगः। —मतङ्ग०, भ० को०, पृ० ६८८

८६—अंशाः समनिधाः षड्जोदीच्यवायां प्रकीर्तिताः।
मिथश्च संगतास्ते स्युर्मन्द्रगान्धारभूरिताः॥
षड्जर्षभौ भूरितारौ रिलोपात्षाडवं मतम्।

शार्ङ्गदेव के समक्ष नाट्यशास्त्र का पाठ अधुना-मुद्रित पाठों से कहीं-कहीं भिन्न था। कल्लिनाथ के समक्ष भी सम्भवतः यह पाठ था, जिसके अनुसार इस जाति में षड्ज, ऋषभ और गान्धार को बली बताया गया है।[८७] कल्लिनाथ का कथन है कि इस जाति में ऋषभ की भरतोक्त बलवत्ता तारस्थान में माननी चाहिए।[८८]

मतङ्ग-किन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर इस जाति के विभिन्न प्रकारों की स्थिति निम्नस्थ होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे

मध्यमांश षड्जोदीच्यवा—मध्यम में चिकारियाँ मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर षड्ज प्राप्त कर लेने से मतङ्गोक्त तारावधि मिलेगी और पहले पर्दे पर स्थापित मन्द्र मध्यम (न्यास) से अवरोह गति में पर गान्धार भी मेरु पर मिल जायगा।

धैवतांश षड्जोदीच्यवा—धैवत में चिकारियाँ मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर गान्धार तक प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर ध, नि, स, रे, ग मिल जायँगे। मन्द्रस्थानीय स्वर यथेष्ट मिलेंगे।

निषादांश षड्जोदीच्यवा—निषाद में चिकारियाँ मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे, मध्यस्थान ग्यारहवें पर्दे और तारस्थान अठारहवें पर्दे से मिलेगा। अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय स, रे, ग, म भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

औडुवं रिपलोपेन धैवतेऽंशे न षाडवम्॥
षाड्जीवद् गीततालादि गान्धारादिश्च मूर्च्छना।
द्वितीये प्रेक्षणे गाने ध्रुवायां विनियोजनम्॥
अस्यां षड्जोदीच्यवत्यां मध्यमो न्यासः। षड्जधैवतावपन्यासौ।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २२८

८७—षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारश्च बली भवेत्।
——भरत०, कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत ,, ,,

८८—'ऋषभश्च बली भवेत्' इति मुनिवचनं तु तारस्थर्षभविषयमिति व्यवस्थापनीयम्।
——कल्लिनाथ ,, पृ० २२८

१४—ग १५—म १६—प १७—ध १८—नि	**षड्जांश षड्जोदीच्यवा**—षड्ज में चिकारियाँ मिलाने पर मध्यस्थान पाँचवें पर्दे और तारस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय ग, म, प, ध, नि मिलेंगे।

(१०) षड्जमध्यमा

महर्षि भरत का कथन है—

"षड्जमध्यमा में सभी स्वर अंश और अपन्यास होते हैं, प्रयोक्ताओं को इस जाति में षड्ज या मध्यम स्वर न्यास रखना चाहिए। गान्धार और निषाद के लोप से औड़ुव एवं निषाद के लोप से षाडव रूप बनाना चाहिए। प्रयोक्ताओं के द्वारा इसमें सभी स्वरों की परस्पर संगति इष्ट है।"[८९]

इस जाति में सभी स्वर अंश हैं। सामान्यतः अंशस्वर लोप्य नहीं होते, परन्तु इसमें अनंशावस्था में निषाद और गान्धार का लोप महर्षि द्वारा विहित है, जो सामान्य नियम का अपवाद है।

मतङ्ग कहते हैं—

"षड्जमध्यमा के ग्रह और अंश सातों स्वर हैं। तार गति पाँच स्वरों तक है। मन्द्र गति न्यासस्वर तक अथवा (अवरोह गति में) उससे पर तक है। षाडवावस्था निषाद-हीन और औड़ुवावस्था निषादगान्धार-हीन है। ग्राम के अविरोध के कारण सङ्गति यथेष्ट है। पूर्णावस्था में निषाद और गान्धार का अल्पत्व है। षड्ज-मध्यम न्यास स्वर हैं। सातों स्वर अपन्यास हैं। मूर्च्छना मध्यमादि है। ताल पञ्चपाणि है। एककल, द्विकल, चतुष्कल, चित्र, वार्तिक, दक्षिण मार्गों के द्वारा क्रमशः मागधी, सम्भाविता और पृथुला गीतियाँ हैं। सब रसों में इस जाति का प्रयोग होता है। द्वितीय अंक के ध्रुवागान में विनियोग है।"[९०]

८९—सर्वेऽशाः षड्जमध्याया अपन्यासास्त एव च। षड्जो वा मध्यमो वापि न्यासः कार्यः प्रयोक्तृभिः। गान्धारसप्तमोपेतं पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै। षाडवं सप्तमोपेतं चात्र कार्यं प्रयोगतः। सर्वस्वराणां सञ्चार इष्टस्तस्यां प्रयोक्तृभिः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४४९

९०—षड्जमध्यमाया ग्रहा अंशाश्च सप्तैव स्वराः। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। निषादहीनाः षाडवाः। निषादगान्धारहीना औडुविताः। ग्रामाविरोधेन

शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षड्जमध्यमा में सातों स्वर अंश हैं, उनमें परस्पर सञ्चार होता है। निषाद अनंश अवस्था में अल्प होता है। निषाद एवं निषाद-गान्धार के लोप से षाडव एवं औडुव प्रकार बनते हैं। (अंश होने पर) निषाद-गान्धार षाडव एवं औडुव अवस्थाओं के विरोधी होते हैं। गीति, ताल, कला इत्यादि षाड्जी के समान हैं। मूर्च्छना मध्यमादि तथा विनियोग षड्जोदीच्यवती के समान है। इस षड्जमध्यमा में षड्ज और मध्यम न्यास तथा सातों स्वर अपन्यास हैं।"[९१]

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से षड्जमध्यमा के विभिन्न रूपों की स्थिति इस प्रकार होगी—

पर्दे स्वर	
०—म	**षड्जांश षड्जमध्यमा**—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अठारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम मींड द्वारा प्राप्त करने पर मतङ्ग-विधान के अनुसार तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायँगे। अवरोह गति में न्यासस्वर अतिमन्द्र मध्यम मेरु पर मिलेगा और षड्ज स्वर न्यास मानने पर उससे पर मन्द्र निषाद चौथे पर्दे पर मिलेगा।
१—प	
२—ध	
३—नि	
४—स	
५—रे	
६—ग	

यथेष्टं सञ्चारः। पूर्णावस्थायां निगयोरल्पत्वम्। समौ न्यासौ। सप्तस्वरा अपन्यासाः। मध्यमादिमूर्च्छना। तालः पञ्चपाणिः। एककलद्विकलचतुष्कलैः चित्रवार्तिकदक्षिणमार्गैः क्रमान्मागधी सम्भाविता पृथुलागीतयः। सर्वरसात्मिका। ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणके विनियोगः।"

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६८८

९१—अंशाः सप्तस्वरा षड्जमध्यमायां मिथश्च ते।
संगच्छन्ते निरल्पोंऽशाद् गाद् ऋते वादितां विना॥
निलोपनिगलोपाभ्यां षाडवौडुविते मते।
षाडवौडुवयोः स्यातां द्विश्रुती तु विरोधिनौ॥
गीतितालकलादीनि षाड्जीवन्मूर्च्छना पुनः।
मध्यमादिरिह ज्ञेया पूर्ववद् विनियोजनम्॥
अस्यां षड्जमध्यमायां षड्जमध्यमौ न्यासौ। सप्तस्वरा अपन्यासाः।

—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० २३२

७—म
८—प
९—ध
१०—नि
११—स
१२—रे
१३—ग
१४—म
१५—प
१६—ध
१७—नि
१८—स

ऋषभांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मध्य स्थान पाँचवें और तारस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यासस्वर मध्यम और षड्ज तथा न्यास षड्ज से पर मन्द्र निषाद भी है।

गान्धारांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मध्यस्थान छठे और तारस्थान तेरहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छः स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यास-स्वर मध्यम और षड्ज भी हैं।

मध्यमांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय ऋषभ-गान्धार अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिल जायँगे।

पञ्चमांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर रे, ग, म प्राप्त होने पर तारस्थान सम्पूर्ण मिलेगा।

धैवतांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर दूसरे से मन्द्र, नवें से मध्य एवं सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा रे, ग, म, प प्राप्त करने पर सम्पूर्ण तारस्थान मिल जायगा।

निषादांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर रे, ग, म प्राप्त करने से तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायँगे।

(११) गान्धारोदीच्यवती

महर्षि भरत का विधान है—

"गान्धारोदीच्यवा में षड्ज और मध्यम अंशस्वर होते हैं। इस जाति में औडुवितत्व नहीं है और षाडव रूप ऋषभ के लोप से बनता है। इसमें अल्पत्व, बहुत्व, न्यास और अपन्यास की विधि षड्जोदीच्यवा-जैसी है।"[९२]

९२—गान्धारोदीच्यवांशौ च विज्ञेयौ षड्ज-मध्यमौ।
पञ्चस्वर्य्यं न चास्त्यत्र षाट्स्वर्य्यम् ऋषभं विना॥

नान्यदेव* का कथन है—

"जिसमें षड्ज और मध्यम अंश हों, मध्यम न्यास हो, ऋषभ के लोप से षाडव प्रकार बनता हो, जिसमें औडुवावस्था न हो, जिस जाति में पूर्णता विकल्प से हो और मन्द्रस्थान में गान्धार का बाहुल्य हो, वह गान्धारोदीच्यवती जाति है।"[९३]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"गान्धारोदीच्यवा में षड्ज एवं मध्यम स्वर अंश होते हैं। ऋषभ के लोप से षाडव रूप होता है। पूर्णावस्था में अनंश स्वर अल्प रहते हैं, षाडवावस्था में नि, ध, प, ग अल्प होते हैं। ऋषभ-धैवत की संगति है। मूर्च्छना धैवतादि है। ताल चञ्चत्पुट और कलाएँ सोलह हैं। चतुर्थ अंक के ध्रुवागान में विनियोग है। गान्धारोदीच्यवा में मध्यम न्यास और षड्ज-धैवत अपन्यास हैं।"[९४]

मतङ्गकिन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना की स्थापना से निम्नस्थ स्थिति होगी—

अस्यास्त्वल्पबहुत्वस्य न्यासापन्यासयोस्तथा।
यः षड्जोदीच्यवायास्तु सर्वोऽत्र स विधिः स्मृतः॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५०

*मतङ्गलक्षण भरतकोश में न होने के कारण नहीं दिया जा रहा है।

९३–स्वरौ मध्यमषड्जाख्यौ अंशौ यत्र प्रकीर्तितौ।
न्यासः स्यान्मध्यमो यस्यां षाडवं चर्षभं विना॥
नास्त्येवौडुवितं यस्यां विकल्पाद् यत्र पूर्णता।
मन्द्रस्थाने च गान्धारबाहुल्यं दृश्यते तथा॥

—नान्यदेव, भ० को०, पृ० १७४

९४–गान्धारोदीच्यवायां तु द्वावंशौ षड्जमध्यमौ।
रिलोपात् षाडवं ज्ञेयं पूर्णत्वेंऽशेतराल्पता॥
अल्पा निधपगान्धाराः षाडवत्वे प्रकीर्तिताः।
रिधयोः सङ्गतिर्ज्ञेया धैवतादिश्च मूर्च्छना॥
तालश्चञ्चत्पुटो ज्ञेयः कलाः षोडश कीर्तिताः।
विनियोगो ध्रुवागाने चतुर्थप्रेक्षणे मतः॥
अस्यां गान्धारोदीच्यवायां मध्यमो न्यासः। षड्जधैवतावपन्यासौ।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २३६

पर्दे	स्वर
०	ध
१	नि
२	स
३	रे
४	ग
५	म
६	प
७	ध
८	नि
९	स
१०	रे
११	ग
१२	म
१३	प
१४	ध
१५	नि
१६	स
१७	रे
१८	ग

षड्जांश गान्धारोदीच्यवती--चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर म, प, ध, नि भी प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण तार स्थान मिल जायगा। ऋषभ की संगति के लिए अति-मन्द्र धैवत मेरु पर मिलेगा।

मध्यमांश गान्धारोदीच्यवती--चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे। विकृत जातियों में न्यास की मन्द्रावस्था में जाना आवश्यक नहीं होता।

(१२) रक्तगान्धारी

महर्षि भरत का कथन है—

"इस जाति का लक्षण, षाडव और औडुव इत्यादि अवस्थाएँ गान्धारी के समान जाननी चाहिए। इस जाति में धैवत और निषाद बलवान् होते हैं। गान्धार और षड्ज की सङ्गति ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के साथ है। इस जाति में केवल मध्यम अपन्यास है।"[९५]

मतङ्ग का कथन है—

"रक्तगान्धारी के अंश और ग्रह षड्ज-मध्यम-पञ्चम-गान्धार-निषाद होते हैं। तारस्थान में पाँच स्वरों का प्रयोग है। मन्द्रस्थान में न्यास अथवा उससे अवरोह

९५–गान्धारी (रो?) विहितो न्यासः हीनस्वर्य्यञ्च लक्षणम्।
सर्वञ्च रक्तपूर्वाया गान्धार्याश्च विनिर्दिशेत्॥
वलिनौ भवतश्चात्र धैवतः सप्तमस्तथा।
गान्धारषड्जयोश्चात्र सञ्चारः ऋषभं विना।
अपन्यासस्तथा चात्र एको वै मध्यमः स्मृतः॥
—भरत०, व० सं०, पृ० ४४९–५०

गति में पर स्वर तक जाते हैं। षाडव अवस्था ऋषभहीन और औडुवावस्था ऋषभ-धैवत-हीन होती है। पूर्णावस्था में ऋषभ-धैवत का अल्पत्व तथा अवशिष्ट स्वरों का बाहुल्य होता है। **निषाद अंश होने के कारण बहुल होना चाहिए, परन्तु (महर्षि भरत के ?) वचन के परिणामस्वरूप वह अबहुल (अल्प) होता है।** षाडव दशा में धैवत का अल्पत्व होता है। ऋषभ का कभी नहीं होता। औडुवावस्था में सभी अंश-स्वरों के रहने के कारण किसी का अल्पत्व नहीं होता। पूर्वोक्त विधान के परिणाम-स्वरूप अवशिष्ट स्वर बहुल होते हैं। न्यास गान्धार ही है। अपन्यास मध्यम है। षड्ज-गान्धार की सङ्गति है।...मूर्च्छना ऋषभादि है। करुण रस है। ताल पञ्चपाणि है। एककल-द्विकल-चतुष्कल, चित्र-वार्तिक-दक्षिण मार्ग में क्रमशः मागधी, सम्भाविता, पृथुला गीतियाँ हैं।"[९६]

मतङ्ग के उपर्युक्त लक्षण में स्थूलाक्षर भाग नाट्यशास्त्र के मुद्रित संस्करणों तथा शार्ङ्गदेव इत्यादि के लक्षणों से मेल नहीं खाता। सम्भव है कि भरतकोश में दिया हुआ मतङ्गवाला यह पाठ अशुद्ध हो। निषाद का अल्पत्व इस जाति में होना कुछ समझ में नहीं आता। हो सकता है कि मतङ्ग के समक्ष नाट्यशास्त्र का कोई और पाठ रहा हो या उनको गुरुपरम्परा से इस जाति में निषाद का अल्पत्व प्राप्त हुआ हो। मतङ्ग ने किसी भरत को अपना गुरु कहा है।[९७] मतङ्ग इस जाति में निषाद का अल्पत्व **'वचन'** के परिणामस्वरूप अपवाद रूप में मानते हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"रक्तगान्धारी में धैवत और ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वर अंश होते हैं। षड्ज-गान्धार की संगति ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के साथ करनी चाहिए। रिलोप

९६—रक्तगान्धार्याः षड्जमध्यमपञ्चमगान्धारनिषादा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वर-परस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। ऋषभहीनं षाडवम्। रिधहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायाम् ऋषभ-धैवतयोरल्पत्वम्। शेषाणां बाहुल्यम्। **निषाद-स्यांशत्वाद् बहुत्वे प्राप्ते वचनादबहुत्वम्।** षाडवे धैवतस्याल्पत्वम्। ऋषभस्य न कदाचिदपि। औडुविते सर्वेषामंशत्वान्न कस्याप्यल्पत्वम्। उक्तभङ्ग्या शेषाणां बाहुल्यम्। न्यासो गान्धार एव। अपन्यासस्तु मध्यमः। षड्जगान्धा-रयोस्तु सञ्चारः।...ऋषभादिमूर्च्छना। करुणो रसः। तालः पञ्चपाणिः। एकद्विचतुष्कलेषु चित्रवार्तिकदक्षिणेषु मागधीसम्भावितपृथुला गीतयः।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५१६

९७—भरतं गुरुमाह मतङ्गः। —भ० को०, पृ० ४२४

और रिधलोप से षाडव और औडुव रूप होता है। निषाद और धैवत का बाहुल्य है। पञ्चम अंश होने पर षाडवद्वेषी होता है। षड्ज, निषाद, मध्यम और पञ्चम अंश होने पर औडुवद्वेषी होते हैं। षड्ज-गान्धार की भी परस्पर सङ्गति करनी चाहिए। षाड्जी के समान पञ्चपाणि इत्यादि ताल हैं। मूर्च्छना ऋषभादि है। तृतीय अंक की ध्रुवा में विनियोग है। इस रक्तगान्धारी में गान्धार न्यास और मध्यम अपन्यास है।"[१८]

मतङ्गकिन्नरी पर ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर रक्तगान्धारी के विभिन्न रूपों की स्थिति इस प्रकार होगी--

पर्दे	स्वर
०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प
११	ध
१२	नि
१३	स
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

गान्धारांश रक्तगान्धारी--चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें पर्दे से मध्य एवं पन्द्रहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर निषाद और प्राप्त कर लेने तथा मतङ्गोक्त तार-स्थानीय पाँच स्वर तथा षड्ज-ऋषभ भी प्राप्त कर लेने से तारावधि की पराकाष्ठा प्राप्त हो जायगी। न्यासस्वर से अवरोह गति में पर अतिमन्द्र ऋषभ मेरु पर मिल जायगा।

मध्यमांश रक्तगान्धारी--चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर नि, स भी प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायँगे।

पञ्चमांश रक्तगान्धारी--चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर नि, स, रे प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर प्राप्त हो जायँगे।

निषादांश रक्तगान्धारी--चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तारस्थान की प्राप्ति हो जायगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे जिनमें न्यास स्वर गान्धार भी है।

१८--अंशाः स्यू रक्तगान्धार्य्यां पञ्च धर्षभवर्जिताः।
रिमतिक्रम्य सगयोः कार्य्ये सन्निधिमेलने॥

षड्जांश रक्तगान्धारी

चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी, तारस्थानीय निषाद भी अठारहवें पर्दे पर प्राप्त किया जा सकता है। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छः स्वर मिलेंगे।

(१३) कैशिकी

महर्षि भरत का कथन है—

"ऋषभ के अतिरिक्त अन्य सभी स्वर कैशिकी के अंश होते हैं। यही स्वर अपन्यास होते हैं। गान्धार और निषाद न्यास होते हैं। धैवत और निषाद अंश होने पर 'पञ्चम' न्यास होता है, कभी इस जाति में ऋषभ भी अपन्यास होता है। ऋषभ के लोप से इस जाति में षाडव और धैवत-ऋषभ के लोप से औडुव रूप बनता है। इस जाति में षड्ज (निषाद ?) पञ्चम बली होते हैं। इस जाति में विशेषतया ऋषभ का दौर्वल्य और लंघन है। स्वर-सञ्चार षड्जमध्या के समान है।"[९९]

दत्तिल* का कथन है—

"कैशिकी में ऋषभ अनंशस्वर है, द्विश्रुति दोनों स्वर न्यास हैं। इसमें क्रमशः ऋषभ

रिलोपरिधलोपाभ्यां षाडवौडुवमिष्यते।
वहुत्वं निधयोरंशः पञ्चमो द्वेष्टि षाडवम्॥
द्विषन्त्यौडुवितं षड्जनिमपाः संगतौ सगौ।
पञ्चपाण्यादि षाड्जीवद् ऋषभादिस्तु मूर्च्छना।
तृतीयप्रेक्षणगत——ध्रुवायां विनियोजनम्॥
अस्यां रक्तगान्धार्य्यां गान्धारो न्यासः। मध्यमोऽपन्यासः।
——सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २४०–४२

९९–कैशिक्यंशास्तु विज्ञेयाः स्वराः सर्वेर्षभं विना।
एत एव ह्यपन्यासा न्यासौ गान्धारसप्तमौ॥
धवतेंऽशे निषादे च न्यासः पञ्चम इष्यते।
अपन्यासः कदाचिच्च ऋषभोऽपि भवेदिह॥
आर्षभ्यं षाडवं चात्र धैवतर्षभवर्जितम्।
तथा चौडुवितं कार्य्यं वलिनौ षड्ज (चान्त्य) पञ्चमौ॥
दौर्वल्यं ऋषभस्यात्र लंघनं च विशेषतः।
षड्जमध्यावदत्रापि संचारस्तु विधीयते॥ ——भरत०, ब० सं०, पृ० ४५२–४५३

*अप्राप्त होने के कारण मतङ्ग-लक्षण नहीं दिया जा रहा है।

और धैवत का लोप करना चाहिए। निषाद और धैवत के अंश होने पर पञ्चम भी न्यास होता है। कुछ लोग अंशस्वरों के समान ही निषाद को भी अपन्यास स्वर कहते हैं। इस जाति में पञ्चम और निषाद बलवान् हैं।"[100]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"कैशिकी जाति में ऋषभ के अतिरिक्त स्वर अंश होते हैं। जब नि, ध अंश हों, तो न्यासस्वर पञ्चम तथा अन्य अवस्थाओं में द्विश्रुतिस्वर (ग, नि) न्यास होते हैं। अन्य (मतङ्ग आदि) नि, ध की अंशावस्था में नि, ग, प तीनों स्वरों को न्यास मानते हैं। रिलोप और रिधलोप से षाडव-औड़ुव प्रकार बनते हैं। ऋषभ अल्प, नि, प बहुल तथा अंशस्वरों में परस्पर संगति है। क्रमशः पञ्चम और धैवत षाडव और औड़ुव अवस्थाओं के विरोधी हैं। पञ्चपाणि इत्यादि षाड्जी के समान हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है। पञ्चम अंक की ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में गान्धार-पञ्चम-निषाद न्यास हैं। ऋषभ के अतिरिक्त छहों स्वर अथवा (कुछ लोगों की दृष्टि में) सातों स्वर अपन्यास हैं।"[101]

भरतनाट्यशास्त्र के बम्बई-संस्करण का 'बलिनौ षड्ज-पञ्चमौ' पाठ लेखन-प्रमाद का परिणाम है। काशी-संस्करण में 'बलिनौ चान्यपञ्चमौ' पाठ है, जो कल्लिनाथ द्वारा दिये हुए शुद्ध पाठ 'बलिनौ चान्त्यपञ्चमौ' का अशुद्ध रूप है। दत्तिल और शार्ङ्गदेव ने भी इस जाति में अन्त्य (अन्तिम स्वर निषाद) और पञ्चम को ही बली माना है।

१००—कैशिक्यामृषभोऽनंशो वि (वै?)न्यासौ द्विश्रुती मतौ।
ऋषभो धैवतश्चैव हेयावस्यां यथाक्रमम् ॥
पञ्चमोऽपि भवेन्न्यासो निषादेंऽशे सधैवते।
ऋषभः स्यादपन्यासः कैश्चिदुक्तोंऽशवत्तथा।
पञ्चमो बलवानस्यां स्यान्निषादस्तथैव च ॥—दत्तिल, भ० को०, पृ० १५१

१०१—कैशिक्यामृषभान्येंऽशा निधावंशौ यदा तदा।
न्यासः पञ्चम एव स्यादन्यदा द्विश्रुती मतौ ॥
अन्ये तु निगपान् न्यासान् निधयोरंशयोर्विदुः।
रिलोपरिधलोपेन षाडवौडुवितं मतम् ॥
रिरल्पो निपबाहुल्यमंशानां संगतिर्मिथः।
षाडवौडुविते द्विष्टः क्रमात् पञ्चमधैवतौ ॥
षाड्जीवत्पञ्चपाण्यादि गान्धारादिस्तु मूर्च्छना।

मतङ्गकिन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने से कैशिकी की विभिन्न अवस्थाएँ यों होंगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे
१४	ग
१५	म
१६	प
१७	ध
१८	नि

गान्धारांश कैशिकी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर षड्ज और ऋषभ भी प्राप्त किये जा सकते हैं। मन्द्रस्थान में गान्धार और निषाद दोनों न्यासस्वर मिल जायँगे।

मध्यमांश कैशिकी—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग अठारहवें पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते हैं।

पञ्चमांश कैशिकी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते हैं।

धैवतांश कैशिकी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते हैं। इस अवस्था में न्यासस्वर 'पञ्चम' मन्द्र एवं अतिमन्द्र स्थान में भी मिलेगा।

निषादांश कैशिकी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अठारहवें पर्दे से तारस्थान की प्राप्ति होगी, जिस पर तार स, रे, ग, म भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इस अवस्था में न्यास पञ्चम की मन्द्र एवं मन्द्रतम अवस्थाएँ भी प्राप्त होंगी।

पञ्चमप्रेक्षणगतध्रुवायां विनियोजनम् ॥
अस्यां कैशिक्यां गान्धारपञ्चमनिषादा न्यासाः। रिवर्ज्याः षट् सप्त वा स्वरा अपन्यासाः।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २४४–२४५

षड्जांश कैशिकी—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे, जिनमें गान्धार और निषाद न्यासस्वर भी हैं।

(१४) मध्यमोदीच्यवा

महर्षि भरत का कथन है—

"मध्यमोदीच्यवा का अंशस्वर पञ्चम है। अन्य सब विशेषताएँ गान्धारोदीच्यवा-जैसी हैं।"[१०२]

महाराज हरिपाल का कथन है—

"इस जाति में पञ्चम अंश है और यह नित्य सम्पूर्ण है। इसका अवशिष्ट लक्षण गान्धारोदीच्यवा जैसा है।"[१०३]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"मध्यमोदीच्यवा में पञ्चम अंश होता है, नित्य सम्पूर्ण जाति है। अन्य लक्षण गान्धारोदीच्यवा-जैसे जानने चाहिए। मूर्च्छना मध्यमादि है और ताल चञ्चत्पुट है। चतुर्थ अंक के ध्रुवा-गान में इसका विनियोग है। इस जाति में न्यासस्वर मध्यम है।"[१०४]

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से इसकी स्थिति इस प्रकार होगी—

१०२—मध्यमोदीच्यवायास्तु पञ्चमोंऽशः प्रकीर्तितः।
शेषो विधिस्तु कर्तव्यो गान्धारोदीच्यवागतः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५०

१०३—तत्रांशः पञ्चमो नित्यं साप्तस्वर्य्यञ्च दृश्यते।
गान्धारोदीच्यवावत् स्यात् शिष्टमस्यास्तु लक्षणम्॥
—हरिपाल, ब० सं०, पृ० ४५०

१०४—पञ्चमांशा सदा पूर्णा मध्यमोदीच्यवा मता।
लक्ष्म शेषं विजानीयाद् गान्धारोदीच्यवागतम्॥
मूर्च्छना मध्यमादिः स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मतः।
चतुर्थस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां विनियोजनम्॥
अस्यां मध्यमोदीच्यवायां मध्यमो न्यासः।
—सं० र०, स्वरा०, अ० सं०, पृ० २४८–४९

पर्दे	स्वर
०	म
१	प
२	ध
३	नि
४	स
५	रे
६	ग
७	म
८	प
९	ध
१०	नि
११	स
१२	रे
१३	ग
१४	म
१५	प
१६	ध
१७	नि
१८	स

पञ्चमांश मध्यमोदीच्यवा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तारस्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त हो जायँगे।

यद्यपि मतङ्ग का लक्षण हमें प्राप्त नहीं है, परन्तु जिन-जिन जातियों के मतङ्गलक्षण प्राप्त हैं, वे सिद्ध करते हैं कि शार्ङ्गदेव ने जातियों की मूर्च्छनाओं का निर्देश मतङ्ग के अनुसार किया है।

इस जाति में केवल पञ्चम स्वर अंश होता है, फलतः यदि भरत का यह विधान माना जाय कि मन्द्र अंश से अवरोहगति में नहीं जाना चाहिए, तो इस जाति की मूर्च्छना पञ्चमादि रखने से अन्तिम पर्दे पर गान्धार-मध्यम की प्राप्ति करने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण तीनों स्थान मिल सकते हैं। परन्तु मतङ्ग ने मन्द्रावस्था में न्यासस्वर या मन्द्रगति में उससे पर स्वर पर अधिक बल दिया है, यहाँ तक कि वे अतिमन्द्र स्थान में जाने से भी नहीं हिचकते। प्रस्तुत जाति की मूर्च्छना मध्यमादि निश्चित करने में अतिमन्द्र न्यास मध्यम प्राप्त करने की चेष्टा कारण है।

मतङ्ग के विधान में तारस्थान के अधिक-से-अधिक पाँच स्वरों का प्रयोग पाया जाता है और मन्द्रगति में न्यास अथवा मन्द्रगति में उससे पर मन्द्र की ओर अधिक ध्यान रहता है।

(१५) कार्मारवी

महर्षि भरत का कथन है—

"कार्मारवी के अंश एवं अपन्यास स्वर ऋषभ, पञ्चम, धैवत, निषाद हैं। न्यास स्वर पञ्चम है, सदा सम्पूर्ण जाति है, गान्धार की सङ्गति सभी स्वरों के साथ है।"[१०५] प्रयोग में अनंश स्वर सदा बली हैं।[१०६]

१०५–कार्मारव्याः स्मृता ह्यंशा ऋषभः पञ्चमस्तथा। धैवतश्च निषादश्चाप्यपन्यासस्त एव तु ॥ पञ्चमश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चात्र तु। गान्धारस्य विशेषेण सर्वतो गमनं भवेत् ॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५२

महाराज नान्यदेव कहते हैं—

"जिसमें निषाद, धैवत, पञ्चम, ऋषभ अंश होते ह, यही अपन्यास होते हैं और न्यास स्वर पञ्चम होता है, वह कार्म्मारवी जाति है।"[१०७]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"कार्म्मारवी में निषाद, धैवत, ऋषभ और पञ्चम अंश होते हैं। अन्तर मार्ग का आश्रय लेने से अनंश स्वर भी बहुल होते हैं। गान्धार अत्यन्त बहुल है, क्योंकि उसकी संगति सब अंशस्वरों के साथ भी है (और अनंश स्वरों के साथ भी)। चञ्चत्पुट ताल, सोलह कलाएँ और षड्जादि मूर्च्छना है। पञ्चम अङ्क की ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में पञ्चम न्यास तथा अंशस्वर अपन्यास हैं।"[१०८]

मतङ्गकिन्नरी पर षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने से निम्नस्थ स्थिति होगी—

पर्दे	स्वर
०	स
१	रे
२	ग
३	म
४	प
५	ध

पञ्चमांश कार्मारवी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अन्तिम पर्दे पर ध, नि, स, रे भी प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वरों की प्राप्ति होगी।

धैवतांश कार्मारवी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वरों की प्राप्ति होगी।

१०६—अनंशा बलवन्तस्तु नित्यमेव प्रयोगतः।

—भरत०, कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत, सं० र०, स्व०, पृ० २५२

हीनस्वर्यं न चात्र स्यादनंशा बलिनस्तथा।

—भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

१०७—अंशा निषादधैवतपञ्चमरिषभा भवन्ति यत्रामी।
अपि चैतेऽपन्यासा न्यासस्थाने च पञ्चमो यस्याम्॥

—नान्य०, भ० को०, पृ० १३१

१०८—कार्मारव्यां भवन्त्यंशा निषादरिपधैवताः। बहवोऽन्तरमार्गत्वादनंशाः परिकीर्तिताः॥
गान्धारोऽत्यन्तबहुलः सर्वांशस्वरसंगतिः। चञ्चत्पुटः षोडशात्र कलाः षड्जादि-मूर्च्छना। पञ्चमस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवायां विनियोजनम्॥
अस्यां कार्मारव्यां पञ्चमो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।

—सं० र०, स्वरा० अ० सं०, पृ० २५३

६—नि ७—स ८—रे ९—ग १०—म ११—प १२—ध १३—नि १४—स १५—रे १६—ग १७—म १८—प	**निषादांश कार्मारवी**—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें पर्दे से, अन्तिम पर्दे पर धैवत भी प्राप्त कर लेने पर, तार स्थान की प्राप्ति होगी। मन्द्रस्थानीय छः स्वर मेरु से पाँचवें पर्दे तक मिल जायँगे। **ऋषभांश कार्मारवी**—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय ध, नि, स भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त हो जायँगे।

(१६) गान्धारपञ्चमी

महर्षि भरत का विधान है—

"गान्धार-पञ्चमी में अंशस्वर पञ्चम होता है, पञ्चम और ऋषभ अपन्यास कहे गये हैं। गान्धार न्यासस्वर है। इस जाति में षाडव और औडुव रूप नहीं होता। इसमें 'गान्धारी' और 'पञ्चमी' के समान स्वर-संगति होती है।"[१०९]

दत्तिल का कथन है—

"गान्धारपञ्चमी में प्रयोक्ताओं को अंशस्वर पञ्चम जानना चाहिए, वह पञ्चम (और) ऋषभ अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यास होता है। गान्धारी और पञ्चमी में जो सङ्गति इत्यादि बतायी गयी है, वह इसमें भी जाननी चाहिए। किन्तु यह जाति नित्य सम्पूर्ण होती है।"[११०]

१०९—अथ गान्धारपञ्चम्याः पञ्चमां (मों)ऽशः प्रकीर्तितः।
पञ्चमञ्च (श्च) र्षभश्चैव अपन्यासौ प्रकीर्तितौ ॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चेष्यते।
पञ्चम्यास्त्वथ गान्धार्याः सञ्चारश्च विधीयते ॥—भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

११०—ज्ञेयो गान्धारपञ्चम्यां पञ्चमोंऽशः प्रयोक्तृभिः।
सर्षभः स्यादपन्यासो न्यासो गान्धार इष्यते ॥

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"गान्धारपञ्चमी में अंशस्वर पञ्चम है, इस जाति में भी गान्धारी और पञ्चमी के समान बहुल स्वरों से (न्यास और अंशस्वरों से अन्य स्वरों की तथा ऋषभ-मध्यम की) संगति करनी चाहिए। इस जाति में चञ्चत्पुट ताल, सोलह कलाएँ और गान्धारादि मूर्च्छना है। चतुर्थ अंक से सम्बद्ध ध्रुवागान में विनियोग है। इस जाति में गान्धार न्यास है। ऋषभ-पञ्चम अपन्यास हैं।"[१११]

मतङ्गकिन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने से स्थिति यों होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स

चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय षड्ज और ऋषभ की प्राप्ति भी अन्तिम पर्दे पर की जा सकती है।

गान्धार्य्यामथ पञ्चम्यां यत्सञ्चारादि कीर्तितम्।
तदस्यामपि विज्ञेयं किन्तु पूर्णस्वरा सदा॥

—दत्तिल, भ० को०, पृ० १७३

१११—अंशो गान्धारपञ्चम्यां पञ्चमः सङ्गतिः पुनः।
कर्तव्यात्रापि गान्धारीपञ्चम्योरिव सूरिभिः॥
चञ्चत्पुटः षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना।
तुर्य्यप्रेक्षणसम्बन्धिध्रुवागाने नियोजनम्॥
अस्यां गान्धारपञ्चम्यां गान्धारो न्यासः। ऋषभपञ्चमावपन्यासौ।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २५६

१३—रे
१४—ग
१५—म
१६—प
१७—ध
१८—नि

(१७) आन्ध्री

महर्षि भरत का कथन है—

"आन्ध्री में ऋषभ, पञ्चम, गान्धार, निषाद अंश होते हैं, वही अपन्यास होते हैं। न्यासस्वर गान्धार है, षड्ज के लोप से षाडवावस्था बनती है, गान्धार और ऋषभ की परस्पर सङ्गति है और धैवत एवं निषाद की। अंशस्वर के पश्चात् पर्यायांशों का प्रयोग करते हुए न्यासस्वर तक संचार है।"[११२]

महाराज हरिपाल कहते हैं—

"इस जाति में षड्ज, मध्यम और धैवत के अतिरिक्त अन्य स्वर अंश होते हैं। षड्ज के लोप से षाडव रूप बनता है। न्यासस्वर गान्धार है।"[११३]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"आन्ध्री में नि, रे, ग, प अंश हैं, रि-ग और नि-ध की परस्पर संगति है। अंशानुक्रम से न्यासस्वर तक जाना चाहिए। मूर्च्छना मध्यमादि है, कला, काल, विनियोग इत्यादि गान्धारपञ्चमी के समान हैं। इस आन्ध्री जाति में गान्धार न्यासस्वर है और अंशस्वर ही अपन्यास है।"[११४]

११२—चत्वारोंऽशा भवन्त्यान्ध्यामपन्यासास्त एव तु।
गान्धारश्च भवेन्यासः षड्जोपेतं च षाडवम्॥
गान्धारर्षभयोश्चापि सञ्चारस्तु परस्परम्।
सप्तमस्य च षड्जस्य (षष्ठस्य, का० सं०) न्यासो गत्यनुपूर्वशः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५१

११३—आन्ध्री निरूप्यतेऽथास्यां षड्जमध्यमधैवतैः।
हीनाः स्वरा इहांशाः स्युः षाडवः षड्जवर्जितः।
न्यासो गान्धार एव स्यादान्ध्रजातिरुदाहृता॥
—हरिपाल, भ० को०, पृ० ५२

११४—आन्ध्यामंशा निरिगपा रिगयोर्निधयोस्तथा।
संगतिर्न्यासपर्यन्तमंशानुक्रमतो व्रजेत्॥

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से स्थिति निम्नोक्त होगी—

पर्दे	स्वर
०	म
१	प
२	ध
३	नि
४	स
५	रे
६	ग
७	म
८	प
९	ध
१०	नि
११	स
१२	रे
१३	ग
१४	म
१५	प
१६	ध
१७	नि
१८	स

निषादांश आन्ध्री—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय रे, ग, म, प भी अन्तिम पर्दे पर मिल जायँगे।

ऋषभांश आन्ध्री—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे।

गान्धारांश आन्ध्री—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अन्तिम पर्दे पर तारस्थानीय ऋषभ भी मिल सकता है। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्र-स्थानीय छः स्वर भी मिलेंगे।

पञ्चमांश आन्ध्री—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तार-स्थानीय रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर मिल जायँगे।

(१८) नन्दयन्ती

महर्षि भरत का विधान है—

"नन्दयन्ती में पञ्चम ही सदा अंश होता है। मध्यम एवं पञ्चम अपन्यास होते हैं। षड्जहीन अवस्था षाडव होती है, वही षड्ज लंघनीय है। इस जाति में स्वर-

---

षाडवं षड्जलोपेन मध्यमादिस्तु मूर्च्छना।
पूर्वावत्तु कलाकालविनियोगाः प्रकीर्तिताः॥
अस्यामान्ध्र्यां गान्धारो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा० २६०-२६१

सञ्चार आन्ध्री के समान है, ऋषभ का सदा लंघन (बाहुल्य ?) है। प्रयोक्ताओं ने उस ऋषभ तक मन्द्रगति बतायी है।"[११५]

तारगति षड्ज का अतिक्रमण कभी नहीं करती। गान्धार स्वर इस जाति में ग्रह और न्यास रखना चाहिए।[११६]

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के मुद्रित संस्करणों के पाठानुसार इसमें ऋषभ का लंघन होना चाहिए, परन्तु ये पाठ निश्चितरूपेण लिपिकों के प्रमाद का परिणाम हैं। इस जाति में ऋषभ का बाहुल्य ही सर्वसम्मत है। कल्लिनाथ के समक्ष नाट्यशास्त्र का जो पाठ था उसमें भी ऋषभ का बाहुल्य ही भरतोक्त बताया गया है।[११७]

दत्तिल का कथन है—

"नन्दयन्ती में मध्यम और पञ्चम अपन्यास हैं, ग्रह और न्यासस्वर गान्धार है, अंशस्वर पञ्चम है। षाडवावस्था आन्ध्री के समान जाननी चाहिए। इस जाति में औडुव अवस्था नहीं होती। इसमें मन्द्र ऋषभ तक सञ्चार होता है, वह कहीं लंघनीय भी है।"[११८]

दत्तिल के मत में ऋषभ कहीं लंघनीय भी है।

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"नन्दयन्ती में पञ्चम अंशस्वर और गान्धार ग्रहस्वर है। कुछ गीतमर्मज्ञ इसमें पञ्चम को भी ग्रहस्वर कहते हैं। इसमें मन्द्र ऋषभ का बाहुल्य है और षड्ज

११५—नन्दयन्त्या भवन्त्यं (त्यं ?) शः पञ्चमो नित्यमेव तु।
स्यातामस्यामपन्यासौ मध्यमः पञ्चमस्तथा॥
षाडवं षड्जहीनं तु लंघनीयः स एव तु।
आन्ध्रीवत् संचरो नित्यमृषभस्य च लंघनम्।
तत्र मन्द्रगतिः प्रोक्ता नित्यं गानप्रयोक्तृभिः॥——भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

११६—तारगत्या तु षड्जः स्यात्कदाचिन्नातिवर्तते।
गान्धारश्च ग्रहः कार्यस्तथा न्यासश्च नित्यशः॥——भरत०, ब० सं०, पृ० ४५२

११७—बाहुल्यमृषभस्यात्र तच्च मन्द्रगतं स्मृतम्।
——भरत०, कल्लिनाथोद्धृत, सं० र०, स्वरा०, पृ० २६७

११८—नन्दयन्त्यामपन्यासौ ज्ञेयौ मध्यमपञ्चमौ।
ग्रहो न्यासश्च गान्धारः पञ्चमोंऽशः प्रकीर्तितः॥
आन्ध्रीवत् षाडवं ज्ञेयमनौडुवितमेव च।
स्यान्मन्द्रर्षभसञ्चारो लङ्घनीयश्च स क्वचित्॥ –दत्तिल, भ० को०, पृ० ३०३

के लोप से षाडव प्रकार बनता है। मूर्च्छना 'हृष्यका' है। ताल आन्ध्री के समान और कलाएँ उस जाति से द्विगुण अर्थात् बत्तीस हैं। प्रथम अंक के ध्रुवागान में विनियोग है। इस नन्दयन्ती में न्यासस्वर गान्धार है तथा मध्यम-पञ्चम अपन्यास हैं।"[११९]

मतङ्ग के प्राप्त जातिलक्षणों में हम यह देख चुके हैं कि वे जातियों की मूर्च्छनाएँ बतलाते समय उनके लिए 'उत्तरमन्द्रा', 'सौवीरी' जैसी पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग न करके 'षड्जादि' और 'मध्यमादि' जैसी स्वरारम्भ संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं। आचार्य शार्ङ्गदेव ने भी इसी पद्धति का अवलम्बन किया है, केवल नन्दयन्ती के लक्षण में वे 'हृष्यका' शब्द का प्रयोग करते हैं। महर्षि भरत की मध्यमग्रामीय पञ्चमादि मूर्च्छना 'हृष्यका' है और मतङ्ग की मध्यमग्रामीय निषादादि 'द्वादशस्वर' मूर्च्छना हृष्यका है। इस जातिविशेष में आचार्य शार्ङ्गदेव के द्वारा 'हृष्यका' शब्द का प्रयोग बतलाता है कि वे इस जाति की मूर्च्छना पञ्चमादि ही मानते हैं, क्योंकि मूर्च्छना-लक्षण में वे द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद की चर्चा नहीं करते और उनकी अपनी 'हृष्यका' पञ्चमादि है।

महर्षि भरत के अनुसार इस जाति के तारस्थान में प, ध, नि, स ये चार स्वर ही प्रयोज्य हैं, क्योंकि वे तारस्थान में षड्ज से आगे जाने का निषेध करते हैं, परन्तु 'रुद्रट' इस जाति में भी प, ध, नि, स, रे, ग, म सातों स्वरों का प्रयोग विहित मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त तथा कुम्भ ने मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन करते हुए, इस जाति में कम से कम पन्द्रह स्वरों (मन्द्र ऋषभ, गान्धार, मध्यम, मध्यस्थानीय पञ्चम, धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और तारस्थानीय प, ध, नि, स, रे) का प्रयोग आवश्यक कहा है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने भी इस जाति में तार ऋषभ का प्रयोग किया है।

११९–नन्दयन्त्यां पञ्चमोंऽशो गान्धारस्तु ग्रहः स्मृतः।
कैश्चित्तु पञ्चमः प्रोक्तो ग्रहोऽस्यां गीतवेदिभिः॥
मन्द्रर्षभस्य बाहुल्यं षाडवं षड्जलोपतः।
हृष्यका मूर्च्छना तालः पूर्ववद् द्विगुणाः कलाः॥
विनियोगो ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणे भवेत्।
अस्यां नन्दयन्त्यां गान्धारो न्यासः। मध्यमपञ्चमावपन्यासौ।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २६४

मतङ्गकिन्नरी पर पञ्चमादि 'हृष्यका' की स्थापना करने पर स्थिति यों होगी—

पर्दे	स्वर
०	प
१	ध
२	नि
३	स
४	रे
५	ग
६	म
७	प
८	ध
९	नि
१०	स
११	रे
१२	ग
१३	म
१४	प
१५	ध
१६	नि
१७	स
१८	रे

पंचमांश नन्दयन्ती—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक भरतोक्त पूर्ण मन्द्र स्थान मिल जायगा। जो लोग न्यासस्वर गान्धार या मन्द्रगति में उससे पर ऋषभ तक ही जाना चाहते हैं, उन्हें भी अभीष्ट स्वर मिल जायँगे।

सातवें पर्दे से मध्यस्थान की प्राप्ति होगी।

तारस्थान में चतुःस्वरावधि-वादियों को तारस्थानीय चार प, ध, नि, स चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें पर्दे पर मिल जायँगे। रुद्रट के अनुसार सम्पूर्ण तार स्थान प्राप्त करने के इच्छुक अन्तिम पर्दे पर गान्धार और मध्यम भी प्राप्त कर सकते हैं।

अभिनवगुप्त, शार्ङ्गदेव और कुम्भ को अनिवार्य रूप में अभिमत तार ऋषभ अन्तिम पर्दे पर स्वतः मिलेगा।

सामान्यतः जातियों में अंशस्वर ही ग्रहस्वर होता है, परन्तु इस जाति में अंशस्वर के अतिरिक्त गान्धार को ग्रह मानना सामान्य नियम का अपवाद है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने यद्यपि ऐसे मत का उल्लेख किया है, जिसमें पञ्चम को भी इस जाति में ग्रह माना जाता है, परन्तु इस जाति के प्रस्तार में उन्हें भी गान्धार का ग्रहत्व अभिमत है।

कुम्भ ने मतङ्गकिन्नरी का जो लक्षण कहा है, उसमें चौदह या अठारह सारिकाएँ आती हैं। चौदह सारिकाओंवाली किन्नरी में तीनों सम्पूर्ण स्थान प्राप्त होने कठिन हैं। मेरु से चौदहवें पर्दे तक पन्द्रह ध्वनियाँ तथा चौदहवें पर मींड द्वारा और चार तारस्थानीय ध्वनियाँ सरलतापूर्वक मिल सकती हैं। इस प्रकार चौदह सारिकाओंवाली वीणा पर उन्नीस स्वरों की प्राप्ति होती है।

मतङ्ग एवं शार्ङ्गदेव तीनों सम्पूर्ण स्थानों के प्रयोग पर बल नहीं देते। मतङ्ग तो बारह स्वरों को जाति के रूप की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त मानते हैं और शार्ङ्गदेव को मन्द्र एवं तार स्थानों में कामचार (यथारुचि संचार) पर आपत्ति नहीं। कुछ जातियों के प्रस्तारों में शार्ङ्गदेव ने तार स्थान का प्रयोग किया ही नहीं है।

चतुर्थ अध्याय

जातियों के प्रस्तार

भरत इत्यादि के जाति-लक्षणों का ज्ञान हमें हो चुका है। उन लक्षणों के उदाहरण जातियों के वे प्रस्तार हैं, जो उन्होंने सङ्गीतरत्नाकर में दिये हैं। ये प्रस्तार हमें जातियों के 'वर्णों,' (स्वरसन्निवेश, गान-वादनक्रिया) का ज्ञान कराते हैं। इन प्रस्तारों के आधार पर हम जातियों के आलाप और विभिन्न अंशस्वरों को 'स्थायी' मानने के पश्चात् प्रापणीय रूपों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

नाट्यशास्त्र में 'आरम्भ' शब्द का प्रयोग है, आचार्य अभिनवगुप्त ने 'आरम्भ' शब्द को 'आलाप' का पर्यायवाची कहा है।[1] जातियों में 'करणों' का प्रयोग महर्षि भरत को अभिमत है।[2] 'करण' के विषय में यथास्थान लिखा जायगा। साधारणतया इन्हें मध्यलय इत्यादि में आलाप का प्रकार समझा जाना चाहिए।

जाति-लक्षणों में नाटक के विभिन्न अंकों की ध्रुवाओं में जातियों का विनियोग नाटकाश्रित है। नाटक के अतिरिक्त भी जातियों का गान 'समाजों' या 'सभाओं' में प्रयोज्य है। जातियों का प्रयोग शंकरस्तुति में भी विहित है।[3]

१—पूर्वं रञ्जकवर्गढौकनं तत एव तद्गीतस्योपरञ्जकस्य प्राधान्यम्। तस्य च बिम्बभूतं शारीरं शारीरस्वराणां मूलत्वात्। तदनुसन्धानायालापाख्य आरम्भः।

—आचार्य अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, प्र० खं०, द्वि० गा० सं०, पृ० २१३

परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तितः।

—भरत०, द्वि० गा० सं०, प्र० खं०, पृ० २१३

२—एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः।
स्वैः स्वैश्च करणैर्योज्याः पदेष्वभिनयैरपि॥

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४५३

३—ब्रह्मप्रोक्तपदैः सम्यक् प्रयुक्ताः शंकरस्तुतौ।

—आचार्य शार्ङ्गदेव, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ०२७३

जातियों के प्रस्तार में जो गेय 'पद' निर्दिष्ट हैं, उन्हें 'ब्रह्म-प्रोक्त पद' कहा गया है।[४] उन सभी में शंकर की स्तुति है, फलतः वे किसी नाटकविशेष का अंग नहीं और शंकर-स्तुति में जाति-समाश्रित पदों के उदाहरण हैं। इन ब्रह्मप्रोक्त पदों के अतिरिक्त अन्य 'पद' भी गाये जा सकते हैं।[५]

ब्रह्मप्रोक्त पदों की भाषा लौकिक संस्कृत है, उसमें अपाणिनीय प्रयोग नहीं हैं, उनका विषय शंकरस्तुति है। वे नाटकों में प्रयोज्य ध्रुवाओं के उदाहरण न होकर स्वतन्त्र प्रयोग के उदाहरण हैं।

आगम-पुराण-पद्धति में संगीत का आदिम स्रोत भगवान् शंकर हैं, ब्रह्मा ने उन्हीं से इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। ये ब्रह्मप्रोक्त पद सम्भवतः शैव-परम्परा में प्रचलित पद हैं, जो भगवान् महादेव की महत्ता के प्रतिष्ठापक हैं।

(१) षाड्जी-प्रस्तार

षाड्जी के प्रस्तुत प्रस्तार में अंश एवं ग्रहस्वर षड्ज है। इसी स्वर से प्रस्तार का आरम्भ हुआ है। न्यासस्वर षड्ज होने के कारण प्रस्तार की समाप्ति भी षड्ज पर हुई है। यद्यपि इस जाति की विकृत अवस्थाओं में गान्धार एवं पञ्चम स्वर भी अपन्यास हो सकते हैं, तथापि निम्न प्रस्तार षाड्जी के शुद्ध रूप का उदाहरण है। फलतः इसमें षड्ज अर्थात् अंशस्वर ही अपन्यास स्वर है, इसी लिए पद के मध्य की समाप्ति (छठी पंक्ति के अन्त में) षड्ज पर हुई है।

निम्नलिखित प्रस्तारों में एक-एक पंक्ति एक-एक तालभाग का निदर्शन करती है। एक से बत्तीस तक या एक से अड़तालीस संख्याएँ ताल एवं गीत में प्रयुक्त तालशास्त्रीय 'लघु' (पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण-काल) परिभाषा को प्रकट करती हैं। संख्याओं के ऊपर लिखे हुए संकेत तालक्रिया के द्योतक हैं। सभी प्रस्तारों में 'लघु' का परिमाण यही है और वे दक्षिण मार्ग में निबद्ध हैं। इन सब परिभाषाओं का स्पष्टीकरण यथा-स्थान किया जायगा।

४–'ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रोक्तैर्ग्रथितैः पदैः 'तं भवललाट–' इत्यादिभिः'
—आचार्य कल्लिनाथ टीका, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २७४

५–स्वातन्त्र्येणापि ब्रह्मप्रोक्तपदैरन्यैर्वा शंकरस्तुतावेव विनियोगः समुच्चीयते।
—आचार्य कल्लिनाथ टीका, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १९८

षाड्जी के निम्नलिखित प्रस्तार में अल्पत्व-बहुत्व का परिज्ञान प्रयुक्त स्वरों की संख्या से होगा।

षड्ज	(ग्रह, अंश, न्यास)	३६
ऋषभ	(अनंश, अल्प)	१२
गान्धार	(अंश से संगत, बहुल)	२०
मध्यम		८
पञ्चम		८
धैवत	(अंश से सङ्गत)	१६
निषाद	(अनंश, अल्प)	१२

इस जाति में धैवत और गान्धार की सङ्गति षड्ज के साथ विशेष रूप से विहित है, फलतः मध्यम एवं पञ्चम पर्यायांश होने पर भी अधिक प्रयुक्त नहीं हुए हैं। प्रस्तुत प्रस्तार 'पञ्चपाणि' ताल की दो आवृत्तियों में पूर्ण हुआ है।

पद

तं भवललाटनयनाम्बुजाधिकं
नगसूनुप्रणयकेलिसमुद्भवम्।
सरसक्तुतिलकपङ्कानुलेपनं
प्रणमामि कामदेहेन्धनानलम्॥

१	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	पा	निध	पा	धनि
	पद	तं	–	भ	व	ल	ला	–	ट
२	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गम	गा	गा	सा	रिग	धस	धा
	पद	न	य	नां	–	बु	जा	–	धि
३	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रिग	सा	रे	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	कं	–	–	–	–	–	–	–

४	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	धा	नी	निस	निध	पा	सा	सा
	पद	न	ग	सू	–	नु	प्र	ण	य
५	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	नी	धा	पा	धनि	रे	गा	सा	गा
	पद	के	–	लि	–	स	मु	–	द्भ
६	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	सा	धां	धंनिं	पां	सा	सा	सा	सा
	पद	वं	–	–	–	–	–	–	–
७	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	सा	म	प	मा	मा
	पद	स	र	स	क्त	त	ति	ल	क
८	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	गा	मा	धनि	निध	पा	गा	रेग
	पद	पं	–	–	का	नु	ले	प	–
९	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गा	गा	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	नं	–	–	–	–	–	–	–
१०	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धां	सा	रे	गरे	सा	मा	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	का	–	म

११	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	नी	पा	धनि	रे	गा	रे	स
	पद	दे	–	हें	–	ध	ना	न	–
१२	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	रिग	सा	रे	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	लं	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तारों में मन्द्र स्वरों के ऊपर बिन्दु तथा तार स्वरों के ऊपर खड़ी रेखा है। मध्यस्थानीय स्वर चिह्नहीन हैं।*

षाड्जी के इस प्रस्तार में 'पां, धां, निं, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा' इन ग्यारह स्वरों का उपयोग है। इस जाति में प्रयुक्त मन्द्र पञ्चम षाड्जी जाति की शुद्धावस्था में न्यास या अपन्यास स्वर नहीं। पञ्चम विकृतावस्था (पञ्चमांश अवस्था) में अपन्यास हो सकता है, फलतः प्रस्तुत प्रस्तार की मन्द्रगति 'कामचार' का उदाहरण है। इसी प्रकार तारस्थान में केवल अंशस्वर षड्ज का प्रयोग भी कामचार का उदाहरण है, क्योंकि महर्षि भरत ने तारस्थान में अंशस्वर से चतुर्थ, पञ्चम अथवा सप्तम स्वर को तार गति की सीमा माना है। मतङ्ग ने षाड्जी जाति की तारस्थानीय गति पञ्चस्वर पर मानी है।

अठारह सारिकाओंवाली किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने के पश्चात् उपर्युक्त ग्यारह स्वर छठे पर्दे से सोलहवें पर्दे तक मिल जायँगे। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर चौदहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे।

(२) आर्षभी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार ऋषभांश शुद्ध आर्षभी का उदाहरण है। ऋषभ स्वर ग्रह, न्यास एवं अपन्यास होने के कारण उसकी स्थिति प्रस्तार के आरम्भ, अन्त तथा मध्य (चतुर्थ

---

* ....मन्द्रो विन्दुशिरा भवेत् ।
ऊर्ध्वरेखाशिरास्तारो लिपौ........ ॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १५३

तालभाग के अन्त) में है। प्रस्तुत प्रस्तार, बत्तीस लघुवाले चञ्चत्पुट ताल की दो आवृत्तियों में पूर्ण हुआ है। इसमें आठ कलाएँ अर्थात् तालभाग हैं।

स्वर-संख्या निम्नस्थ है—

षड्ज (लोप्य, षाडवकारी, अनंश)	१२
ऋषभ (अंश, ग्रह, न्यास)	३०
गान्धार (संगतिकारक)	१६
मध्यम (अनंश)	१२
पञ्चम (लोप्य, अनंश, औडुवकारी)	६
धैवत (अंश-संवादी)	१०
निषाद (धैवत-संगतिकारक)	६

पद

गुणलोचनाधिकमनन्तममरमजरमजेयम् ।
प्रणमामि दिव्यमणिदर्पणामलनिकेतं भवममेयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	सा	रिग	मा	रिम	गा	रिरि
	पद	गु	ण	लो	—	च	ना	—	धि
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	निध	निध	गा	रिम	सा	पनि
	पद	क	म	नं	—	त	म	म	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	धा	नी	धा	पा	पा	सा	गा
	पद	म	ज	र	म	—	—	क्ष	य
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	धनि	रे	गरि	सधं	गरि	रे	रे
	पद	म	जे	—	—	—	—	यं	—

५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	मा	गरि	सधं	सस	रिस	रिग	मम
	पद	प्र	ण	–	मा	–	–	मि	दिव्य
६	ताल	आ०		ता०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	निधं	पा	रे	रे	रिप	गरि	सधं	सा
	पद	म	णि	द	–	र्प	णा	–	म
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रिस	रिस	रिग	रिग	मा	मा	मा	गरि
	पद	ल	नि	के	–	–	–	तं	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	नी	रे	म	गरि	सधं	गरि	गरि
	पद	भ	व	म	मे	–	–	–	यम्

प्रस्तुत प्रस्तार में 'धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि' नौ स्वरों का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मन्द्र धैवत धैवतांश अवस्था में अपन्यास होता है। वह प्रस्तुत प्रस्तार में अंशस्वर का संवादी है। तारस्थान का सर्वथा परित्याग कामचार का परिणाम है।

किन्नरी पर पञ्चमादि मूर्च्छना स्थापित करने से ये नौ स्वर दूसरे पर्दे से नवें तक मिल जायँगे। अठारह पर्दोवाली किन्नरी पर आठवें पर्दे से सोलहवें पर्दे तक भी ये मिलेंगे।

(३) गान्धारी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार गान्धारांश शुद्ध गान्धारी का उदाहरण है। ग्रह, न्यास एवं अपन्यास स्वर गान्धार प्रस्तार के आदि, अन्त एवं मध्य (आठवें तालभाग के अन्त) में हैं। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों अर्थात् सोलह कलाओं में इसकी पूर्ति हुई है।

स्वरसंख्या निम्नस्थ है—

षड्ज	(पर्यायांश)	१३
ऋषभ	(लोप्य, षाडवकारी)	७
गान्धार	(अंश, ग्रह, न्यास, अपन्यास)	५३
मध्यम	(पर्यायांश)	२४
पञ्चम	(पर्यायांश)	२५
धैवत	(लोप्य, औडुवकारी)	१५
निषाद	(पर्यायांश, अंशसंवादी)	३२

पद

एतं रजनिवधूमुखविभ्रमदं निशामय वरोरु
तव मुखविलासवपुश्चारुममलमृदुकिरण ममृतभवम् ।
रजतगिरिशिखरमणिशकलशंखवरयुवतिदन्त पंक्तिनिभं
प्रणमामि प्रणयरतिकलहरवनुदं शशिनम् ।।

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	सा	नीं	सा	गा	गा	गा
	पद	ए	–	–	–	तं	–	–	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निसं
	पद	र	ज	नि	व	धू	–	मु	ख
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	वि.	–	–	भ्र	म	–	दं	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निस
	पद	नि	शा	म	य	व	रो	–	रु
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	मा	सा
	पद	त	व	मु	ख	वि	ला	–	स
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	सा	गा	गा	गा	गम	गा	गा
	पद	व	पुश्	चा	रु	–	म	म	ल
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निस
	पद	मृ	दु	कि	र	ण	–	–	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	म	मृ	त	भ	वं	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पध	रे	गा	सा	सा
	पद	र	ज	त	गि	रि	शि	ख	र
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	म	णि	श	क	ल	शं	–	ख
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निस
	पद	व	र	यु	व	ति	दं	–	त
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	पं	–	क्ति	नि	भं	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	पा	नी	गा	मा	गा	सा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	प्र	ण	य
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	सा	गा	गा	गा	गम	गा	गा
	पद	र	ति	क	ल	ह	र	व	नु
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	मा	मा	निध	निस	निध	पनि
	पद	दं	–	–	–	–	–	–	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	परिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	श	शि	–	–	नं	–	–	–

इस प्रस्तार में 'नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा' इन नौ स्वरों का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर अंशस्वर गान्धार का संवादी है, परन्तु न्यास या अपन्यास स्वर नहीं। तारस्थान में भी कामचार है।

चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने से उपर्युक्त नौ स्वर पहले पर्दे से नवें पर्दे तक मिलेंगे, अठारह पर्दोंवाली किन्नरी पर आठवें से सोलहवें पर्दे तक भी मिलेंगे।

(४) मध्यमा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार मध्यमांश शुद्ध मध्यमा जाति का उदाहरण है। ग्रह, न्यास और अपन्यास स्वर मध्यम होने के कारण प्रस्तार के आदि, अन्त, मध्य (चौथे तालभाग के अन्त) में मध्यम का प्रयोग है। प्रस्तुत प्रस्तार चञ्चत्पुट ताल की दो आवृत्तियों अर्थात् बत्तीस लघुओं में सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या निम्नस्थ है—

षड्ज	(पर्यायांश)	९
ऋषभ	(पर्यायांश)	७
गान्धार	(लोप्य, षाडवकारी)	४
मध्यम	(अंश, ग्रह, न्यास)	२७
पञ्चम	(पर्यायांश)	१२
धैवत	(पर्यायांश)	८
निषाद	(षाडवकारी)	१२

टिप्पणी—इस प्रस्तार में बहुल प्रयोज्य षड्ज नौ बार और अल्प निषाद बारह बार प्रयुक्त हुआ है। परन्तु आलाप में ऐसा नहीं होगा।

पद

पातु भवमूर्धजाननकिरीटमणिदर्पणम् ।
गौरीकरपल्लवाङ्गुलिसुतेजितं सुकिरणम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		शु०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	मा	मा	पा	धनि	नी	धप
	पद	पा	—	—	तु	भ	व	मू	—
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पम	मा	सा	मा	गा	रे	रे
	पद	र्ध	जा	—	—	न	न	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	पा	मा	रिम	गम	मा	मा	मा	मा
	पद	कि	री	ट	–	–	–	–	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	निध	निसं	निध	पम	पध	मा	मा
	पद	म	णि	द	–	र्प	–	णं	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नीं	नीं	रे	रे	नीं	रे	रे	पा
	पद	गौ	–	री	–	क	र	प	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नीं	मप	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	ल्ल	वां	–	–	गु	लि	–	सु
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	नि	सा	गा	धप	मा	धनि	सा
	पद	ते	–	–	–	–	–	जि	तं
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	सा	पा	निधप	मा	मा	मा	मा
	पद	सु	कि	र	–	णं	–	–	–

इस प्रस्तार में 'निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म' बारह स्वरों का उपयोग है। मन्द्रावधि एवं तारावधि में कामचार है। मन्द्रतम प्रयुक्त निषाद से अंश स्वर मध्यम का षड्ज-मध्यम-भाव है, परन्तु निषाद इस जाति में 'अनंश' स्वर है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोंवाली किन्नरी पाँचवें पर्दे से सोलहवें पर्दे तक हमें ये स्वर देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर हमें चौदहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे।

(५) पञ्चमी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश शुद्ध पञ्चमी का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास और न्यास होने के कारण पञ्चम प्रस्तुत प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में है। यह प्रस्तार चंचत्पुट ताल की दो आवृत्तियों में निबद्ध है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अल्प)	८
ऋषभ	(पर्यायांश)	६
गान्धार	(षाडवकारी स्वर)	४
मध्यम	(अल्प)	८
पञ्चम	(अंश, ग्रह, न्यास)	२०
धैवत	(अनंश)	७
निषाद	(औडुवकारी)	१५

पद

हरमूर्धजाननं महेशममरपतिबाहुस्तम्भनमनन्तम्, ।
तं प्रणमामि पुरुषमुखपद्मलक्ष्मीहरमम्बिकापतिमजेयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	नी	नी	मा	नी	मा	पा
	पद	ह	र	मू	–	र्ध	जा	–	न
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१२	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गा	सा	सा	मां	मां	पां	पां
	पद	नं	म	हे	—	श	म	म	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पां	पां	धां	नीं	नीं	नीं	गा	सा
	पद	प	ति	बा	।	हु	स्तं	–	भ

४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	मा	धा	नी	निध	पा	पा	पा
	पद	न	म	नं	–	तं	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	पु	रु	ष
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मां	निंग	सा	सध	नी	नी	नी	नी
	पद	मु	ख	प	द्म	–	ल	–	क्ष्मी
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	सा	मा	पा	पा	पा	पा
	पद	ह	र	मं	–	वि	का	–	प
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	मा	धा	नी	पा	पा	पा	पा
	पद	ति	म	जे	–	यं	–	–	–

इस प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे' इन तेरह स्वरों का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मध्यम 'अल्प' स्वर है, परन्तु उसकी सङ्गति ऋषभ के साथ है, मध्यम इस जाति में 'न्यास' या 'अपन्यास' स्वर नहीं, न्यास से परे है। फलतः इस प्रस्तार की मन्द्रगति कामचार का परिणाम है। तारस्थान में प्रयुक्त अन्तिम स्वर ऋषभ इस जाति में पञ्चम का संवादी अवश्य है और अंशस्वर से पञ्चम है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर किन्नरी दूसरे पर्दे से चौदहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त तेरह स्वर प्राप्त करा देगी।

(६) धैवती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार धैवतांश शुद्ध धैवती का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास एवं न्यास स्वर धैवत प्रस्तार के आदि, मध्य एवं अन्त में विद्यमान हैं। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियों अर्थात् बारह तालभागों में प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(षाडवकारी)	२१
ऋषभ	(पर्यायांश, बली)	१०
गान्धार	(बली)	१०
मध्यम	(अनंश)	१५
पञ्चम	(औडुवकारी)	१०
धैवत	(अंश, ग्रह, न्यास)	३५
निषाद	(बली)	१९

प्रस्तुत प्रस्तार में अनंश एवं षाडवकारी षड्ज का प्रयोग बली स्वरों की अपेक्षा अधिक हुआ है। अनंश मध्यम भी बली स्वरों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त है।

पद

तरुणामलेन्दुमणिभूषितामलशिरोजं
भुजगाधिपैककुण्डलविलासकृतशोभम्।
नगसूनुलक्ष्मीदेहार्धमिश्रितशरीरं
प्रणमामि भूतगीतोपहारपरितुष्टम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	निध	पध	मा	मा	मा	मा
	पद	त	रु	णा	—	म	लें	—	दु
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
					।	।	।	।	।
	स्वर	धा	धा	निध	निस	सा	सा	सा	सा
	पद	म	णि	भू	—	षि	ता	—	म

३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सध	धा	पा	मध	धा	निध	धनि	धा
	पद	ल	शि	रो	–	–	–	जं	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	रिग	रिग	सा	रेग	सा	सा
	पद	भु	ज	गा	–	धि	पैं	–	क
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धां	धां	नीं	पां	धां	पां	मां	मां
	पद	कुं	–	ड	ल	वि	ला	–	स
६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	धां	धां	पां	मधं	धां	निंधं	धंनिं	धां
	पद	कृ	त	शो	–	–	–	भं	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	निस	निस	निध	पा	पा	पा
	पद	न	ग	सू	–	नु	ल	–	क्ष्मी
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रिग	सा	सा	सा	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	दे	हा	–	–	र्ध	मि	–	श्रि
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	रिग	रिग	सा	नी	सा	धा	धा
	पद	त	श	री	–	–	–	रं	–

१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रें	गंरिं	मंगं	मां	मां	मां	मां	मां
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	भू	–	त
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	नी	नी	धा	धा	पा	रिग	सा	रिग
	पद	गी	–	तो	–	प	हा	–	र
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	पा	धा	सा	मा	धा	नी	धा	धा
	पद	प	रि	तु	—	–	–	ष्टं	–

इस प्रस्तार में 'रें, गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, सं' चौदह स्वरों का प्रयोग हुआ है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर ऋषभ, अंशस्वर धैवत का संवादी है। तारस्थानीय स्वर अनंश हैं। प्रयुक्त मन्द्रतार सीमाएँ कामचार का परिणाम हैं।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर मेरु से तेरहवें पर्दे तक किन्नरी हमें उपर्युक्त चौदह स्वर दे देगी।

(७) नैषादी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार निषादांश शुद्ध नैषादी का उदाहरण है। अंश, अपन्यास एवं न्यास होने के कारण निषाद का प्रयोग प्रस्तार के आदि, मध्य एवं अन्त में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों अर्थात् सोलह ताल-भागों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(षाडवकारी)	१५
ऋषभ	(पर्यायांश, बली)	११
गान्धार	(पर्यायांश, बली)	११
मध्यम	(अनंश)	२८
पञ्चम	(औडुवकारी)	८
धैवत	(अनंश)	१२
निषाद	(अंश, ग्रह, न्यास)	४३

पद

तं सुरवन्दितमहिषमहासुरमथनमुमापतिं भोगयुतम् ,
नगसुतकामिनीदिव्यविशेषकसूचकशुभनखदर्पणकम् ।
अहिमुखमणिखचितोज्ज्वलनूपुरबालभुजङ्गमरवकलितम् ,
द्रुतमभिव्रजामि शरणमनिन्दितपादयुग्मपङ्कजविलासम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	नी	नी	सा	धा	नी	नी
	पद	तं	—	सु	र	वं	—	दि	त
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	मा	सा	धां	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	म	हि	ष	म	हा	—	सु	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	गा	गा	नी	नी	धा	नी
	पद	म	थ	न	मु	मा	—	प	तिं
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	धा	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	भो	—	ग	यु	तं	—	—	—
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	गा	मां	मां	मां	मां
	पद	न	ग	सु	त	का	—	मि	नी

६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नीं	पां	धां	पां	मां	मां	मां	मां
	पद	दि	–	व्य	वि	शे	–	ष	क
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	गा	सा	सा	रे	गा	नी	नी
	पद	सू	–	च	क	शु	भ	न	ख
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	पा	धनि	नी	नी	नी	नी
	पद	द	–	र्प	ण	कं	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	सा	मा	मा	मा	मा
	पद	अ	हि	मु	ख	म	णि	ख	चि
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मां	मां	मां	मां	नीं	धां	मां	मां
	पद	तो	–	ज्ज्व	ल	नू	–	पु	र
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	धा	नी	नी	रे	गा	मां	मां
	पद	बा	ल	–	भु	जं	ग	–	म
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मां	मां	पां	धां	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	र	व	क	लि	–	तं	–	–

१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पां	पां	नीं	नीं	रे	रे	रे	रे
	पद	द्रु	त	म	भि	व्र	जा	—	मि
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	मा	मा	मा	रे	गा	सा	सा
	पद	श	र	ण	म	निं	—	दि	त
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	मा	रे	गा	सा	धा	नी	नी
	पद	पा	—	द	यु	ग	पं	—	क
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	मा	रे	गा	नी	नी	नी	नी
	पद	ज	वि	ला	—	सं	—	—	—

इस प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प' सोलह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम स्वर के साथ अंशस्वर निषाद का संवाद-सम्बन्ध है। परन्तु मध्यम इस जाति में अनंश है, तारतम प्रयुक्त स्वर पञ्चम भी 'अनंश' स्वर है। मन्द्र एवं तार सीमाओं में कामचार है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी पहले पर्दे से सोलहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त सोलह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह सारोंवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर हमें चौदहवें पर्दे पर मींड द्वारा प्राप्त होंगे।

(८) षड्जकैशिकी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जांश षड्जकैशिकी का उदाहरण है। संसर्गज विकृत जाति होने के कारण इसका न्यासस्वर गान्धार अंशस्वर से भिन्न है। प्रस्तार का आरम्भ अंशस्वर षड्ज से, उत्तरार्ध का आरम्भ अपन्यासस्वर षड्ज से तथा अन्त न्यासस्वर गान्धार पर हुआ है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में प्रस्तार की पूर्ति हुई है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अंश, ग्रह, अपन्यास)	३३
ऋषभ	(दुर्बल)	१८
गान्धार	(पर्यायांश)	१५
मध्यम	(दुर्बल)	२०
पञ्चम	(पर्यायाँश)	१८
धैवत	(अनंश)	२८
निषाद	(अनंश)	१४

धैवत और निषाद अनंश होने पर भी मध्यम और ऋषभ स्वरों की अपेक्षा, रत्नाकर में बहुल विहित हैं।

पद

देवमसकलशशितिलकं द्विरदगतिं
निपुणमतिं मुग्धमुखाम्बुरुहदिव्यकान्तिम् ।
हरमम्बुदोदधिनिनादमचलवरसूनु-
देहार्धमिश्रितशरीरं प्रणमामि तमहमनुपममुखकमलम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	मां	पां	गरि	मग	मा	मा
	पद	दे	—	—	—	—	—	—	—
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	वं	—	—	—	—	—	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	धा	पा	पा	धा	धा	रे	रिम
	पद	अ	स	क	ल	श	शि	ति	ल

४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	रे	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	कं	–	–	–	–	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	पा	धनि	मा	मा	पा	पा
	पद	द्वि	र	द	ग	तिं	–	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	धा	पा	धनि	धा	धा	पा	पा
	पद	नि	पु	ण	म	तिं	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	मु	–	ग्ध	–	मु	खां	–	बु
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	धा	पा	धा	धनि	धा	धा	धा
	पद	रु	ह	दि	–	व्य	कां	–	तिम्
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	रिग	सा	रिग	धा	धा
	पद	ह	र	मं	–	वु	दो	–	द
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	धा	पा	पा	धा	धा	नी	नी
	पद	धि	नि	ना	–	दं	–	–	–

११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	सा	सां	सां	सां	गां
	पद	अ	च	ल	व	र	सू	–	नु
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धां	रिसं	रें	संरिं	रें	सरि	सां	सां
	पद	दे	–	हा	–	र्ध	मि	–	श्रि
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सरि	रे	सरि	रे	सा	सा	सा
	पद	त	श	री	–	रं	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	निध	पध	मा	.मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	तम	हं	–
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	पा	पम	पा	पम	पध	रिग
	पद	अ	नु	प	म	मु	ख	क	म
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	लं	–	–	–	–	–	–	–

इस प्रस्तार में 'सं, रें, गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि' चौदह स्वरों का उपयोग है। यहाँ मन्द्रस्थान में महर्षि भरत के अनुसार मन्द्रावधि की अन्तिम सीमा अंशस्वर (षड्ज) का प्रयोग है, परन्तु तारस्थान का प्रयोग सर्वथा लुप्त है।

षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर किन्नरी मेरु से तेरहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त चौदह स्वरों की प्राप्ति करा देगी।

(९) षड्जोदीच्यवा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जांश षड्जोदीच्यवा का उदाहरण है। आरम्भ, मध्य और अन्त में क्रमशः अंश, ग्रह षड्ज, अपन्यास षड्ज और न्यास स्वर मध्यम हैं। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियों में प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार हैं—

षड्ज	(अंश, ग्रह , अपन्यास)	२७
ऋषभ	(षाडवकारी)	०
गान्धार	(अनंश, बली)	१५
मध्यम	(पर्य्यायांश)	१४
पञ्चम	(औडुवकारी)	१२
धैवत	(पर्य्यायांश)	२०
निषाद	(पर्य्यायांश)	८

पद

शैलेशसूनुप्रणयप्रसङ्गसविलासखेलनविनोदम्।
अधिकमुखेन्दुनयनं नमामि देवासुरेश तव रुचिरम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	मां	मां	गां	गां
	पद	शै	–	–	–	ले	–	–	–
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	मा	पा	मा	गा	मा	मा	धा
	पद	श	–	सू	–	–	–	–	नु
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१८	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	मा	गा	पा	पा	नी	धा
	पद	शै	–	ले	–	श	सू	–	नु

४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	नी	सा	सा	धा	नी	पा	मा
	पद	प्र	ण	य	–	प्र	सं	–	ग
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	गां	सा	सा	सा	सा	सा	सा	गां
	पद	स	वि	ला	–	स	खे	–	ल
६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	धा	धा	पा	धा	पा	नी	धा	धा
	पद	न	वि	नो	–	–	–	दं	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	गां	गां	गां	गां	गां	सा	सा
	पद	अ	–	धि	–	क	–	–	–
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	धा	पा	धा	पा	धा	धा	धा
	पद	मु	–	खे	–	–	–	–	न्दु
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	। सा	। सा	मा	गा	पा	पा	नी	धा
	पद	अ	धि	क	–	मु	खे	–	न्दु
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	नी	। सा	। सा	धा	नी	पा	मा
	पद	न	य	नं	–	न	मा	–	मि

११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	गां	सा	सा	सा	सा	सा	सा	गां
	पद	दे	–	वा	–	सु	रे	–	श
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	धा	धा	पा	धा	गा	मा	मा	मा
	पद	त	व	रु	चि	रं	–	–	–

इस प्रस्तार में अर्धमागधी गीति का भी आश्रय लिया गया है। अर्धमागधी इत्यादि गीतियों की चर्चा यथास्थान की जायगी।

'गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म' सोलहो स्वर प्रयुक्त हुए हैं। मन्द्रतम स्वर न्यास से पर है। तार स्थान में प्रयुक्त तारतम स्वर मध्यम अंश-स्वर षड्ज से चतुर्थ है। तारावधि भरत-सम्मत है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी मेरु से पन्द्रहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त सोलह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह सारोंवाली किन्नरी पर अन्तिम स्वर मींड द्वारा मिलेगा।

(१०) षड्जमध्यमा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार मध्यमांश षड्जमध्यमा का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास और न्यासस्वर मध्यम का प्रयोग जाति के आदि, मध्य एवं अन्त में हुआ है। प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियों में पूर्ण हुआ है।

स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(पर्य्यायांश)	१६
ऋषभ	(पर्य्यायांश)	१३
गान्धार	(औडुवकारी)	२५
मध्यम	(अंश, न्यास, अपन्यास)	४८
पञ्चम	(पर्य्यायांश)	२१
धैवत	(पर्य्यायांश)	२५
निषाद	(षाडवकारी)	८

पद

रजनिवधूमुखविलासलोचनं
प्रविकसितकुमुददलफेनसन्निभम् ।
कामिजननयनहृदयाभिनन्दिनं
प्रणमामि देवं कुमुदाधिवासिनम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	गा	सग	पा	धप	मा	निध	निम
	पद	र	ज	नि	व	धू	–	मु	ख
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	सा	रिग	मग	निध	पध	पा
	पद	वि	ला	–	स	लो	–	–	च
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	गा	रे	गा	मा	मा	सा	सा
	पद	नं	–	–	–	–	–	–	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मगम	मा	मा	निध	पध	पम	गमम
	पद	प्र	वि	क	सि	त	कु	मु	द
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	द	ल	फे	न	सं	–	–	नि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८

	स्वर	निध	सा	रे	मगम	मा	मा	मा	मा
	पद	भं	–	–	–	–	–	–	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मां	मां	मंगंमं	मंधं	धंपं	पंधं	पंमं	गंमंगं
	पद	का	–	मि	ज	न	न	य	न
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	ह्व	द	या	भि	नं	–	–	दि
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	मा	धनि	धस	धप	मप	पा	पा
	पद	नं	–	–	–	–	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मां	मंगंमं	मां	निंधं	पंधं	पंमंगं	गां	मां
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	वं	–
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	कु	मु	दा	धि	वा	–	–	सि
१२	ताल	आ०	–	नि०	–	वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	निध	सा	रे	मगम	मा	मा	मा	मा
	पद	नं	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, सं, रें, गं, मं' सोलह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर गान्धार पर्य्यायांश है, मतङ्ग की भाषा में 'तत्पर' (न्यास से पर) भी है। तारतम प्रयुक्त स्वर मध्यम अंश है।

मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी हमें छठे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक तेरह स्वर तथा अन्तिम पर्दे पर मींड द्वारा अवशिष्ट तीन स्वर देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम तीन स्वर नहीं मिलेंगे और उनसे पूर्ववर्ती प, ध, नि, सं, चौदहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे।

(११) गान्धारोदीच्यवती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जांश गान्धारोदीच्यवा का उदाहरण है। ग्रह स्वर षड्ज, अपन्यास षड्ज और न्यासस्वर मध्यम क्रमशः इस प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में हैं। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है :—

षड्ज	(अंश, ग्रह, अपन्यास)	२८
ऋषभ	(षाडवकारी)	६
गान्धार	(बली)	२४
मध्यम	(पर्य्यायांश, न्यास)	२४
पञ्चम	(अनंश)	२२
धैवत	(अनंश)	१४
निषाद	(अनंश)	२७

पञ्चम, धैवत और निषाद अनंश होते हुए भी इस प्रस्तार में अल्पप्रयुक्त नहीं हैं। जिन जातियों के योग से यह जाति बनी है, उनमें 'गान्धारी' भी है, इन स्वरों की अनल्पता गान्धारी के मिश्रण का परिणाम है।

पद

सौम्यगौरीमुखाम्बुरुहदिव्यतिलक—
परिचुम्बितार्चितसुपादं प्रविकसितहेमकमलनिभम्।
अतिरुचिरकान्तिनखदर्पणामलनिकेतं मनसिजशरीर—
ताडनं प्रणमामि गौरीचरणयुगमनुपमम्॥

प्रस्तार

१									
	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	पा	मा	पा	धप	पा	मा
	पद	सौ	—	—	—	—	—	—	—

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पा	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	म्य	–	–	–	–	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	मा	मा	पा	पा
	पद	गौ	–	री	–	मु	खां	–	वु
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	रु	ह	दि	–	व्य	ति	ल	क
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	धा	निस	नी	नी	नी	नी
	पद	प	रि	चुं	–	बि	ता	–	चि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा	सा
	पद	त	सु	पा	–	दं	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	मग	पा	पध	मा	धनि	पा	पा
	पद	प्र	वि	क	सि	त	हे	–	म
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	सध	नी	नी	धा	धा
	पद	क	म	ल	नि	भं	–	–	–

९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रिग	सा	सनि	गा	रिग	सा	सा
	पद	अ	ति	रु	चि	र	कां	–	ति
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	सा	सा	मा	मनि	धनि	नी	नी
	पद	न	ख	द	–	र्प	णा	–	म
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा	सा
	पद	ल	नि	के	–	तं	–	–	–
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	सा	गा	सा	मा	पा	मा	परिग
	पद	म	न	सि	ज	श	री	र	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	मा	गा	सा	गा	गा	गा	सा
	पद	ता	–	–	ड	तं	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	पा	धा	नी	गा	गा	गा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	गौ	–	री
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	नी	नी	धा	पा	धा	पा	मा	पा
	पद	च	र	ण	यु	ग	म	नु	प
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	पा	सा	सा	मा	मा	मा	मा
	पद	मं	–	–	–	–	–	–	–

इस प्रस्तार में 'स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' चौदह स्वरों का प्रयोग हुआ है। मन्द्र स्थान का प्रयोग सर्वथा नहीं है। तार स्थान में अंश स्वर से सप्तम निषाद भरत-विधान के अनुकूल है।

धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी दूसरे से पन्द्रहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त चौदह स्वर दे देगी। चौदह सारोंवाली किन्नरी पर अन्तिम स्वर अन्तिम पर्दे पर मींड़ द्वारा मिलेगा।

(१२) रक्तगान्धारी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश रक्तगान्धारी का उदाहरण है। प्रस्तार का आरम्भ ग्रहस्वर पञ्चम से और अन्त न्यासस्वर गान्धार पर हुआ है। गेय पद का पूर्वार्ध अपन्यास स्वर मध्यम पर समाप्त हुआ है। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज		७
ऋषभ	(षाडवकारी)	४
गान्धार	(पर्य्यायांश, न्यास)	१७
मध्यम	(पर्य्यायांश)	२३
पञ्चम	(अंश, ग्रह)	३८
धैवत	(औडुवकारी, बहुल)	८
निषाद	(पर्य्यायांश, बहुल)	६

लक्षण में धैवत एवं निषाद का बाहुल्य है, परन्तु प्रस्तार में नहीं है।

पद

तं बालरजनिकरतिलकविभूषणविभूतिम् ।
प्रणमामि गौरीवदनारविन्दप्रीतिकरम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	नी	सा	सा	गा	सा	पा	नी
	पद	तं	–	बा	–	ल	र	ज	नि
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सो̍	सो̍	पा	पा	मा	मा	गा	गा
	पद	क	र	ति	ल	क	भू	–	ष
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	धा	पा	मा	पा	धप	मग
	पद	ण	वि	भू	–	–	–	–	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा
	पद	तिं	–	–	–	–	–	–	–
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धां	नीं	पां	मंपं	धां	नीं	पां	पां
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	मां	पां	मां	धंनिं	पां	पां	पां	पां
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–

७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पा	पा	मा	पा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	गौ	–	री
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	र	गा	मा	पा	पा	पा	मा	पा
	पद	व	द	ना	–	र	विं	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	द	–	–	–	–	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	सा	रे	गा	गा	गा
	पद	प्री	–	ति	क	रं	–	–	–
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	गा	गा	पा	धम	धा	निधे	पा	पा
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का प्रयोग हुआ है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम 'अंश' से पर है, मध्यमांश अवस्था में अपन्यास भी है। तार स्थान में निषाद तक प्रयोग में कामचार है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी दूसरे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक हमें सत्रह स्वर देगी, अन्तिम स्वर अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिलेगा। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर चौदहवें पर्दे पर तार ऋषभ मिलेगा, मींड द्वारा अवशिष्ट स्वर प्राप्त करना वादक की कुशलता पर निर्भर है।

(१३) कैशिकी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश कैशिकी का उदाहरण है। ग्रह पञ्चम, अपन्यास पञ्चम और न्यास गान्धार क्रमशः इस प्रस्तार के आदि, मध्य एवं अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। पञ्चपाणि की दो आवृत्तियों में प्रस्तुत प्रस्तार की पूर्ति हुई है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(पर्य्यायांश)	९
ऋषभ	(अनंश षाडव०)	११
गान्धार	(न्यास)	२०
मध्यम	(पर्य्यायांश)	१७
पञ्चम	(ग्रह, अंश)	१५
धैवत	(औडुवकारी)	१४
निषाद	(बली)	२०

प्रस्तुत प्रस्तार में अत्यन्त बली होने के कारण गान्धार एवं निषाद का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। सभी स्वरों का सञ्चार होने के कारण सभी स्वरों का प्रयोग सञ्चारी रूप में है। दुर्बल ऋषभ का भी ग्यारह बार प्रयोग इसी सञ्चार का परिणाम है।

साधारणतया किसी जाति का न्यासस्वर एक होता है, परन्तु इस जाति में गान्धार, पञ्चम एवं निषाद तीन न्यासस्वर सम्भव हैं।

प्रस्तुत प्रस्तार में ग्रहस्वर पञ्चम है, इसी लिए हमने इस प्रस्तार में पञ्चम को अंश माना है। अंश से भिन्न ग्रह केवल नन्दयन्ती जाति में होता है।

पद

केलीहतकामतनुविभ्रमविलासं
तिलकयुतं मूर्धोर्ध्वबालसोमनिभम् ।
मुखकमलमसमहाटकसरोजं
हृदि सुखदं प्रणमामि लोचनविशेषम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	पा	धनि	गा	गा	गा	गा
	पद	के	–	ली	–	ह	–	त	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	पा	मा	निध	निध	पा	पा	पा
	पद	का	–	म	त	नु	–	–	–
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	रे	रे	रे	रे
	पद	वि	–	भ्र	म	वि	ला	–	सं
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	सा	रे	गा	मा	मा	मा
	पद	ति	ल	क	यु	तं	–	–	–
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	मां	धां	नीं	धां	मां	धां	मां	पां
	पद	मू	–	र्धो	–	र्ध्वं	वा	–	ल
६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	गा	रे	सा	धनि	रे	रे	रे	रे
	पद	सो	–	म	नि	भं	–	–	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रे	सा	सा	धा	धा	मा	मा
	पद	मु	ख	क	म	लं	–	–	–

८	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गा	गा	मा	मा	निधनि	नी	नी
	पद	अ	स	म	–	हा	–	ट	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गा	नी	नी	गा	गा	गा	गा
	पद	क	स	रो	–	जं	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	गा	नी	नी	निध	पा	पा	पा
	पद	हृ	दि	सु	ख	दं	–	–	–
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	मा	पा	मा	पा	पा	पा	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	लो	च	–
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	सा	मा	गा	निधनि	नी	नी	मा	गा
	पद	न	वि	शे	–	षं	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का उपयोग हुआ है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर न्यास से पर है, तारतम प्रयुक्त निषाद का प्रयोग कामचार से है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोंवाली किन्नरी पहले पर्दे से अन्तिम पर्दे तक हमें उपर्य्युक्त अठारह स्वर दे देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर अन्तिम पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे।

(१४) मध्यमोदीच्यवा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश मध्यमोदीच्यवा का उदाहरण है। ग्रह स्वर पञ्चम, अपन्यास स्वर पञ्चम तथा न्यास स्वर मध्यम क्रमशः प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में हैं। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में यह प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है —

षड्ज	(अनंश)	८
ऋषभ	(षाडवकारी)	१४
गान्धार	(अनंश)	२४
मध्यम	(न्यास)	१६
पञ्चम	(अंश, ग्रह)	२८
धैवत	(अनंश)	१४
निषाद	(अनंश)	४२

इस प्रस्तार में निषाद का प्रयोग बहुल है। यह सामान्य नियम का अपवाद है।

पद

देहार्धरूपमतिकान्तिममलममलेन्दुकुन्दकुमुदनिभं
चामीकराम्बुरुहदिव्यकान्तिप्रवरगणपूजितमजेयम्।
सुराभिष्टुतमनिलमनोजवमम्ब्रुदोदधिनिनादमतिहासं
शिवं शान्तमसुरचमूमथनं वन्दे त्रैलोक्यनतचरणम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	नी	नी	मा	पा	नी	पा
	पद	दे	—	हा	—	र्ध	रू	—	प
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	रे	गा	सा	रिग	गा	गा
	पद	म	ति	कां	—	ति	म	म	ल

३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	म	म	लें	–	दु	कुं	–	द
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	कु	मु	द	नि	भं	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	चा	–	मी	–	क	रां	–	बु
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	रिग	सा	सधं	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	रु	ह	दि	–	–	व्य	कां	ति
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	नी	सा	पा	पा	गा	गा
	पद	प्र	व	र	ग	ण	पू	–	जि
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	पां	मां	निधं	नीं	नीं	सा	सा
	पद	त	म	जे	–	यं	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पां	पां	मां	धंनि	पां	पां	पां	पां
	पद	सु	रा	भि	ष्टु	त	म	नि	ल

१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मां	पां	मां	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	नो	ज	–	व	–	मं	बु
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	मा	पा	नी	नी	नी	नी
	पद	दो	–	द	धि	नि	ना	–	द
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	ति	हा	–	सं.	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	गा	गा	मा	निध	नी	नी
	पद	शि	वं	शां	–	त	म	सु	र
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	च	मू	म	थ	नं	–	–	–
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	गा	सा	सा	मा	निधनि	नी	नी
	पद	वं	–	दे	–	त्रै	लो	क्य	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	धां	पा	धा	पा	मा	मा
	पद	न	त	च	र	णं	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, सं, रे, गं, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का प्रयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मध्यम 'न्यास' है, तार स्थान में कामचार है। मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारिकाओंवाली किन्नरी पहले पर्दे से अन्तिम पर्दे तक उपर्युक्त अठारह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर मींड द्वारा मिलेंगे।

(१५) कार्मारवी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार ऋषभांश कार्मारवी का उदाहरण है। इसका आरम्भ ग्रहस्वर ऋषभ और अन्त न्यासस्वर पञ्चम पर हुआ है। अपन्यास स्वर पञ्चम प्रस्तार के मध्यम में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनंश)	१०
ऋषभ	(अंश, ग्रह)	१९
गान्धार	(अनंश)	२९
मध्यम	(अनंश)	१७
पञ्चम	(पर्य्यायांश, न्यास)	२२
धैवत	(पर्य्यायांश)	८
निषाद	(अनंश)	३४

अनंश स्वरों का बहुल प्रयोग इस जाति की विशेषता है। भरत-विधान इस बहुलता का आधार है।

पद

तं स्थाणुललितवामाङ्गसक्तमतितेजःप्रसरसौधांशुकान्ति-
फणिपतिमुखमुरोविपुलसागरनिकेतं सितपन्नगेन्द्र-
मतिकान्तं षण्मुखविनोदकरपल्लवांगुलिविलासकीलन-
विनोदं प्रणमामि देवयज्ञोपवीतकम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	तं	–	स्था	–	णु	ल	लि	त

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	गा	सा	गा	सा	नी	नी	नी
	पद	वा	–	मां	–	ग	स	–	क्त
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नीं	मां	नीं	मां	पां	पां	गा	गा
	पद	म	ति	ते	–	जः	प्र	स	र
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	पा	मा	पा	नी	नी	नी	नी
	पद	सौ	–	धां	–	शु	कां	–	ति
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	सा	नी	रे	गा	रे	मा
	पद	फ	णि	प	ति	मु	खं	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गा	रे	सा	नी	धनि	पा	पा
	पद	उ	रो	वि	पु	ल	सा	–	ग
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	मा	पेरिग	गा	गा	गा	गा
	पद	र	नि	के	–	तं	–	–	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	रे	गा	सम	मा	मा	पा	पा
	पद	सि	त	प	–	न्न	गे	–	न्द्र

९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	ति	कां	–	तं	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नी	पा	मा	धा	नी	सा	सा
	पद	ष	–	ण्मु	ख	वि	नो	–	द
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	क	र	प	–	ल्ल	वा	–	ङ्गु
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मां	मां	धां	नीं	सनिनि	धा	पा	पा
	पद	लि	वि	ला	–	स	की	–	ल
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	न	वि	नो	–	दं	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	पा	धनि	गा	गा	गा	गा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	–	व
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	रे	गा	सा	नी	नी	नी	नी
	पद	य	–	ज्ञो	–	प	वी	–	त

१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नीं	नी	धा	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	कं	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम 'न्यास से पर' है। तारस्थान में निषाद तक प्रयोग कामचार से है।

षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी तीसरे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक सोलह स्वर तथा अन्तिम पर्दे पर मींड द्वारा अवशिष्ट दो स्वर प्राप्त करायेगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम छः स्वर प्राप्त करना वादक की कुशलता पर निर्भर है।

(१६) गान्धारपञ्चमी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश गान्धारपञ्चमी का उदाहरण है। प्रस्तार के आरम्भ एवं अन्त में क्रमशः ग्रहस्वर पञ्चम एवं न्यास स्वर गान्धार हैं। अपन्यास स्वर ऋषभ प्रस्तार के मध्य में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में प्रस्तुत प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनंश)	१०
ऋषभ	(अनंश, अपन्यास)	१४
गान्धार	(अनंश, न्यास)	१९
मध्यम	(अनंश)	१६
पञ्चम	(अंश, ग्रह)	२७
धैवत	(अनंश)	१२
निषाद	(अनंश)	४८

गान्धार न्यास एवं पंचम अंश से अन्य स्वरों की सङ्गति, ऋषभ और मध्यम से अन्य स्वरों की सङ्गति तथा ऋषभ-मध्यम की पारस्परिक सङ्गति के परिणामस्वरूप निषाद का प्रयोग इस प्रस्तार में सर्वाधिक है।

पद

कान्तं वामैकदेशप्रेङ्खोलमान–
कमलनिभं वरसुरभिकुसुमगन्धाधिवासितमनोज्ञ-
नगराजसूनुरतिरागरभसकेलीकुचग्रहलीलं
तं प्रणमामि देवं चन्द्रार्धमण्डितविलासकीलनविनोदम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	मप	मध	नी	धप	मा	धा	नी
	पद	कां	–	–	–	–	–	–	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सनिनि	धा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	–	–	तं	–	–	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	मा	मा	पा	पा
	पद	वा	–	मै	–	क	दे	–	श
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	प्रे	–	ङ्खो	–	ल	मा	–	न
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	क	म	ल	नि	भं	–	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	व	र	सु	र	भि	कु	सु	म
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	रिग	सा	सध	नी	नी	नी	नी
	पद	गं	–	धा	–	धि	वा	–	सि
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	सा	रिस	रे	रे	रे	रे
	पद	त	म	नो	–	ज्ञ	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	गा	सा	निग	सा	नीं	नीं	नीं
	पद	न	ग	रा	–	ज	सू	–	नु
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नीं	मां	नीं	मां	पां	पां	गा	गा
	पद	र	ति	रा	–	ग	र	भ	स
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पां	मां	पां	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	के	–	ली	–	कु	च	–	ग्र
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	ह	लीं	लं	–	तं	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	नीं	नीं	पां	धां	नीं	गा	गा	गा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	–	वं
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	चं	–	द्रा	–	र्धं	मं	–	डि
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मां	मां	धां	नीं	सनिनि	धा	पा	पा
	पद	त	वि	ला	सकी	ल	–	–	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	न	वि	नो	–	दं	–	–	–

इस प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, सं, रें' तेरह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम अपन्यास से पर है। तारतम प्रयुक्त स्वर ऋषभ अंशस्वर पञ्चम से पाँचवाँ है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर उपर्युक्त तेरह स्वर किन्नरी पर पहले पर्दे से तेरहवें तक मिल जायँगे।

(१७) आन्ध्री-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार गान्धारांश आन्ध्री का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास एवं न्यास स्वर गान्धार प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में प्रस्तुत प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनंश)	७
ऋषभ	(पर्यायांश)	३६
गान्धार	(अंश, ग्रह, न्यास)	४४
मध्यम	(अनंश)	१५

पञ्चम	(पर्यायांश)	१३
धैवत	(अनंश)	४
निषाद	(पर्य्यायांश)	१९

ऋषभ-गान्धार एवं निषाद-धैवत की सङ्गति के कारण तथा निषाद के अंश संवादी होने के कारण ऋषभ और निषाद का प्रयोग अंश की अपेक्षा अल्प तथा इतर स्वरों की अपेक्षा बहुल है।

पद

तरुणेन्दुकुसुमखचितजटं त्रिदिवनदीसलिलधौतमुखं
नगसूनुप्रणयं वेदनिधिं परिणाहितुहिनशैलगृहम् ।
अमृतभवं गुणरहितं तमवनिरविशशिज्वलनजलपवन-
गगनतनुं शरणं व्रजामि शुभमतिकृतनिलयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	त	रु	णे	—	न्दु	कु	सु	म
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गा	रे	गा	रे	रे	रे	रे
	पद	ख	चि	त	ज	टं	—	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	गा	रे	रे	मा	मा
	पद	त्रि	दि	व	न	दी	स	लि	ल
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	धनि	नीं	नीं	नीं	नीं
	पद	धौ	—	त	मु	खं	—	—	—

५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नीं	रे	नीं	रे	धंनि	धंनि	पां	पां
	पद	न	ग	सू	–	नु	प्र	ण	यं
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मां	पां	मां	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	वे	–	द	नि	धिं	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	सस	मा	मा	पा	पा
	पद	प	रि	णा	–	हि	तु	हि	न
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मां	पां	मां	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	शै	–	ल	गृ	हं	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धां	नीं	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	अ	मृ	त	भ	वं	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	गु	ण	र	हि	तं	–	–	–
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	ऩी	नी	नी	नी	रे	रे	रे	रे
	पद	त	म	व	नि	र	वि	श	शि

१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	रे	गा	नी	सा	सा	नी	नी
	पद	ज्व	ल	न	ज	ल	प	व	न
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	ग	ग	न	त	नुं	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	गा	सम	मा	मा	पा	पा
	पद	श	र	णं	–	व्र	जा	–	मि
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	मा	नी	नी	सा	रे	गा	पा
	पद	शु	भ	म	ति	कृ	त	नि	ल
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	यं	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम इस जाति के अपन्यास स्वरों में है। तारस्थान में प्रयुक्त अन्तिम स्वर अंशस्वर गान्धार से पाँचवाँ है।

मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोंवाली किन्नरी मेरु से सत्रहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त अठारह स्वरों की प्राप्ति करा देगी । चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम तीन स्वर मींड द्वारा मिलेंगे ।

(१८) नन्दयन्ती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश नन्दयन्ती का उदाहरण है। केवल इसी जाति में ग्रह-स्वर गान्धार अनंश होने पर भी है, जिससे प्रस्तार का आरम्भ हुआ है। प्रस्तार के मध्य में अपन्यास पञ्चम तथा अन्त में न्यासस्वर गान्धार है। चञ्चत्पुट ताल की आठ आवृत्तियों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(षाडवकारी)	५१
ऋषभ	(अनंश)	२५
गान्धार	(न्यास)	५९
मध्यम	(अनंश)	५१
पञ्चम	(अंश)	७०
धैवत	(अनंश)	३२
निषाद	(अनंश)	३०

पद

सौम्यं वेदाङ्गवेदकरकमलयोनिं तमोरजोविवर्जितं हरं
भवहरकमलगृहं शिवं शान्तं सन्निवेशनमपूर्वं
भूषणलीलसुरगेशभोगभासुरशुभपृथुलम्।
अचलपतिसूनुकरपंकजामलविलासकीलनविनोदं
स्फटिकमणिरजतसितनवदुकूलक्षीरोदसागरनिकाशम्।
अजशिरःकपालपृथुभाजनं वन्दे सुखदं
हरदेहममलमधुसूदनसुतेजोऽधिकसुगतियोनिम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	गा	गा	पा	पा	धप	मा
	पद	सौ	–	—	—	—	—	—	—
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	धा	धा	धा	धा	धा	नी	सनिनि	धा
	पद	—	—	—	—	—	—	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		पु०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पां	पां	पां	पां	पां	पां	पां	पां
	पद	म्यं	—	—	—	—	—	—	—
४	ताल	आ		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धां	नीं	मां	पां	गां	गां	गां	गां
	पद	वे	—	दा	—	ङ्ग	वे	—	द
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	रे	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	क	र	क	म	ल	यो	—	निं
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	पा	पा	धा	निध	पा	पा
	पद	त	मो	र	जो	वि	व	—	—
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	जि	तं	—	—	—	—	—	—
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गम	पा	पा	पा	मा	मा	गा	गा
	पद	हरं	—	—	—	—	—	—	—
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	भ	व	ह	र	क	म	ल	गृ
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा
	पद	हं	—	—	—	—	—	-	—
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पम	पा	पा	नी
	पद	शि	वं	शां	—	तं	सं	—	नि
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रें	रें	रें	रें	पां	पां	मां	मां
	पद	वे	—	श	न	म	पू	—	वं
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धां	नीं	सनिंनिं	धां	पां	पां	पां	पां
	पद	भू	ष	—	ण	ली	—	लं	—
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धां	नीं	मां	पां	गां	गां	गां	गां
	पद	उ	र	गे	—	श	भो	—	ग
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	पा	पा	धा	मा	गा	मा
	पद	भा	—	सु	र	शु	भ	पृ	थु
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

	स्वर	धा	धा	नी	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	लं	—	—	—	—	—	—	—
१७	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पम	पा	पा	नी
	पद	अ	च	ल	प	ति	सू	नु	—
१८	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रें	रें	रें	रें	पां	पां	पां	पां
	पद	क	र	पं	—	क	जा	—	म
१९	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	पा	पा	धा	मा	मा	मा
	पद	ल	वि	ला	—	स	की	—	ल
२०	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नीं	पां	गां	गमं	गां	गां	गां	गां
	पद	न	वि	नो	—	दं	—	—	—
२१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रें	रें	गां	गां	मां	मां	मां	मां
	पद	स्फ	टि	क	म	णि	र	ज	त
२२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	पा	नी	मा	नी	धा	पा	पा
	पद	सि	त	न	व	दु	कू	—	ल
२३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	सा̍	सा̍	धनि	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	क्षी	—	रोद	—	सा	—	—	ग
२४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा̍	सा̍
	पद	र	नि	का	—	शं	—	—	—
२५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	रे़	गा	गा	मा	मा	पा	पा
	पद	अ	ज	शि	रः	क	पा	—	ल
२६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	रे	गा	मा	रिग	मा	मा
	पद	पृ	थु	भा	—	—	ज	नं	—
२७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	नी	पा	नी	गा	गा	गा	गा
	पद	वं	—	दे	—	सु	ख	दं	—
२८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	पा	पा	धा	धनि	निध	मा
	पद	ह	र	दे	—	ह	म	म	ल
२९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	सा	नी	धा	नी	पा	पा
	पद	म	धु	सू	—	द	न	—	सु
३०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	रे̍	रे̍	रे̍	रे̍	मा	पा	धा	मा
	पद	ते	—	जो	—	धि	क	—	सु
३१	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	धा	पा	मा	मा
	पद	ग	ति	यो	—	—	—	—	—
३२	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	परिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	—	—	निं	—	—	—	—	—

प्रस्तुत प्रस्तार में 'रें, गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग,म, प, ध, नि, स̍, रे̍' पन्द्रह स्वरों का प्रयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर 'न्यास' से पर तथा अंश-संवादी है। तारस्थानीय ऋषभ अंशस्वर पञ्चम से पाँचवाँ है।

पञ्चमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर उपर्युक्त पन्द्रह स्वर, अठारह सारोंवाली किन्नरी, चौथे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक प्राप्त करायेगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर मींड द्वारा मिलेंगे।

पंचम अध्याय

साधारण

स्वर-साधारण

पूर्व स्थिति का जहाँ पूर्णतया अन्त न हो और पर स्थिति को भी जहाँ अनागत न कहा जा सके, वह स्थिति 'साधारण' स्थिति होती है। मान लीजिए, छाया में जाने पर शीत का अनुभव होता है और धूप में जाने पर पसीना आने लगता है, तो न तो यही कहा जा सकता है कि शिशिर का अन्त हो गया है (क्योंकि छाया में शीत का अनुभव होता है) और न यही कहा जा सकता है कि वसन्त नहीं आया है, (क्योंकि धूप में पसीना आ रहा है)। फलतः शिशिर और वसन्त दोनों की विशेषताओं से युक्त इस काल में 'काल-साधारणता' है।[1]

इसी प्रकार यदि कोई स्वर अपनी शुद्ध स्थिति की अपेक्षा चढ़ गया हो और अगले स्वर तक भी न पहुँचा हो, तो उसकी 'साधारण' अवस्था होगी, क्योंकि न तो वह अपने मूल स्थान पर रहा है और न उसने अग्रिम स्वर की स्थिति प्राप्त की है।

गान्धार जब अपने स्थान से दो श्रुति चढ़ जाता है, अर्थात् मध्यम की दो श्रुतियों का ग्रहण कर लेता है, तब 'अन्तरगान्धार' कहलाता है।[2]

निषाद जब अपने स्थान से दो श्रुति चढ़ जाता है, अर्थात् षड्ज की दो श्रुतियों का ग्रहण कर लेता है, तब 'काकलीनिषाद' कहलाता है।[3]

१—छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो भवति चातपस्थस्य।
न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः॥
इति कालसाधारणता। —भरत०, ब० सं०, पृ० ४३६

२—एवं गान्धारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञो गान्धारो न मध्यमः।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३७

३—द्विश्रुतिप्रकर्षणान्निषादवान् काकलीसंज्ञो निषादः, न षड्जः। द्वाभ्याम् अन्तरस्वरत्वात्। —भरत०, बं० सं०, पृ० ४३७

निषाद जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति चढ़ता है तब 'कैशिकनिषाद' कहलाता है और षड्ज जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति उतर जाता है, तब 'च्युतषड्ज' कहलाता है। ये दोनों क्रियाएँ होने पर कैशिकनिषाद और च्युतषड्ज में दो श्रुतियों का अन्तर रह जाता है।[४]

गान्धार जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति चढ़ता है, तब 'साधारण गान्धार' कहलाता है और और जब मध्यम अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति उतर जाता है, तब 'च्युतमध्यम' कहलाता है। ये दोनों अवस्थाएँ सम्पन्न होने पर साधारण गान्धार और च्युतमध्यम में दो श्रुतियों का अन्तर रह जाता है।[५]

शार्ङ्गदेव ने इन चारों स्वर-साधारणों को क्रमशः अन्तर-साधारण, काकली-साधारण, षड्ज-साधारण एवं मध्यम-साधारण कहा है।[६]

प्रथम दो अवस्थाएँ, अन्तर-साधारण और काकली-साधारण एक स्वर में उत्पन्न विकार का परिणाम होती हैं, परन्तु 'षड्ज-साधारण' एवं 'मध्यम-साधारण' अवस्थाएँ दो-दो स्वरों की स्थान-विकृति का परिणाम हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक चतुःश्रुतिक स्वर की आदिम एवं अन्तिम श्रुतियों का परिमाण 'ग' है*, अर्थात् वे प्रमाणश्रुतियाँ हैं। षड्ज-साधारण में कैशिक-निषाद अपने शुद्ध स्थान से 'ग' अन्तर चढ़ा हुआ है और षड्ज अपने स्थान से 'ग' अन्तर उतरा हुआ है। इसी प्रकार मध्यम-साधारण में साधारण गान्धार अपनी शुद्ध स्थिति से एक 'ग' अन्तर चढ़ा हुआ है और मध्यम अपनी मूल स्थिति से एक 'ग' अन्तर उतरा हुआ है। 'ग' अन्तर ही 'केशाग्र' अन्तर है। षड्ज-साधारण एवं मध्यम-साधारण अवस्थाओं में स्वरों का अपने स्थान से एक 'ग' अन्तर हटना प्रयोग (गान-वादन क्रिया) की सूक्ष्मता का परिणाम है, इसी प्रयोगसूक्ष्मता के कारण इसे 'कैशिक' नाम दिया गया

४—निषादो यदि षड्जस्य श्रुतिमाद्यां समाश्रयेत्।
ऋषभस्त्वन्तिमां प्रोक्तं षड्जसाधारणं तदा।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १४९

५—मध्यमस्यापि गपयोरेवं साधारणं मतम्। " " " "

६—स्वरसाधारणं तत्र चतुर्धा परिकीर्तितम्॥
काकल्यन्तरषड्जैश्च मध्यमेन विशेषणात्। " " १४७

*देखिए, प्रथम अध्याय में श्रुतियों के परिमाण।

है।[7] षड्ज-साधारण का प्रयोग षड्जग्राम में और मध्यम-साधारण का प्रयोग मध्यम-ग्राम में होता है।

निम्नस्थ मण्डल-प्रस्तार में यह स्थिति स्पष्ट है।

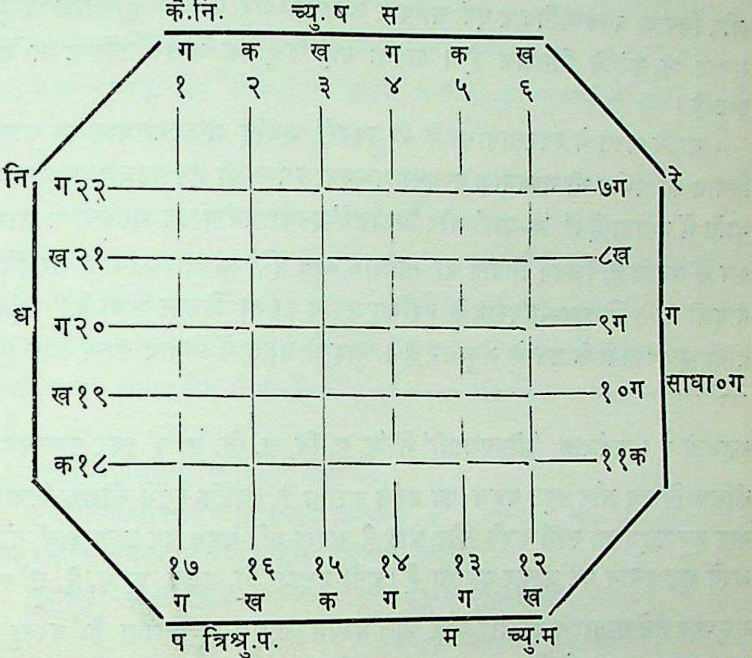

पहली श्रुति पर स्थित कैशिकनिषाद अपने मूलस्थान बाईसवीं श्रुति से एक 'ग' अन्तर चढ़ गया है और तीसरी श्रुति पर स्थित च्युत षड्ज अपने मूलस्थान चौथी श्रुति से एक 'ग' अन्तर उतर गया है।

दसवीं श्रुति पर स्थित साधारण गान्धार अपने मूल स्थान नवीं श्रुति से एक 'ग' अन्तर चढ़ गया है और बारहवीं श्रुति पर स्थित च्युतमध्यम अपने मूलस्थान तेरहवीं श्रुति से एक 'ग' अन्तर उतर गया है। *

७—साधारणोऽत्र स्वरविशेष इति षड्जसाधारणम्।
अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमिति नाम निष्पद्यते।
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३७

* यह केशाग्र अन्तर प्रयोग में व्यवहार्य स्वर-संगति का परिणाम है। मध्ययुग में उत्पन्न कुछ राग दोनों ग्रामों की थोड़ी-थोड़ी विशेषताओं को धारण करने के कारण 'द्विग्राम'

कैशिक निषाद और च्युत षड्ज में तथा साधारण गान्धार और च्युत मध्यम में प्राप्त होनेवाला द्विश्रुतिक अन्तर 'क, ख'; ऋषभ-गान्धार, धैवत-निषाद, काकली-निषाद-षड्ज और अन्तर गान्धार-मध्यम में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ख, ग' से और निषाद, काकलीनिषाद एवं गान्धार अन्तरगान्धार में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ग, क' से विलक्षण है। फलतः यह द्विश्रुतिक अन्तर अनिष्ट न होकर इष्ट है।

महर्षि भरत ने स्वरसाधारण के दो प्रकारों, अर्थात् अन्तरगान्धार एवं काकली-निषाद का प्रयोग भी मध्यमांश मध्यमा, पञ्चमांश पञ्चमी एवं षड्जांश षड्जमध्यमा जाति में बताया है।[८] 'कम्बल' और 'अश्वतर' इनका प्रयोग उन जातियों में सामान्य रूप से बताते हैं, जिनमें निषाद या गान्धार अल्प हों,[९] फलतः आचार्य शार्ङ्गदेव ने षाड्जी जाति में काकलीनिषाद के क्वचित् प्रयोग का जो विधान किया है,[१०] वह इन्हीं दोनों शास्त्रकारों के मत के अनुसार है। षाड्जी जाति में निषाद लोप्य स्वर है।

कहलाते थे। वर्तमान 'भीमपलासी' में 'म, प, नि, स, नि, ध, प' स्वर-समुच्चय हमें कैशिक निषाद और च्युत षड्ज का दर्शन कराता है, क्योंकि इसमें कैशिक निषाद के बाद हम षड्ज का स्पर्श करके लौट आते हैं, परन्तु यदि षड्ज पर ठहर जायँ, तो वह अपने शुद्ध स्थान पर जाकर ठहरता है। इसी प्रकार 'नि, स, ग, म, ग, रे, स' स्वर-समुच्चय हमें साधारण गान्धार और च्युत मध्यम का साक्षात् कराता है, परन्तु जब हम मध्यम पर ठहरते हैं, तब वह मध्यम अपने ठीक स्थान पर लगता है। यह प्रयोग तन्त्रीबोध्य है।

८—स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः।
मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च॥
आसामंगा (शा)स्तु विज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमाः।
यथास्वं .....

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३८

९—एतदल्पनिगास्वाहुः कम्बलाश्वतरादयः। —सं० र०, अ. सं०, स्वरा०, पृ० १७७

नाटचशास्त्र के मुद्रित संस्करणों में 'अस्याल्पनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोगः' पाठ प्रक्षिप्त है। शार्ङ्गदेव का उपर्युक्त कथन इस सम्बन्ध में प्रमाण है।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १९६

१०—पूर्णत्वे काकली क्वचित्।

जातियों में अन्तर स्वरों का प्रयोग आरोही में तथा अल्प करना चाहिए, अवरोही में अन्तर स्वरों (अन्तर गान्धार और काकली निषाद) का प्रयोग जातियों में सर्वथा निषिद्ध है।[११]

अन्तर स्वरों के प्रयोग की विधि इस प्रकार है—

षड्ज का उच्चारण करके क्रमशः काकली निषाद और धैवत का उच्चारण करना चाहिए अथवा 'षड्ज' एवं 'काकली' का उच्चारण करके पुनः षड्ज एवं उससे परवर्ती स्वरों का उच्चारण करना चाहिए।[१२]

इसी प्रकार मध्यम, अन्तर गान्धार, ऋषभ का उच्चारण या मध्यम, अन्तर गान्धार, मध्यम एवं उससे परवर्ती स्वरों का उच्चारण करना चाहिए।[१३]

कैशिक स्वरों (षड्ज-साधारण, मध्यम-साधारण) का उपयोग षड्जकैशिकी एवं कैशिकी जाति में क्रमशः होता है। षड्जकैशिकी षड्जग्रामीय जाति है, अतः उसमें षड्जसाधारण का प्रयोग होता है और कैशिकी मध्यमग्रामीय जाति है, फलतः उसमें मध्यमसाधारण का प्रयोग होता है।[१४]

११—अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः।
कार्यः स्वल्पविशेषेण नावरोही कदाचन॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ४३७

१२—प्रयोज्यौ षड्जमुच्चार्य्य काकलीधैवतौ क्रमात्। ....
षड्जकाकलिनौ यद्वोच्यार्य षड्जं पुनर्व्रजेत्। तत्परान्यतमं चैव—
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १४८

१३—एवं मध्यममुच्चार्य्य प्रयुञ्जीतान्तरर्षभौ।
..........मध्यमं चान्तरस्वरम्।
प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यस्तत्परान्यतमोऽथवा॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १४८

१४—यत्कैशिचदेते सम्प्रोक्ते कैशिके सूक्ष्मदृष्टिभिः।
साधारणेन तद्राजराजसम्मतिमर्हति॥
यतोऽभिनवगुप्तोक्तिरहस्यज्ञो क्षमाधिपः।
अन्यथैतद्वचोगुम्फयुक्तिव्याकरणं व्यधात्॥
कैशिकीषड्जकैशिक्यौ यतस्तत्त्वज्ञसम्मते।
एते कैशिकमाश्रित्य प्रवृत्ते ....।
क्षेत्रराजमतादेतत्स्वरसाधारणं स्फुटम्॥
—कुम्भ, भ० को०, पृ० ९६५

षड्ज-साधारण अवस्था में षड्ज की अन्तिम श्रुति ऋषभ के अधिकार-क्षेत्र में चली जाती है, फलतः ऋषभ चतुःश्रुतिक हो जाता है। मध्यम-साधारण अवस्था में मध्यम की अन्तिम श्रुति माध्यमग्रामिक पञ्चम ले लेता है, फलतः वह चतुःश्रुतिक हो जाता है।

कैशिक स्वरों की प्रयोगजन्य अवस्था को देखते हुए ही मूर्च्छना-विधान में कैशिक-स्वरयुक्त मूर्च्छनाएँ नहीं मानी गयी हैं,[१५] अपितु अन्तर एवं काकली में ही उनका अन्तर्भाव मान लिया गया है।[१६] इसके अतिरिक्त षड्ज-साधारण एवं मध्यम-साधारण का प्रयोग ग्रामविशेष में नियत होने के कारण मूर्च्छनाओं के साधारण (अन्तर-काकलीयुक्त) प्रकार-निरूपण के प्रसंग में षड्ज-साधारण एवं मध्यम-साधारण की चर्चा अनुपयोगी है, क्योंकि भरत ने स्पष्ट कहा है कि षड्ज-साधारण षड्जग्राम में और मध्यम-साधारण मध्यमग्राम में होता है। यह आचार्य-रहस्य असम्प्रदायज्ञ व्यक्तियों के लिए दुर्ग्रह है।[१७]

साधारण स्वरों का ग्रामविशेष में प्रयोग जाति-प्रकरण में है। रागों में अन्तर गान्धार एवं काकली-निषाद का प्रयोग किसी ग्रामविशेष तक सीमित नहीं रहता।

१५—षड्जमध्यमयोः साधारणीकृतयोः स्वरूपेण भेदकत्वे सम्भवत्यपि काकल्यन्तरयोः साधारणयोरन्तर्भूतत्वेन तयोः पृथग्भेदकत्वम्।

—आचार्य्य कल्लिनाथ, सं० र० टी०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०८

१६—साधारणस्वरौ निषादगान्धारवन्तौ तदादिविकृतास्तत्रैवान्तर्भूताः।

—मतङ्ग, कल्लिनाथोद्धृत, सं० र० टी०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०८

१७—किञ्च ग्रामद्वये मूर्च्छनासाधारणप्रकारभेदनिरूपणावसरे प्रतिनियतग्रामवर्तिनोः षड्जमध्यमसाधारणयोरनुपयोगाच्च। यथोक्तं भरतेन—'षड्जग्रामे षड्जसाधारणं मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणम्' इति।.......इत्याचार्यरहस्यमसंप्रदायविदुषां कृते दुर्ग्रहम्।

—आचार्य कल्लिनाथ, सं० र० टी०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०८

यहाँ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि अल्पनिषाद-गान्धार जातियों में अन्तरगान्धार एवं काकलीनिषाद का ही प्रयोग अभीष्ट है। षड्जसाधारण एवं मध्यमसाधारण के प्रयोग में निषाद और गान्धार की अल्पता वाञ्छनीय नहीं। षड्जसाधारण के प्रयोगस्थल षड्जकैशिकी जाति एवं मध्यमसाधारण के प्रयोगस्थल कैशिकी जाति में निषाद-गान्धार की अल्पता नहीं है।

नाट्यशास्त्र के मुद्रित संस्करणों में 'अस्याल्पनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोगः' पाठ प्रक्षिप्त है; शार्ङ्गदेव ने यह मत कम्बल और अश्वतर का बतलाया है और फलतः

स्वर-साधारण के विषय में कुछ परवर्ती विद्वानों ने कहा है कि जब श्रुति के उत्कर्ष से किसी स्वर का स्वरूप अस्फुट और लुप्त-सा हो जाता है, तब गीतज्ञ व्यक्ति उस स्थिति को स्वर-साधारण कहते हैं। षड्ज-पञ्चम एवं ऋषभ-धैवत की श्रुतियों का अत्युत्कर्ष (दो श्रुतियों का उत्कर्ष) नहीं होता। (षड्ज-पञ्चम के परवर्ती स्वर ऋषभ-धैवत त्रिश्रुतिक और ऋषभ-धैवत के परवर्ती स्वर गान्धार-निषाद द्विश्रुतिक हैं, अतः) अत्युकर्ष से षड्ज और पञ्चम में बेसुरापन उत्पन्न हो जाता है और अवधान-हीनता आ जाती है। ऋषभ और धैवत को दो श्रुति चढ़ाने पर क्रमशः गान्धार एवं निषाद में उनका संकर हो जायगा और पश्चाद्वर्ती स्वरों की अभिव्यक्ति नहीं होगी, फलतः अपनी शुद्ध अवस्था से दो श्रुति चढ़े हुए अन्तर-गान्धार एवं काकली-निषाद में दो श्रुतियों का स्फुट उत्कर्ष होता है।[१८]

अल्पनिषाद जाति 'षाड्जी' में काकली का भी विधान किया है। यह सत्य है कि मध्यमा, पञ्चमी तथा षड्जमध्यमा जातियाँ भी 'अल्पनिषाद-गान्धार' हैं, परन्तु भरत के द्वारा इन विशिष्ट जातियों के नामों का निर्देश इस बात का सूचक है कि षाड्जी जैसी अल्पनिषाद जाति में काकली-प्रयोग भरत को वाञ्छनीय नहीं। भरतोक्त तीनों जातियों की अल्पनिषाद-गान्धारता देखकर ही कम्बल और अश्वतर ने इस नियम की सीमा बढ़ाकर अन्य जातियों को भी इस नियम के क्षेत्र में सम्भवतः ले लिया है। फलतः षाड्जी में भरत के द्वारा अनुक्त काकलीविधान कम्बल और अश्वतर को सम्मत होने के कारण ही शार्ङ्गदेव को माननीय हुआ है।

"स्वरसाधारणं प्रोक्तं मुनिभिर्भरतादिभिः।
अंशेषु समपेष्वेतद् यथास्वं नियमाद् भवेत्।
एतदल्पनिगास्वाहुः कम्बलाश्वतरादयः॥"

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १७७

कहकर आचार्य शार्ङ्गदेव ने दोनों मतों का स्पष्टतया पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। फलतः यह सिद्ध है कि शार्ङ्गदेव को उपलब्ध नाटचशास्त्र में 'अस्याल्प-निषादगान्धारादिषु जातिषु प्रयोगः।' पाठ नहीं था। नाटचशास्त्र के मुद्रित संस्करणों में उपलभ्यमान यह पाठ प्रक्षिप्त है और अवसरानुकूल न होने के कारण असंगत है। इस पाठ ने अनेक विचारकों के समक्ष उलझन उपस्थित की है।

१८—यदा श्रुतिसमुत्कर्षात् स्वनो लुप्त इवास्फुटः।
गीतज्ञैर्गीयते ज्ञेयं स्वरसाधारणं तदा॥
अत्युत्कर्षस्तु सपयोर्न भवेद् रिधयोरपि।

उपर्युक्त विधान बाईसों श्रुतियों का प्रत्यक्षीकरण होने पर अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।

जाति-साधारण—

एक ग्राम में उत्पन्न समानांश जातियों में होनेवाला समान गान जाति-साधारण है।[१९] दत्तिल इत्यादि मनीषियों ने शुद्ध-कैशिक-मध्यम इत्यादि रागों को ही जाति-साधारण कहा है।[२०]

वैस्वर्याद् (र्य) व्यवधानाच्च (धानं च) श्रुतीनां तेन जायते ॥
गन्योस्तु ताभ्यां साङ्कर्य्ये स्वरव्यक्तिर्न लभ्यते ।
पारिशेष्यादतो गन्योः श्रुत्युत्कर्षः स्फुटो भवेत् ॥
—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ७१३

आधुनिक स्वरों पर पृथक् विचार किया गया है। यहाँ केवल इतना समझ लेना चाहिए कि कोमल धैवत और कोमल ऋषभ पञ्चम एवं षड्ज से 'क' 'ख' अन्तर पर स्थित, धैवत और ऋषभ की, दूसरी श्रुति पर नहीं उत्पन्न होते, न हो सकते हैं।

१९—(अ) 'जातिसाधारणमेकांशानां विशेषाज्जातीनां तु समवायात् ।'
—भरत०, ब० सं०, पृ० ४३७

(आ) एकग्रामोद्भवास्वेकांशासु जातिषु यद् भवेत् ।
समानं गानमार्य्यास्तं जातिसाधारणं जगुः ॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १५०

(इ) एकग्रामसमुत्पन्नास्वेकांशास्वपि जातिषु ।
यत्समं गानमार्य्यास्तज्जातिसाधारणं जगुः ॥
—पण्डित०, भ० को०, पृ० ७१७

(ई) एकांशोपचितास्वेकग्रामजेषु (जासु) च जातिषु ।
यद् गानं समतां प्राप्तं जातिसाधारणं तु तत् ॥
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० ९६६

२०—(अ) जातिसाधारणं केचिद् रागानेव प्रचक्षते ।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १५०

(आ) केचिद् रागा एव शुद्धकैशिकमध्यमादयो जातिसाधारणमित्याहुः ।
—सिंह०, सं० र०, अ० सं, स्वरा०, पृ० १५१

(इ) दत्तिलाद्याः पुनरिदं रागानेव प्रचक्षते ।
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० ९६६

(ई) रागानेवोचुरपरे जातिसाधारणं बुधाः ।
—पण्डित०, भ० को०, पृ० ९२१

षष्ठ अध्याय

राग

महर्षि भरत ने सात ग्रामराग गिनाये हैं, उनके प्रयोग के अवसर भी निर्दिष्ट किये हैं,[1] अन्तर स्वरों के प्रयोग से जातिरागों का जन्म भी बताया है[2], परन्तु 'राग' का लक्षण नहीं किया है। महर्षि ने ग्रामरागों को जाति से उत्पन्न वताया है।[3] उन्होंने यह भी कहा है कि लोक में जो कुछ गाया जाता है, वह सब कुछ जातियों में स्थित है।[4] वस्तुतः जातियों के विशद परिसंख्यान ने, जहाँ तिरसठ अंश हैं, तथा लक्षणविकृति से जहाँ जातियों के अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं, जातियों के क्षेत्र को इतना विस्तृत बना दिया है कि उसमें किसी भी 'राग' का अन्तर्भाव हो सकता है।

१—मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत्।
गर्भे साधारितश्चैव अवमर्शे तु पञ्चमः॥
संहारे कैशिकः प्रोक्तः पूर्वरङ्गे तु षाडवः।
चित्रस्याष्टादशांगस्य त्वन्ते कैशिकमध्यमः।
शुद्धानां विनियोगोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः॥
—भरत०, भ० को०, पृ० ५४२

२—जातिरागं श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वराः।
—भरत०, व० सं०, पृ० ४३७

३—नन्वेते रागा ग्रामविशेषसंवद्धा इति कुतोऽयं विशेषलाभः?
उच्यते, भरतवचनादेवासौ विशेषो लभ्यते। तथा चाह भरतमुनिः—
'जातिसम्भूतत्वाद् ग्रामरागाणाम्' इति।
—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, १०८

४—यत्किञ्चिद् गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम्।
—भरत०, " " "

षड्ज इत्यादि स्वरों और स्थायी इत्यादि वर्णों से विभूषित वह ध्वनिविशेष राग है, जिससे मनुष्यों के मन का रञ्जन होता हो[५]। विशिष्ट स्वर, वर्ण (गानक्रिया) से अथवा ध्वनिभेद के द्वारा जो जन-रञ्जन में समर्थ है, वह राग है।[६] जो राग स्थायी, आरोही, अवरोही, सञ्चारी वर्णों से शोभन हों, वह सब कुछ (वर्णचतुष्टय) जहाँ दिखाई देता हो, वे राग कहे गये हैं।[७] जिनके द्वारा तीनों लोकों में विद्यमान प्राणियों के हृदय का रञ्जन होता है, भरत इत्यादि मुनियों ने उन्हें राग कहा है।[८]

रञ्जन के कारण ही राग की संज्ञा 'राग' है, यही राग की व्युत्पत्ति है।[९] राग शब्द 'अश्वकर्ण' जैसे शब्दों के समान रूढ, 'मन्थ' इत्यादि शब्दों के समान यौगिक अथवा 'पंकज' शब्द के समान योगरूढ है।[१०] यदि किसी व्यक्ति को कोई राग नहीं भाता, तो वह राग उसके लिए रञ्जक नहीं, परंतु उस अरञ्जक राग को भी रूढि के कारण राग ही कहा जाता है।[११]

५—योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविशेषितः ।
रञ्जको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः ।।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२१

६—स्वरवर्णविशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः ।
रज्यते येन यः कश्चित् स रागः सम्मतः सताम् ।।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२१

७—चतुर्णामपि वर्णानां यो रागः शोभनो भवेत् ।
स सर्वो दृश्यते येषु तेन रागा इति स्मृताः ।।
—काश्यप, कल्लि०, सं० टी०, अ. सं०, राग०, पृ० ६-७

८—यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्तिनाम् ।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः ।।
—शुभङ्कर, भ० को०, पृ० ९२२

९—इत्येवं रागशब्दस्य व्युत्पत्तिरभिधीयते ।
रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता ।।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२३

१०—अश्वकर्णादिवद् रूढो यौगिको वापि मन्थवत् ।
योगरूढोऽथवा रागो ज्ञेयः पंकजशब्दवत् ।।
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २

११—रागशब्दस्य केवलरूढत्वं तु येन केनचिद् रागेण यः कश्चन न रज्यते, तं प्रति तस्यारञ्जकत्वात् 'अयं रागो मह्यं न रोचते' इति तद्वाक्यप्रयोगे द्रष्टव्यम् ।

जातियाँ वास्तव में 'मूल राग' हैं जिनमें विकार होने से अनेक रागों का जन्म होता है। जातियों के दस लक्षणों में प्रमुख लक्षण 'अंश' का वर्णन करते हुए उसके लक्षण में महर्षि ने कहा है कि राग का जिसमें निवास होता है और राग जिस स्वर से प्रवृत्त होता है. . .वह अंशस्वर है।[१२] इससे यह सिद्ध है कि महर्षि जातियों को भी 'राग' ही मानते हैं। ग्रामराग जातियों या मूल रागों से उत्पन्न अथवा उनके विकृत रूप हैं। महर्षि के कथन के अनुसार यदि अन्तर स्वरों का प्रयोग अवरोह में भी हो, तो जातियाँ 'जातिराग' हो जाती हैं।[१३]

यहाँ हमारे विचार का प्रधान विषय महर्षि के द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित सात शुद्ध राग हैं[१४]—

१—मध्यमग्राम (मध्यमग्रामीय)
२—षड्जग्राम (षड्जग्रामीय)
३—साधारित (षड्जग्रामीय)
४—पञ्चम (मध्यमग्रामीय)
५—कैशिक (मध्यमग्रामीय)
६—षाडव (मध्यमग्रामीय)
७—कैशिक मध्यम (षड्जग्रामीय)

(१) मध्यमग्राम

कश्यप का कथन है—

गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी जाति से मध्यमग्राम नामक राग का जन्म हुआ है। इसमें षड्ज अंशस्वर और मध्यम न्यासस्वर होता है।[१५]

शार्ङ्गदेव का विधान है—

१२—रागस्तु यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते । —भरत०, ब० सं०, पृ० ४३३

१३—अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः ।
कार्यः स्वल्पविशेषेण नावरोही कदाचन ॥
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहुः ।
जातिरागं श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वराः ॥ —भरत०, ब० सं०, ४३७

१४—देखिए, संकेत १

१५—गान्धारीमध्यमाजात्योः सपञ्चम्योः समुत्थितः ।
षड्जांशो मध्यमग्रामो मध्यमो न्यास एव च ॥ —कश्यप, भ० को० ४६५

"मध्यमग्राम राग का विनियोग हास्य एवं शृङ्गार में है। यह राग गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी जातियों से मिलकर उत्पन्न हुआ है। काकली-निषाद का प्रयोग इसमें विहित है। इस राग का अंश-ग्रह स्वर मन्द्र षड्ज, न्यास स्वर मध्यम और मूर्च्छना (मध्यमग्रामीय मध्यमादि) 'सौवीरी' है। 'प्रसन्नादि' और 'अवरोही' के द्वारा मुखसन्धि में इसका विनियोग है। यह राग ग्रीष्मऋतु के प्रथम प्रहर में सदा रञ्जक है।"[१६]

आलाप

सां नीधापांधां धांधरि। गांसां। रिगानीसां। सगपांपपप निनिपनि सां सां गपसानिधनिनि निरिगासा। पां मं पं निधामा।

करण

निनिपपगंगंसंसंरिगं। निं सं सासा। संसंगंगंपंपंधंधं मधनिसनिध पापापापा पनी पनी सांसांसां गागासागासनी धनीनीनिनिरिगांसांसांपांपामापानिध पामामा।

पद

अमरगुरुममरपतिमजयं
जितमदनं सकलशशितिलकम्।
गणशतपरिवृतमशुभहरं
प्रणमत सितवृषरथगमनम्॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सां	सां	गां	गां	पां	पां	मा	मा
	पद	अ	म	र	गु	रु	म	म	र

१६—गान्धारीमध्यमापञ्चम्युद्भवः काकलीयुतः।
मन्यासो मन्द्रषड्जांशग्रहः सौवीरमूर्च्छनः॥
प्रसन्नाद्यवरोहिभ्यां मुखसंधौ नियुज्यते।
मध्यमग्रामरागोऽयं हास्यशृंगारकारकः॥
ग्रीष्मेऽह्नः प्रथमे यामे ध्रुवप्रीत्यै......। —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ५९

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गां	मा	मां	मा	धा	नी	सां	सा
	पद	प	ति	म	ज	यं	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सां	सां	मां	मां	पां	पां	सां	सां
	पद	जि	त	म	द	नं	स	क	ल
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	नी	सा	सां	सां	सां	सां
	पद	श	शि	ति	ल	कं	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नीं	नीं	नीं	नीं	धा	पा	मा	मा
	पद	ग	ण	श	त	प	रि	वृ	त
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गां	मां	गां	मां	धा	नी	सा	सा
	पद	म	शु	भ	ह	रं	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नीं	रें	गां	नीं	सां	सां	पां	पां
	पद	प्र	ण	म	त	सि	त	वृ	ष
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	निध	पा	मा	मा	मा	मा
	पद	र	थ	ग	म	नं	–	–	–

उपर्युक्त आक्षिप्तिका में 'सं, रें, गं, मं, पं, धं, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि' इन चौदह स्वरों का उपयोग हुआ है। मध्यमादि मूर्च्छनायुक्त अठारह सारोंवाली किन्नरी के चौथे पर्दे से सत्रहवें पर्दे तक ये चौदहों स्वर मिल जायँगे।

इस राग में 'ग, रि, स, नि, ध, प, म' अवरोही वर्ण प्रयुक्त हो सकता है, तदनन्तर 'मां मां मां' के रूप में प्रसन्नादि अलंकार सम्मिलित किया जा सकता है।

आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरों की संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अंश)	१९
ऋषभ		२
गान्धार		७
मध्यम	(अंश, संवादी, न्यास)	१५
पञ्चम		८
धैवत		४
निषाद		१०

(२) षड्जग्राम

कश्यप का कथन है—

"षड्जग्राम षाड्जी और षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न सम्पूर्ण राग है। इसमें अंशस्वर षड्ज और न्यासस्वर मध्यम है।"[१७]

शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"षड्जग्राम नामक राग षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है, सम्पूर्ण राग है। इसका ग्रह एवं अंशस्वर तार षड्ज है, न्यासस्वर मध्यम है, अपन्यास स्वर षड्ज है, अवरोही और प्रसन्नान्त अलंकार इसमें प्रयोज्य हैं। इसकी मूर्च्छना षड्जादि (उत्तर-मन्द्रा) है, इसमें काकली-निषाद एवं अन्तर-गान्धार का प्रयोग होता है, वीर, रौद्र, अद्भुत रसों में, (नाटक की) प्रतिमुख (सन्धि) में इसका विनियोग है। इस राग का देवता वृहस्पति है और वर्षाऋतु, दिन के प्रथम प्रहर में यह गेय है।"[१८]

१७—षड्जांशो मध्यमन्यासः स्यात् षाड्जीषड्जमध्ययोः।
षड्जग्राम इति प्रोक्तः सम्पूर्णस्वरकस्तथा॥ —कश्यप० भ० को०, पृ० ६८८

१८—षड्जमध्यमया सृष्टस्तारषड्जग्रहांशकः।
सम्पूर्णो मध्यमन्यासः षड्जापन्यासभूषितः॥

आलाप

संसं (स स)* री गधगरिस सनिंधापाधाधारीगासां। री गा सा सग पनि धनिस सा सा। गसरिग पधनिप मामा।

करण

रींरीं गाधा गरि सासा नींधपापा। रींरीं गध परि सा सा सा सा। सा सा गानिधा रीरीगा। धा गारी सा सा निधपापा। री री पापा निधनि सा सा सा। सरि सरि पधनिध पमामामामा।

पद

स जयतु भूताधिपतिः
परिकरभोगीन्द्रकुण्डलाभरणः।
गजचर्मपटनिवसनः
शशाङ्कचूडामणिः शम्भुः ॥

आक्षिप्तिका—ताल चञ्चत्पुट

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रें	रे	गा	सा	गा	रे	गा	सा
	पद	स	ज	य	तु	भू	—	ता	—

अवरोहिप्रसन्नान्तर्भूषः षड्जादिमूर्च्छनः।
काकल्यन्तरसंयुक्तो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे ॥
विनियुक्तः प्रतिमुखे वर्षासु गुरुदैवतः।
गेयोऽह्नः प्रथमे यामे षड्जग्रामाभिधो बुधैः ॥

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २६–२७

* लक्षण में तार षड्ज को इस राग का अंश एवं ग्रहस्वर माना गया है। रत्नाकर के मुद्रित संस्करणों में इसके आलाप का आरम्भ मन्द्र षड्ज से हुआ है, जो हमारी दृष्टि में लिपिक के प्रमाद का परिणाम है।

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	धा	पा	पा	रे	रे	गा	धा
	पद	धि	प	तिः	–	प	रि	क	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	रे	सा	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	भो	–	गीं	द्र	–	कुं	–	ड
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	गा	धनि	नी	नी	नी	नी
	पद	ला	–	भ	र	णः	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रिग	धा	धा	गा	गरि	सा	सा
	पद	ग	ज	च	–	मं	प	ट	नि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	धा	पा	पा	रे	रे	पा	पा
	पद	व	स	नः	–	श	शां	–	क
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	नी	सा	सा	सा	सा	रिसरि
	पद	चू	–	डा	म	णिः	–	–	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	धा	निध	पा	मां	मां	मां	मां
	पद	शं	–	–	–	भुः	–	–	–

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अंश, ग्रह, अप०)	१७
ऋषभ		१२
गान्धार		१०
मध्यम	(न्यास)	४
पञ्चम		८
धैवत		९
निषाद		१०

प्रस्तुत राग का आलाप ग्रहस्वर षड्ज से आरम्भ हुआ है और न्यासस्वर मध्यम पर उसकी समाप्ति हुई है, जो न्यासस्वर है। करण और आक्षिप्तिका का आरम्भ अंशस्वर से न होकर ऋषभ से हुआ है, जो करण एवं आक्षिप्तिका को प्रयोग का अनिवार्य अङ्ग सिद्ध करता है। जातियों के प्रस्तार सदा ग्रहस्वर से आरम्भ हुए हैं, परन्तु रागों की आक्षिप्तिकाओं में ग्रहस्वर से आरम्भ करने का अनिवार्य बन्धन नहीं। करण और आक्षिप्तिका की समाप्ति न्यासस्वर पर ही हुई है।

(३) साधारित (शुद्ध साधारित)

शार्ङ्गदेव का कथन है—

"शुद्ध साधारित राग षड्ज-मध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है, तार षड्ज इसका ग्रह एवं अंशस्वर है, निषाद और गान्धार का प्रयोग इस राग में अल्प है, इस राग का न्यासस्वर मध्यम है। यह राग सम्पूर्ण है और इसकी मूर्च्छना षड्जादि (उत्तरमन्द्रा) है। अवरोही प्रसन्नान्त से अलंकृत है, इसका देवता सूर्य है, दिन के प्रथम प्रहर में वीर, रौद्र रस में गेय है। गर्भसन्धि में इसका विनियोग है।"[१९]

१९—षड्जमध्यमया जातस्तारषड्जग्रहांशकः ।
निगाल्पो मध्यमन्यासः पूर्णः षड्जादिमूर्च्छनः ॥
अवरोहिप्रसन्नान्तालंकृतो रविदैवतः ।
वीरे रौद्रे रसे ज्ञेयः प्रहरे वासरादिमे ।
विनियुक्तो गर्भसन्धौ शुद्धसाधारितो बुधैः ॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १९-२०

मोक्षदेव कहते हैं—

"शुद्ध साधारित सम्पूर्ण राग है, षड्ज इसमें अंश एवं ग्रहस्वर है, निषाद-गान्धार अल्प हैं, न्यासस्वर मध्यम है, यह राग षड्ज-मध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है।"[२०]

आलाप*

सा पा धां रीपापाधारी पाधा सासापाधानीधा पामांमां रींपा धारीं पाधारीं पाधा पाधापापा सासा मा। सा गा री मा। मगरि सासा सरिग पाधारीपाधारीपाधापाधा-सासा सारीगामाधापानीधापानीधापा सां सां।

करण

सस‡ पप धध रिरि पप धस साम्† २ (सस पध धध रिरि पप धस साम्)। रिरि पप धनि पप रिप धस सा सा २ (रिरि पप धनि पप रिप धस सा सा)। सस धध मंमं गारी गंमं रिग मम मगरिग सासा २ सस धस रिंगं सासा पाधा निधप मंमं।

पद

उदयगिरिशिखरशेखरतुरगखुरक्षत विभिन्न घनतिमिरः।
गगनतलसकलविलुलितसहस्रकिरणो जयतु भानुः॥

आक्षिप्तिका—ताल चञ्चत्पुट

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	धा	नी	पा	पा	पा	पा
	पद	उ	द	य	गि	रि	शि	ख	र

२०—सांशग्रहो निगाल्पः स्यात् षड्जमध्यमया कृतः।
संपूर्णो मध्यमन्यासः शुद्धसाधारितो मतः॥ ——मोक्ष० भ० को०, पृ० ६७१

* प्रस्तुत आलाप और करण कल्लिनाथ की टीका के अनुसार शुद्धीकृत रूप में है।

‡ यह 'सा' के सानुस्वार उच्चारण का रूप है। 'दो' का चिह्न जिस स्वरसमूह के पुनरुच्चारण का सूचक है, वह कोष्ठक में पुनः लिख दिया गया है।

† यहाँ ग्रह तारषड्ज से होना चाहिए।

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	धा	नी	नी	रीं	रीं	पा	पा
	पद	शे	ख	–	र	तु	र	ग	खु
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	पा	पा	पा	धा	नी	पा	मा
	पद	र	–	क्ष	त	वि	भि	–	न्न
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	मा	धा	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	ध	न	ति	मि	रः	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि.०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	सा	धा	सा	रे	गा	सा
	पद	ग	ग	न	त	ल	स	क	ल
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	वि	लु	लि	त	स	ह	–	स्र
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु.	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	मा	धा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	कि	र	–	णो	ज	य	–	तु
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	धा	निध	पा	मा	पा	मा	मा
	पद	भा	–	–	–	नुः	–	–	–

आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरों की संख्या इस प्रकार है --

षड्ज	(अंश)	१४
ऋषभ		५
गान्धार	(अल्प)	२
मध्यम	(न्यास)	७
पञ्चम	(अंश-संवादी)	१९
धैवत		१३
निषाद	(अल्प)	५

(४) पञ्चम (शुद्ध पञ्चम)

कश्यप का कथन है --

"शुद्ध पञ्चम, राग मध्यमा और पञ्चमी जातियों से मिलकर उत्पन्न हुआ है, इसमें अंश एवं न्यासस्वर पञ्चम है। गान्धार और निषाद इसमें स्वल्प हैं।"[२१]

शार्ङ्गदेव कहते हैं --

"यह राग मध्यमा और पञ्चमी जातियों से उत्पन्न हुआ है, इसमें काकलीनिषाद एवं अन्तरगान्धार का प्रयोग है, इसका अंश, ग्रह एवं न्यास स्वर मध्य सप्तक का पञ्चम है, इसकी मूर्च्छना हृष्यका है, देवता कामदेव है, संचारी वर्ण इसमें शोभा देता है। ग्रीष्म ऋतु, दिन के प्रथम प्रहर में गेय है, अवमर्श सन्धि में इसका विनियोग है।"[२२]

आलाप

पाधा मांधा नीधापापा। पधनीरिमपधामा धनि ध पापारींगां सांसां। मांपमागां रींरीं। रींमांपधा मा पनिधपापा। सांगां नीधा पप निरी मां पाधामाध निध पापा।

२१--मध्यमापञ्चमीजात्योःसम्भूतः शुद्धपञ्चमः।
अंशोऽस्य पञ्चमो न्यासस्स्वल्पद्विश्रुतिकस्वरः॥
--कश्यप, भ० को०, पृ० ६६६

२२--मध्यमापञ्चमीजातः काकल्यन्तरसंयुतः।
पञ्चमांशग्रहन्यासो मध्यसप्तकपञ्चमः।
हृष्यकामूर्च्छनोपेतो गेयः कामादिदैवतः।
चारुसञ्चारिवर्णश्च ग्रीष्मेऽह्नः प्रहरेऽग्रिमे।
शृङ्गारहास्ययोः संधाववमर्शे प्रयुज्यते॥
--सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ९५

करण

पापधपधमधधनिध पापा । पापाधनि रिगपापा मधनिध पापा पपधनि। रीरी गंगं संसं गग रींरीं रींरीं मम पप धम धध निध पा।

पद

जय विषमनयन मदनतनुदहन
वरवृषभगमन पुरदहन ।
नतसकलभुवन सितकमलवदन
भव मम भयहर भव शरणम् ॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सां	सां	सां	सां	रीं	रीं	गां	सां
	पद	ज	य	वि	ष	म	न	य	न
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	गा	पम	गा	रीं	रीं	रीं	रीं
	पद	म	द	न	त	नु	द	ह	न
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मां	सां	सां	सां	रीं	रीं	गां	सां
	पद	व	र	वृ	ष	भ	ग	म	न
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	गां	पम	गा	रीं	रीं	रीं	रीं
	पद	पु	र	द	ह	न	—	—	—
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	रीं	रीं	मां	मां	पा	मा	धा	मा
	पद	न	त	स	क	ल	भु	व	न
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	धा	सां	सां	नी	धा	पा	मा
	पद	सि	त	क	म	ल	व	द	न
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धां	नीं	रीं	मां	रीं	मां	पा	पा
	पद	भ	व	म	म	भ	य	ह	र
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	मां	धा	नीं	पा	पा	पा	पा
	पद	भ	व	श	र	णं	—	—	—

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरों की संख्या निम्नलिखित है —

षड्ज	११
ऋषभ	१६
गान्धार	६
मध्यम	१४
पञ्चम (अंश)	१०
धैवत	६
निषाद	३

(५) कैशिक (शुद्ध कैशिक)

शार्ङ्गदेव का कथन है —

"शुद्ध कैशिक राग कार्म्मारवी एवं कैशिकी जाति से उत्पन्न हुआ है, इसमें अंश एवं ग्रहस्वर तार षड्ज है, न्यासस्वर पञ्चम है, काकलीनिषाद का प्रयोग होता है। अवरोही वर्ण एवं प्रसन्नान्त अलंकार से विभूषित है और सम्पूर्ण राग है। इसकी मूर्च्छना षड्जादि (शुद्धमध्या) है। वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस में प्रयोज्य है, शिशिर

ऋतु में गेय है, इसका देवता मङ्गल है। दिन के प्रथम प्रहर में व्यवहार्य है और निर्वहण सन्धि में इसका विनियोग है।"[२३]

मोक्षदेव कहते हैं ––

"शुद्ध कैशिक कार्म्मारवी एवं कैशिकी जाति से उत्पन्न हुआ है, इसका न्यास पञ्चम है, इसमें काकलीनिषाद का प्रयोग है, सम्पूर्ण राग है और वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस में इसका विनियोग है।"[२४]

आलाप

सां*सां गामा गारी गामां सांनी सांरी साधा माधा माधा नीधा पामा गामा पापा।

वर्तनी

सांसांसांसां रीरीसासारीरी गागा सांसांसांसां मामा गारी गारी सासारीरी पनि सासासासा रीरी मामा पापाधामा मामाधानी सासासासा रीरीगामा सासापापा धामागामा पामा पापापापा।

पद

अग्निज्वालाशिखाकेशि
मांशशोणितभोजिनि ।
सर्वाहारिणि निर्मांसे
चर्म्ममुण्डे नमोऽस्तु ते ॥

२३–कार्मारव्याश्च कैशिक्याः सञ्जातः शुद्धकैशिकः।
तारषड्जग्रहांशश्च पञ्चमान्तः सकाकली ॥
सावरोहिप्रसन्नान्तः पूर्णः षड्जादिमूर्च्छनः ।
वीररौद्राद्भुतरसः शिशिरे भौमवल्लभः ।
गेयो निर्वहणे यामे प्रथमेऽह्नो मनीषिभिः ॥
––सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ८२

२४–कार्मारव्याश्च कैशिक्यास्तारषड्जग्रहांशकः ।
पन्यासः काकलीयुक्तो विज्ञेयश्शुद्धकैशिकः ।
वीररौद्राद्भुतरसः संपूर्णस्वरको मतः ॥ ––भ० को०, पृ० ६६४

* यहाँ सां (तारषड्ज) से ग्रह होना चाहिए।

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	सा	सा	नी	धा
	पद	अ	–	ग्नि	–	ज्वा	–	ला	शि
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	सा	री	मा	सा	री	गा	मा
	पद	खा	–	के	–	शि	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	गा	री	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	मां	–	–	–	स	शो	–	णि
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	सा	सा	नी	सा	नी	नी
	पद	त	भो	–	–	–	जि	नि	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	गा	री	मा	मा	पा	पा
	पद	स	–	र्वा	–	हा	–	रि	णि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नी	पा	मा	धा	मा	धा	सा
	पद	नि	–	र्मां	–	से	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	सा	सा	नी	धा	पा	पा
	पद	च	–	–	र्मं	मुं	डे	न	–

८ ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	धा	नी	गा	मा	पा	पा	पा	पा
पद	मो	–	–	स्तु	ते	–	–	–

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अंश)	२५
ऋषभ		४
गान्धार		४
मध्यम		९
पञ्चम	(न्यास)	९
धैवत		६
निषाद		७

(६) षाडव (शुद्ध षाडव)

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षाडव राग मध्यमा जाति के विकृत रूप से उत्पन्न हुआ है, इसमें गान्धार एवं पञ्चम दुर्बल हैं, मध्यम न्यास एवं अंशस्वर है, तार मध्यम इसका ग्रहस्वर है, इसमें काकलीनिषाद एवं अन्तरगान्धार का प्रयोग होता है, इसकी मूर्च्छना मध्यमादि है, अवरोही इत्यादि (सञ्चारी) वर्ण एवं प्रसन्नान्त अलंकार इसके विभूषक हैं, पूर्वरङ्ग में इसका विनियोग है, यह हास्य और शृंगार रस का दीपक है, पूर्व प्रहर में गया है और शुक्र इसका देवता है।"[२५]

मध्यमा के विकृत रूप की व्याख्या करते हुए मोक्षदेव ने कहा है कि जातियों में मध्यस्थानीय अंशस्वर ही ग्रहस्वर होता है, तार अंशस्वर से ग्रहण ही मध्यमा जाति का (इस प्रसंग में) विकार है।[२६]

२५–विकारिमध्यमोद्भूतः षाडवो गपदुर्बलः। न्यासांशमध्यमस्तारमध्यमग्रहसंयुतः॥
काकल्यन्तरयुक्तश्च मध्यमादिकमूर्च्छनः। अवरोह्यादिवर्णेन प्रसन्नान्तेन भूषितः॥
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यो हास्यशृङ्गारदीपकः। शुक्रप्रियः पूर्वयामे..........॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ ६३–६४

२६–लक्षणेनेह केनेयं विकृता मध्यमा भवेत्। तारमन्द्रावधिर्यस्मात्तदंशाभ्यामुदाहृतः॥
तस्मान्मध्यग्रहेणैव गातव्यं (व्या) जातयो यतः। तारमध्यग्रहेणेयं विकृता मध्यमा मतः (ता)॥
—भ० को०, पृ० ६७१

मतङ्ग का कथन है कि अन्य छः रागों की अपेक्षा मुख्य होने के कारण इसका विनियोग पूर्वरङ्ग में है, इस मुख्यता के कारण ही इसे 'षाडव' कहा गया है। इस षाडव का अर्थ 'षट्स्वर' नहीं, क्योंकि यह राग सप्तस्वर होता है और इसका षट्स्वर होना सम्भव नहीं।[२७]

आलाप

मां* सारी नीधा साधानी माधा सारीगां धां सां धांमांरिगामां माधामारी गारी-नीधा सांधानीमांमां।

करण

ममरिग मम सस धनि सस धनि मां मां पपपपनि धममध धससरि गांगामां-रिगामांमां।

वर्तनिका

साधनि पध मारि मानि धधाधधससरि मासासाधनी धपमां मां गारी गारी गासामाधामां गांरीगा गमारिगा सांसाधनी मां धनि धगसाधनि मां मां मां।

पद

पृथुगंडगलितमदजल-
मतिसौरभलग्नषट्पदसमूहम्।
मुखमिन्द्रनीलशकलै-
र्भूषितमिव गणपतेर्जयतु॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मां	मां	धां	धां	सा	धा	नी	पा
	पद	पृ	थु	गं	—	ड	ग	लि	त

२७—अस्य च व्युत्पत्तिः कथिता मतङ्गेन—'षट्सु रागेषु मुख्यत्वात् षाडवः, सप्तस्वरत्वेन षट्स्वरत्वासम्भवात्। ननु कथं षट्सु रागेषु मुख्योऽयम्? उच्यते—'पूर्वरङ्गे तु शुद्धषाडवः प्रयोक्तव्यः' इति वचनादिति।

—सिंह०, सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ६४

* यहाँ तारमध्यम से ग्रह होना चाहिए।

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नीं	मां	मां	मां	री	मां	री
	पद	म	द	ज	ल	म	ति	सौ	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धां	नीं	सां	सां	गा	रिग	धा	धा
	पद	र	भ	ल	–	ग्न	–	षट्	प
४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	धा	सा	मग	मां	मां	मां	मां
	पद	द	स	मू	–	हं	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मग	री	गा	मा	मा	मा	पम	गा
	पद	मु	ख	मिं	–	द्र	नी	–	ल
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	री	गा	सां	सां	मां	मां	मां	मां
	पद	श	क	लै	–	भूं	षि	–	त
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धां	नी	धां	सां	सां	सां	सा
	पद	मि	व	ग	ण	प	ते	–	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	री	री	गा	मां	मां	मां	मां
	पद	–	–	र्जं	य	तु	–	–	–

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरों की संख्या इस प्रकार है —

षड्ज		११
ऋषभ		७
गान्धार	(दुर्बल)	९
मध्यम	(अंश, न्यास)	२४
पञ्चम	(दुर्बल)	२
धैवत		१०
निषाद		५

(७) कैशिकमध्यम (शुद्ध कैशिकमध्यम)

शार्ङ्गदेव का कथन है —

"यह राग षड्जमध्यमा और कैशिकी जाति से उत्पन्न है। ऋषभ-पञ्चम इस राग में वर्जित हैं। इसका अंश एवं ग्रहस्वर षड्ज एवं न्यासस्वर मध्यम है। प्रसन्नान्त अलंकार, अवरोही वर्ण एवं आद्य (उत्तरमन्द्रा) मूर्च्छना से युक्त है। इसमें गान्धार अल्प है और निषाद काकली है। वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस में इसका प्रयोग करना चाहिए। यह चन्द्रप्रिय राग है, इसका गान (दिन के) पूर्व प्रहर में होना चाहिए और निर्वहण सन्धि में इसका विनियोग है।"[२८]

मोक्षदेव का कथन है —

"शुद्ध कैशिकमध्यम कैशिकी और षड्जमध्यमा से उत्पन्न हुआ है। तार षड्ज इसका ग्रह एवं अंशस्वर है, न्यासस्वर मध्यम है, ऋषभ-पञ्चम इसमें वर्जित हैं, गान्धार अल्प है, निषाद काकली है, वीर, अद्भुत और रौद्र रस में इसका विनियोग है।"[२९]

२८—षड्जमध्यमया सृष्टः कैशिक्या च रिपोज्झितः।
तारसांशग्रहो मान्तः शुद्धकैशिकमध्यमः।
प्रसन्नान्तावरोहिभ्यामाद्यमूर्च्छनया युतः॥
गान्धाराल्पः काकलीयुग्वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
चन्द्रप्रियः पूर्वयामे संधौ निर्वहणे भवेत्॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ७६

२९—कैशिकीषड्जमध्याभ्यां तारषड्जग्रहांशकः।
मन्यासः स्यात् रिपत्यक्तो गान्धाराल्पः सकाकलिः।
रसे वीरेऽद्भुते रौद्रे शुद्धकैशिकमध्यमः॥ —भ० को०, पृ० ६६५

आलाप

सां*धांमां धां सनि धसनी सां सां । सा धानी मां मां सां गां सां गां माधा माधा सां निध सनि सां सां धांमां मधमगागमा सासाधामासगासागामाधास निध सांनी सां सासाधानी मा मां ।

करण

ससममधधममधसनिधसासांसांसां । संसंगंम गमं मधमसानिधसां सां सां सां धंधं मंमं धम सगसगमस गग धध सस गंसं मम धमध सधनि मामा मामा ।

पद

ओङ्कारमूर्तिसंस्थं
मात्रात्रयभूषितं कलातीतम् ।
वरदं वरं वरेण्यं
गोविन्दकसंस्तुतं वन्दे ॥

आक्षिप्तिका–चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सां	सां	धा	पा(मा?)	मा	धां	पां(मां?)	मां
	पद	ओं	–	का	–	र	मू	–	र्ति
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पा(मा?)	मा	पा(मा?)	री(नी?)		मा	मा
	पद	सं	–	स्थं	–	मा	–	त्रा	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	मा	नी	धा	नी	सां	सां
	पद	त्र	य	भू	–	षि	तं	–	क

---

* यहाँ ग्रहस्वर तारषड्ज होना चाहिए।

४	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	धा	नी	सां	सां	सां	सां	सां
	पद	ला	–	ती	–	तं	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	मां	मां	री(नी?)	री(नी?)	सा	सा
	पद	व	र	दं	–	व	रं	–	व
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	धा	मा	मा	गां	गां	मां	गां
	पद	रे	–	ण्यं	–	गो	–	विं	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	मा	नी	धा	नी	सा	सा
	पद	द	क	सं	–	स्तु	–	तं	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धां	सा	धां	नी	मां	मां	मां	मां
	पद	वं	–	–	–	दे	–	–	–

'?' चिह्नित स्थलों पर 'पा' के स्थान 'मा' तथा 'री' के स्थान पर 'नी' होना चाहिए। प्रस्तुत मूल पाठ लिपिकदोष का परिणाम प्रतीत होता है। इस राग में 'ऋषभ-पञ्चम' का परिहार लक्षणसिद्ध है। आलाप और करण में भी इन दोनों स्वरों का प्रयोग नहीं।

हमारी दृष्टि से आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरों की संख्या निम्नस्थ है—

षड्ज	१४
ऋषभ	०
गान्धार	३
मध्यम	२०

पञ्चम	०
धैवत	१४
निषाद	१३

ग्रामरागों के प्रकार

ग्रामरागों के पाँच प्रकार हैं; शुद्ध, भिन्न, गौड, वेसर और साधारण। भिन्न रागों के भी श्रुतिभिन्न, जातिभिन्न, शुद्धभिन्न और स्वरभिन्न ये चार भेद होते हैं।

(१) **शुद्ध**--

जो राग अन्य जातियों की अपेक्षा न करके अपनी जाति का अनुवर्तन करते हैं और उसी के उद्द्योतक होते हैं, वे शुद्ध कहलाते हैं।[३०]

(२) **भिन्न**--*

(अ) **स्वरभिन्न**--किसी राग के वादी, विवादी और अनुवादी ले लिये जायँ, परन्तु संवादी स्वर का परित्याग कर दिया जाय, तो स्वरभिन्न राग उत्पन्न होता है।[३१] स्वरप्रयोग में भेद होने के कारण ही भिन्नषड्ज और भिन्नपञ्चम राग शुद्ध षाडव से भिन्न हो गये हैं।[३२]

(आ) **जातिभिन्न**--जनक जाति के अंश, ग्रह इत्यादि का ग्रहण कर लेने पर भी प्रयोज्य स्वरों का क्रम, जनक जाति के क्रम से भिन्न होने एवं वक्र तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म

३०—अनपेक्ष्यान्यजातीर्ये स्वजातिमनुवर्तकाः।
स्वजात्युद्योतकाश्चैव ते शुद्धाः परिकीर्तिताः॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० र० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

* श्रुतिभिन्नो जातिभिन्नः शुद्धभिन्नः स्वरस्तथा।
चतुर्भिर्भिद्यते यस्मात्तस्माद् भिन्नक उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० र० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

३१—यदा वादी गृहीतः स्यात्संवादी च विमोक्ष्यते।
विवादी चानुवादी च स्वरभिन्नः स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि० सं० र० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

३२—विवादी चानुवादी च गृहीतः स्यादित्यनुषङ्गः। शुद्धषाडवापेक्षया भिन्नषड्ज-भिन्नपञ्चमयोः स्वरप्रयोगभेदात् स्वरभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

स्वरों के प्रयोग के कारण जातिभिन्न रागों की उत्पत्ति होती है।[३३] शुद्ध कैशिकमध्यम राग से ग्रह अंश इत्यादि का साम्य होने पर भी जनक जाति के वर्ण भेद तथा सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्वरों के प्रयोग में भेद होने के कारण भिन्न कैशिकमध्यम की जातिभिन्नता है।[३४]

(इ) **शुद्धभिन्न**—दूसरी जाति का परित्याग करके अपनी जाति और कुल (जाति से उत्पन्न शुद्ध राग) का विभूषण करने एवं अपने कुल को ग्रहण करनेवाले राग शुद्ध-भिन्न कहलाते हैं।[३५] शुद्धकैशिक एवं भिन्नकैशिक के स्वरसंस्थान समान हैं, परन्तु शुद्ध-कैशिक तारस्थानव्यापी है और भिन्नकैशिक मन्द्रस्थानव्यापी। इसी अन्तर के कारण भिन्नकैशिक शुद्धकैशिक से भिन्न है।[३६]

(ई) **श्रुतिभिन्न**—जहाँ चतुःश्रुतिक स्वर भिन्न होकर द्विश्रुतिक हो जाता हो, परन्तु गान्धार द्विश्रुति ही रहता हो, वह राग श्रुति-भिन्न होता है।[३७] 'भिन्नतान' राग में निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लेता है, गान्धार द्विश्रुति ही रहता है। अतः भिन्नतान राग श्रुतिभिन्न है।[३८]

३३–जातीनामंशकः स्थाया अल्पकस्तु बहुस्तथा।
अल्पत्वं च बहुत्वं च प्रयोगाल्पबहुत्वतः।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मैर्वक्रैश्च जातिभिन्नः स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

३४–शुद्धकैशिकमध्यमापेक्षया भिन्नकैशिकमध्यमस्य ग्रहांशादिसाम्येऽपि स्वस्वजनक-जातिगतवर्णभेदात् सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्वरप्रयोगभेदाच्च भिन्नकैशिकमध्यमस्य जाति-भिन्नत्वम्। —कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २५

३५–परित्यजन्नन्यजातिं स्वजातिकुलभूषणः।
स्वकं कुलं तु संगृह्णन् शुद्धभिन्नः प्रकीर्तितः॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

३६–शुद्धकैशिकभिन्नकैशिकयोः स्वरसंस्थानस्याविशेषेऽपि तारस्वरव्याप्तिमतः शुद्धकैशिकान्मन्द्रस्वरव्याप्तिमतो भिन्नकैशिकस्य शुद्धभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

३७–चतुःश्रुतिः स्वरो यत्र भिन्नो द्विश्रुतिको भवेत्।
गान्धारो द्विश्रुतिश्चैव श्रुतिभिन्नः स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

३८–भिन्नतानरागे हि षड्जस्य श्रुतिद्वयं गृह्णाति निषादः।.....गान्धारस्तु द्विश्रुतिरेव। अतोऽस्य श्रुतिभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

(३) गौड—

जिन रागों में गाढ़ गमकों और ओहाटीललित स्वरों के कारण गीति अखण्डित रूप से त्रिस्थानव्यापिनी रहती हैं, वे 'गौड' कहलाते हैं।[३९]

(४) वेसर—

जिन रागों में स्वरों का वेगपूर्वक सञ्चार होता है, वे 'वेसर' कहलाते हैं।[४०]

(५) साधारण—

जिन रागों में शुद्ध, भिन्न, गौड और वेसर; चारों प्रकार के रागों की विशेषताएँ समन्वित हों, वे 'साधारण' कहलाते हैं।[४१]

पञ्चविध ग्रामरागों के अवान्तर भेद[४२]

शुद्ध—सात शुद्ध रागों की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।

भिन्न—भिन्न राग पाँच हैं।

षड्जग्रामीय—(१) भिन्नकैशिकमध्यम, (२) भिन्नषड्ज।

मध्यमग्रामीय—(३) भिन्नतान, (४) भिन्नकैशिक, (५) भिन्नपञ्चम।

३९—पूर्वोक्ताया गौडगीतेः संबन्धाद् गौडकाः स्मृताः।
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

४०—स्वराः सरन्ति यद्वेगात्तस्माद् वेसरकाः स्मृताः।
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

४१—शुद्धा भिन्नाश्च गौडाश्च तथा वेगस्वराः परे।
कलिता यत्र तान् वक्ष्ये सप्त साधारणांस्ततः॥
—मतङ्ग, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २६

४२—षड्जग्रामसमुत्पन्नः शुद्धकैशिकमध्यमः।
शुद्धसाधारितः षड्जग्रामो ग्रामे तु मध्यमे॥
पञ्चमो मध्यमग्रामः षाडवः शुद्धकैशिकः।
शुद्धाः सप्तेति भिन्नाः स्युः पञ्च कैशिकमध्यमः॥
भिन्नषड्जश्च षड्जाख्ये मध्यमे तानकैशिकौ।
भिन्नपञ्चम इत्येते गौडकैशिकमध्यमः॥
गौडपञ्चमकः षड्जे मध्यमे गौडकैशिकः।
इति गौडास्त्रयः षड्जे टक्कवेसरषाडवौ॥
ससौवीरौ मध्यमे तु वोट्टमालवकैशिकौ।
मालवः पञ्चमान्तोऽथ द्विग्रामष्टक्ककैशिकः॥

गौड—गौड राग तीन हैं —

षड्जग्रामीय—(१) गौडकैशिकमध्यम, (२) गौडपञ्चम,

मध्यमग्रामीय—(३) गौडकैशिक ।

वेसर—वेसर राग आठ हैं —

षड्जग्रामीय—(१) टक्क, (२) वेसरषाडव, (३) सौवीर,

मध्यमग्रामीय—(४) वोट्ट, (५) मालवकैशिक, (६) मालवपञ्चम,

द्विग्रामसम्बद्ध—(७) टक्ककैशिक, (८) हिन्दोल ।

साधारण—साधारण राग सात हैं —

षड्जग्रामीय—(१) रूपसाधार, (२) शक, (३) भम्माणपञ्चम,

मध्यमग्रामीय—(४) नर्त, (५) गान्धारपञ्चम, (६) षड्जकैशिक,

द्विग्रामसम्बद्ध—(७) ककुभ ।

इस प्रकार—

शुद्ध	७
भिन्न	५
गौड	३
वेसर	८
साधारण	७
योग	३०

ग्रामरागों की संख्या तीस है ।

उपराग—

उपरागों की उत्पत्ति भी जातियों से हुई है । ग्रामरागों के समीपस्थ होने के कारण इन्हें उपराग कहा गया है ।[४३] उपरागों की संख्या आठ है । वे हैं—(१) शकतिलक,

---

हिन्दोलोऽष्टौ वेसरास्ते सप्तसाधारणास्ततः ।
षड्जे स्याद् रूपसाधारः शको भम्माणपञ्चमः ।।
मध्यमे नर्तगान्धारपञ्चमौ षड्जकैशिकः ।
द्विग्रामः ककुभस्त्रिंशद् ग्रामरागा अमी मताः ।।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ७–८

४३–जातिभ्यो जातानामपि ग्रामरागसमीपभावित्वादष्टानामुपरागत्वम् ।

—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० ९

(२) टक्कसैन्धव, (३) कोकिलापञ्चम, (४) रेवगुप्त, (५) पञ्चमषाडव, (६) भावनापञ्चम, (७) नागगान्धार, (८) नागपञ्चम।[४४]

राग

उपरागों के अनन्तर जातियों से ही उत्पन्न राग 'राग' हैं।[४५] उनकी संख्या बीस है। वे हैं—(१) श्रीराग, (२) नट्ट, (३) बङ्गाल प्रथम, (४) बङ्गाल द्वितीय, (५) भास, (६) मध्यमषाडव, (७) रक्तहंस, (८) कोल्लहास, (९) प्रसव, (१०) भैरव, (११) ध्वनि, (१२) मेघराग, (१३) सोमराग, (१४) कामोद प्रथम, (१५) कामोद द्वितीय, (१६) आम्रपञ्चम, (१७) कन्दर्प, (१८) देशाख्य, (१९) कैशिककुभ, (२०) नट्टनारायण।[४६]

भाषाजनक ग्रामराग

ग्रामरागों के आलापप्रकार भाषा कहलाते हैं, भाषा शब्द का अर्थ यहाँ प्रकार है।[४७] इसी प्रकार विभाषा और अन्तरभाषा शब्द भी क्रमशः (भाषा से विभाषा, विभाषा से अन्तरभाषा) उत्पन्न आलापप्रकारों के वाचक हैं, रञ्जक होने के कारण इन सबको भी राग समझा जाना चाहिए। याष्टिक मुनि ने भाषाजनक राग पन्द्रह, मतङ्ग ने छः

४४—अष्टोपरागास्तिलकः शकादिष्टक्कसैन्धवः।
कोकिलापञ्चमो रेवगुप्तः पञ्चमषाडवः।
भावनापञ्चमो नागगान्धारो नागपञ्चमः॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ९

४५—उपरागेभ्योऽनन्तरं जातिभ्य एव जाताः श्रीरागादयो विंशतिः।
—कल्लि०, सं० टी०, सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ९

४६—श्रीरागनट्टौ बङ्गालौ भासमध्यमषाडवौ।
रक्तहंसः कोह्लहासः प्रसवो भैरवो ध्वनिः॥
मेघरागः सोमरागः कामोदो चाभ्रपञ्चमः।
स्यातां कन्दर्पदेशाख्यौ ककुभान्तश्च कैशिकः।
नट्टनारायणश्चेति रागा विंशतिरीरिताः॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ९

४७—ग्रामरागाणामेवालापप्रकारा भाषावाच्याः। भाषाशब्दोऽत्र प्रकारवाची।
—मतङ्ग, कल्लि० सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

काश्यप ने बारह और शार्दूल ने चार ही बताये हैं।[४८] याष्टिकोक्त पन्द्रह (भाषाजनक) राग ये हैं—

(१) सौवीर, (२) ककुभ, (३) टक्क, (४) पञ्चम, (५) भिन्नपञ्चम, (६) टक्ककैशिक, (७) हिन्दोल, (८) वोट्ट, (९) मालवकैशिक, (१०) गान्धार-पञ्चम, (११) भिन्नषड्ज, (१२) वेसरषाडव, (१३) मालवपञ्चम, (१४) तान, (१५) पञ्चमषाडव।[४९]

१—सौवीर की भाषाएँ

सौवीर की चार भाषाएँ—(१) सौवीरी, (२)वेगमध्यमा, (३) साधारिता, (४) गान्धारी हैं।[५०]

२—ककुभ की भाषाएँ

ककुभ की छः भाषाएँ—(१) भिन्नपञ्चमी, (२) काम्भोजी, (३) मध्यमग्रामा, (४) रगन्ती, (५) मधुरी, (६) शकमिश्रा हैं।[५१]

४८—एवं विभाषाऽन्तरभाषाशब्दावपि तत्तदनन्तरोत्पन्नालापप्रकारवाचकावित्यवगन्तव्यम्। तासामपि रञ्जनाद् रागत्वं तथा च वक्ष्यति—'रञ्जनाद्रागता भाषारागाङ्गादेरपीष्यते' इति। तासां जनका याष्टिकोदिता भाषाजनकतया याष्टिकमुनिनोक्ताः। मतान्तराणामप्यत्रैवान्तर्भावाद्याष्टिकमतानुसारेणोद्दिश्यन्त इत्यर्थः। कथम्? मतंगः षडेव ग्रामरागान् भाषाजनकत्वेनाभाषत। काश्यपस्तु द्वादशैवावोचत्। शार्दूलः पुनश्चतुर एवाभ्यधादिति।

—कल्लि० सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

४९—सौवीरः ककुभष्टक्कः पञ्चमो भिन्नपञ्चमः।
टक्ककैशिकहिन्दोल—वोट्टमालवकैशिकाः॥
गान्धारपञ्चमो भिन्नषड्जो वेसरषाडवः।
मालवः पञ्चमान्तश्च तानः पञ्चमषाडवः।
भाषाणां जनकाः पञ्चदशैते याष्टिकोदिताः॥

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५०—भाषाश्चतस्रः सौवीरे सौवीरी वेगमध्यमा। साधारिता च गान्धारी......

—सं०र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५१—......ककुभे भिन्नपञ्चमी। काम्भोजी मध्यमग्रामा रगन्ती मधुरी तथा। शकमिश्रेति षट्......।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

तीन विभाषाएँ

(१) भोगवर्धनी, (२) आभीरिका, (३) मधुकरी[५२]।

अन्तरभाषा

(१) शालवाहनिका है।[५३]

३—टक्क की भाषाएँ

टक्क की इक्कीस भाषाएँ—(१)त्रवणा, (२) त्रवणोद्भवा, (३) वैरञ्जी, (४) मध्यमग्रामदेहा, (५) मालववेसरी, (६) छेवाटी, (७) सैन्धवी, (८) कोलाहला, (९)पञ्चमलक्षिता, (१०)सौराष्ट्री, (११)पञ्चमी, (१२)वेगरञ्जी, (१३) गान्धारपञ्चमी, (१४) मालवी, (१५) तानवलिता, (१६) ललिता, (१७) रविचन्द्रिका, (१८) ताना, (१९) अम्बाहेरिका, (२०) दोह्या, (२१) वेसरी हैं।[५४]

विभाषाएँ

(१) देवारवर्धनी, (२) आन्ध्री, (३) गुर्जरी, (४) भावनी हैं।[५५]

४—पञ्चम की भाषाएँ

पञ्चम की दस भाषाएँ—(१)कैशिकी,(२) त्रावणी, (३) तानोद्भवा, (४) आभीरी, (५) गुर्जरी, (६) सैन्धवी, (७) दाक्षिणात्या, (८) आन्ध्री, (९) माङ्गली, (१०) भावनी हैं।[५६]

५२—........तिस्रो विभाषा भोगवर्धनी। आभीरिका मधुकरी...॥

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५३—......तथैकान्तरभाषिका। शालवाहनिका......।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५४—......टक्के त्रवणा त्रवणोद्भवा। वैरञ्जी मध्यमग्रामदेहा मालववेसरी ।
छेवाटी सैन्धवी कोलाहला पञ्चमलक्षिता। सौराष्ट्री पञ्चमी वेगरञ्जी गान्धारपञ्चमी। मालवी तानवलिता ललिता रविचन्द्रिका। तानाऽम्बाहेरिका दोह्या वेसरीत्येकविंशतिः। भाषाः स्युः.....। —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५५—......रथ देवारवर्धन्यान्ध्री च गुर्जरी। भावनीति विभाषाः स्युश्चतस्रः...।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

५६—......पञ्चमे पुनः। कैशिकी त्रावणी तानोद्भवाऽभीरी च गुर्जरी।
सैन्धवी दाक्षिणात्याऽऽन्ध्री माङ्गली भावनी दश। इति भाषाः...॥

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

विभाषाएँ

दो विभाषाएँ—(१) भम्माणी, (२) आन्धालिका हैं।[५७]

५—भिन्नपञ्चम की भाषाएँ

भिन्नपञ्चम की चार भाषाएँ—(१) धैवतभूषिता, (२) शुद्धभिन्ना, (३) वाराही, (४) विशाला हैं।[५८]

विभाषा

(१) कौशली है।[५९]

६—टक्ककैशिक की भाषाएँ

टक्ककैशिक की दो भाषाएँ—(१) मालवा, (२) भिन्नवलिता हैं।[६०]

विभाषा

(१) द्राविडी है।[६१]

७—हिन्दोल की भाषाएँ

हिन्दोल की नौ भाषाएँ—(१) वेसरी, (२) चूतमञ्जरी, (३) षड्जमध्यमा, (४) मधुरी, (५) भिन्नपौराली, (६) गौडी, (७) मालववेसरी, (८) छेवाटी, (९) पिञ्जरी हैं।[६२]

हिन्दोल और प्रेङ्खक पर्य्यायवाची शब्द हैं।[६३]

५७—.....विभाषे द्वे भम्माण्यान्धालिके। —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

५८—चतस्रः पञ्चमे भिन्ने भाषा धैवतभूषिता। शुद्धभिन्ना च वाराही विशालेति.....
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

५९—अथ कौशली। विभाषा...... —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

६०—.....मालवाभिन्नवलिते टक्ककैशिके। भाषे द्वे......
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

६१—.....द्राविडीत्येका विभाषा...... —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

६२—........प्रेङ्खके नव। भाषाः स्युर्वेसरी चूतमञ्जरी षड्जमध्यमा।
मधुरी भिन्नपौराली गौडी मालववेसरी। छेवाटी पिञ्जरीत्येका...।
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

६३—प्रेङ्खक इति हिन्दोलपर्य्यायः। —कल्लि०, सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

८––वोट्ट की भाषा

वोट्ट की एक भाषा 'मांगली' है।[६४]

९––मालवकैशिक की भाषाएँ

मालवकैशिक की तेरह भाषाएँ—(१)बाङ्गाली,(२) माङ्गली, (३) हर्षपुरी, (४) मालववेसरी, (५) खञ्जनी, (६) गुर्जरी, (७) गौडी, (८) पौराली, (९) अर्धवेसरी, (१०) शुद्धा, (११) मालवरूपा, (१२) सैन्धवी, (१३) आभीरिका हैं।[६५]

विभाषाएँ

(१) काम्भोजी, (२) देवारवर्धनी हैं।[६६]

१०––गान्धारपञ्चम की भाषा

गान्धारपञ्चम की एक भाषा गान्धारी है।[६७]

११––भिन्नषड्ज की भाषाएँ

भिन्नषड्ज की सत्रह भाषाएँ—(१) गान्धारवल्ली, (२) कच्छेल्ली, (३) स्वरवल्ली, (४) निषादिनी, (५) त्रवणा, (६) मध्यमा, (७) शुद्धा, (८) दाक्षिणात्या, (९) पुलिन्दका, (१०) तुम्बुरा, (११) षड्जभाषा, (१२) कालिन्दी, (१३) ललिता, (१४) श्रीकण्ठिका, (१५) बाङ्गाली, (१६) गान्धारी, (१७) सैन्धवी हैं।[६८]

६४–वोट्टे भाषा तु माङ्गली। —कल्लि०, सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

६५–बाङ्गाली माङ्गली हर्षपुरी मालववेसरी।
खञ्जनी गुर्जरी गौडी पौराली चार्धवेसरी।।
शुद्धा मालवरूपा च सैन्धव्याभीरिकेत्यमूः।
भाषास्त्रयोदश ज्ञेयाः विज्ञैर्मालवकैशिके।।
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११–१२

६६–विभाषे द्वे तु काम्भोजी तद्वद् देवारवर्द्धिनी।
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

६७–गान्धारपञ्चमे भाषा गान्धारी —सं० र०, अ० सं०, राग, पृ० १२

६८–...... भिन्नषड्जके। गान्धारवल्ली कच्छेल्ली स्वरवल्ली निषादिनी।
त्रवणा मध्यमा शुद्धा दाक्षिणात्या पुलिन्दका।

विभाषाएँ

(१) पौराली, (२) मालवा, (३) कालिन्दी, (४) देवारवर्धनी हैं।[६९]

१२—वेसरषाडव की भाषाएँ

वेसरषाडव की दो भाषाएँ—(१) नाद्या, (२) बाह्यषाडवा हैं।[७०]

विभाषाएँ

(१) पार्वती, (२) श्रीकण्ठी हैं।[७१]

१३—मालवपञ्चम की भाषाएँ

मालवपञ्चम की तीन भाषाएँ–(१) वेदवती, (२) भावनी, (३) विभावनी हैं।[७२]

१४—तान की भाषा

तान की एक भाषा 'तानोद्भवा' है।[७३]

१५—पञ्चमषाडव की भाषा

पञ्चमषाडव की एक भाषा 'पोता' है।[७४]

तुम्बुरा षड्जभाषा च कालिन्दी ललिता ततः।
श्रीकण्ठिका च बाङ्गाली गान्धारी सैन्धवीत्यमूः। भाषाः सप्तदश ज्ञेयाः।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ०१२

६९–.... . चतस्रस्तु विभाषिकाः। पौराली मालवा कालिन्द्यपि देवारवर्धनी।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

७०–वेसरे षाडवे भाषे द्वे नाद्या बाह्यषाडवा।

—सं०, र० अ० सं०, राग०, पृ० १२

७१–विभाषे पार्वती श्रीकण्ठचथ

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

७२–.....मालवपञ्चमे। भाषास्तिस्रो वेदवती भावनी च विभावनी।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

७३–ताने तानोद्भवा भाषा..

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

७४–भाषा पञ्चमषाडवे। पोता...

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

कुछ लोग रेवगुप्त नामक राग की एक भाषा 'शका' मानते हैं। मतङ्गकृत बृहद्देशी में पल्लवी नामक एक ऐसी विभाषा तथा भासवलिता, किरणावली और शकवलिता नामक तीन अन्तरभाषाओं की चर्चा है, जिनके जनक राग नहीं बताये गये हैं।[७५] इस प्रकार समस्त भाषाओं का संकलन निम्न लिखित है—

१.	सौवीर	४
२.	ककुभ	६
३.	टक्क	२१
४.	पञ्चम	१०
५.	भिन्नपञ्चम	४
६.	टक्ककैशिक	२
७.	हिन्दोल	९
८.	वोट्ट	१
९.	मालवकैशिक	१३
१०.	गान्धारपञ्चम	१
११.	भिन्नषड्ज	१७
१२.	वेसरषाडव	२
१३.	मालवपञ्चम	३
१४.	तान	१
१५.	पञ्चमषाडव	१
	मतान्तर-रेवगुप्त	१
	योग	९६

७५—.........शकामेके रेवगुप्ते विदुर्विदः।
विभाषा पल्लवी भासवलिका किरणावली ॥
शकाद्या वलितेत्येतास्तिस्रस्त्वन्तरभाषिकाः।
चतस्रोऽनुक्तजनका बृहद्देश्यामिमाः स्मृताः ॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

समस्त विभाषाएँ—

ककुभ	३
टक्क	४
पञ्चम	२
भिन्न पञ्चम	१
टक्क कैशिक	१
मालव कै०	२
भिन्नषड्ज	४
वेसर षाडव	२
अनुक्त जनक	१
योग	२०

सब अंतरभाषाओं का संकलन यह है[७६]

ककुभ	१
अनुक्तजनक	३
योग	४

मतङ्ग ने मुख्या, स्वराख्या, देशजा एवं अन्योपरागजा नामक चार भाषाएँ बतायी हैं। जो अन्य किसी भाषा से प्रभावित न हो वह मुख्या, जो किसी स्वर के नाम पर हो वह स्वराख्या, जो किसी देश के नाम पर हो वह देशाख्या या देशजा एवं इन तीनों से उत्पन्न अन्योपरागजा कहलाती है। याष्टिक ने इन्हीं चारों अर्थात् मूला को मुख्या, स्वराख्या को संकीर्णा, देशाख्या को देशजा और अन्योपरागजा को सङ्कीर्णा कहा है।

शुद्धा, आभीरी, रगन्ती तथा (टक्क, हिन्दोल एवं मालवकैशिकी से उत्पन्न) तीन प्रकार की मालववेसरी ये छः भाषाएँ मुख्या कही गयी हैं। शेष भाषाओं का लक्षण स्पष्ट है। जिन भाषाओं के लक्षण भिन्न हैं, उनमें भी कभी नाम का सादृश्य हो जाता है।

उपराग, भाषाजनक राग, भाषाराग, विभाषाराग एवं अन्तरभाषाराग भरतोक्त ग्रामरागों से सम्बद्ध होने के कारण हमारी चर्चा का विषय बने हैं। विस्तारभय से उनके लक्षण नहीं दिये जा रहे हैं।

७६–एवं षण्णवतिर्भाषा विभाषा विंशतिस्तथा।
चतस्रोऽन्तरभाषाः स्युः शार्ङ्गदेवस्य संमताः।।
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १३

जिनमें ग्रामोक्त रागों की छायामात्र हो, वे 'रागाङ्ग', जिनमें अङ्ग की छाया हो वे 'उपाङ्ग', जिनमें भाषाओं की छाया हो, वे 'भाषाङ्ग', करुणा, उत्साह, शोक इत्यादि व्यक्त करनेवाली प्रयोगक्रिया (गान-वादन-क्रिया) से जिनकी उत्पत्ति हो, वे 'उपाङ्ग' कहलाते हैं। 'रागाङ्ग', 'उपाङ्ग', 'भाषाङ्ग' एवं 'क्रियाङ्ग' की गणना देशी रागों में है, भरत-सम्प्रदाय से साक्षात् रूप में सम्बद्ध न होने के कारण उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

अनुबन्ध (१)

कुछ परिभाषाओं का स्पष्टीकरण

प्रधानतया हमारा प्रतिपाद्य विषय वही है जो नाट्यशास्त्र की स्वरविधि में प्रतिपादित है, परन्तु मतङ्ग, शार्ङ्गदेव इत्यादि के जातिलक्षणों में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये हैं, जिनका स्पष्टीकरण इस पुस्तक के पाठकों के लिए परमावश्यक है, फलतः ऐसे शब्दों का संक्षिप्त स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाता है —

ताल

प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु के पश्चात् अधिकरणार्थक 'घञ्' प्रत्यय लगने से 'ताल' शब्द बनता है, क्योंकि गीत-वाद्य-नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य, नृत्य को परिमित करनेवाला काल ताल कहलाता है।[1]

लघु, गुरु, प्लुत

पाँच निमेष या पाँच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारणकाल भरतवर्णित तालों में लघु या मात्रा कहलाता है।* दो लघु एक गुरु का निर्माण करते हैं और तीन लघुओं से एक प्लुत बनता है। ये लघु, गुरु, प्लुत छन्दःशास्त्र या व्याकरणशास्त्र के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत से भिन्न हैं।

१–तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥
कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम्। गीतादेर्विदधत्तालः...

—सं० र०, अ० सं०, ताला० पृ० ३–४

* निमेषाः पञ्च मात्रा स्यात्।

—भरत०, ब० सं०, पृ० ४७५ पर पादटिप्पणी में पाठभेद

गुरु का एक पर्याय 'कला' भी है, ताल-भाग को भी 'कला' कहते हैं तथा निःशब्द एवं सशब्द क्रियाएँ भी 'कला' कहलाती हैं।

तालशास्त्र में लघु का चिह्न '।', गुरु का चिह्न 'ऽ' और भरतवर्णित तालों में 'प्लुत' का चिह्न भी 'ऽ' है।

क्रिया[२]

क्रिया के दो भेद हैं, निःशब्दा और सशब्दा। निःशब्दा क्रिया के चार भेद हैं, आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश। सशब्दा के भी चार भेद हैं—ध्रुव, शम्या, ताल और सन्निपात। सशब्दा क्रियाएँ 'पात' भी कहलाती हैं।

आवाप——उत्तान (चित, हथेली आकाश की ओर होने की स्थिति से युक्त) हाथ की अँगुलियों का सिकोड़ना या बन्द करना आवाप कहलाता है। संकेत 'आ०' है।

निष्क्राम—अधस्तल हाथ की अँगुलियों का फैलाना 'निष्क्राम' है। सङ्केत 'नि०' है।

विक्षेप——अँगुलियाँ फैलाये हुए उत्तान हाथ को दाहिने पार्श्व में फेंकना 'विक्षेप' है। संकेत 'वि०' है।

प्रवेश—अधस्तल हाथ की अँगुलियों का सिकोड़ना 'प्रवेश' है। संकेत 'प्र०' है।

ध्रुव—चुटकी बजाते हुए, हाथ को नीचे ले जाना 'ध्रुव' है। संकेत 'ध्रु०' है।

शम्या——दाहिने हाथ से ताली बजाना 'शम्या' है। संकेत 'श०' है।

ताल——बायें हाथ से ताली बजाना 'ताल' है। संकेत 'ता०' है।

सन्निपात——दोनों हाथों से ताली बजाना 'संनिपात' है। संकेत 'सं०' है।

२—.....क्रिया द्विधा। निःशब्दा शब्दयुक्ता च निःशब्दा तु कलोच्यते।
स्यादावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः।
निःशब्देति चतुर्धोक्ता सशब्दापि चतुर्विधा।
ध्रुवः शम्या ततस्तालः संनिपात इतीरिता।
पातः कला तु सा ज्ञेया तासां लक्ष्माभिदध्महे।
आवापस्तत्र हस्तस्योत्तानस्याङ्गुलिकुञ्चनम्।
निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्।
क्षेपो दक्षिणपार्श्वस्योत्तानस्य प्रसृताङ्गुलेः।
विक्षेपोऽधस्तलस्यास्य प्रवेशोऽङ्गुलिकुञ्चनम्।
ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिकाशब्दपूर्वकः।
शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु।
उभयोः संनिपातः स्यात्.....। ——सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० ४–५

ताल के मुख्य भेद

भरतोक्त तालों में चतुरस्र अर्थात् चञ्चत्पुट (चच्चत्पुट, चञ्चूपुट) और त्र्यस्र अर्थात् चाचपुट (चापपुट) मुख्य हैं।[३] इन दोनों के तीन भेद; यथाक्षर (एककल), द्विकल और चतुष्कल होते हैं।[४] यथाक्षर से द्विगुण मात्राएँ होने के कारण द्विगुण और चतुर्गुण मात्राएँ होने पर चतुष्कल रूपों का निर्माण होता है।[५]

तालों का रूप जब ताल के नाम में प्रयुक्त अक्षरों की स्थिति के अनुसार होता है, तब वे 'यथाक्षर' कहलाते हैं। यथाक्षर चञ्चत्पुट में अन्तिम अक्षर 'ट' प्लुत होता है और चाचपुट में नहीं।

संयुक्त वर्ण से पूर्व वर्ण ह्रस्व होने पर भी दीर्घ या गुरु माना जाता है, फलतः 'चञ्चत्पुट' शब्द में अक्षर क्रमशः गुरु, गुरु, लघु, प्लुत हैं। इसलिए यथाक्षर चञ्चत्पुट का रूप 'ऽऽ।ऽ' और यथाक्षर चाचपुट का रूप 'ऽ।।ऽ' है। यथाक्षर चञ्चत्पुट में आठ और यथाक्षर चाचपुट में छः मात्राएँ होती हैं।

पञ्चपाणि

चाचपुट ताल का एक भेद 'षट्पितापुत्रक' ताल है, जिसे 'पञ्चपाणि' और 'उत्तर' भी कहते हैं।[६] षट्पितापुत्रक ताल के आदिम एवं अन्तिम अक्षर यथाक्षर अवस्था में

३–त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च स तालो द्विविधः स्मृतः। —भरत०, ब० सं०, पृ० ४७६

चतुरस्रस्तु विज्ञेयः तालश्चञ्चू (ञ्च) त्पुटो बुधैः।

—भरत०, का० सं०, पृ० ३४३

त्र्यस्रः स खलु विज्ञेयस्तालश्चापपुटो भवेत्। —भरत०, का० सं०, पृ० ३४३

४–यथाक्षरश्च द्विकलश्चतुष्कल इति त्रिधा। —सं० र०, अ० सं०, त्यला०, पृ० ९

५–तौ चञ्चत्पुटचाचपुटौ (द्विगुणौ) द्विकलापेक्षया द्विगुणीकृतौ सन्तौ चतुष्कलावित्युच्येते। अष्टगुरुसंमितो द्विकलचञ्चत्पुटो द्विगुणीकृत्य षोडशगुरुसंमितः संश्चतुष्कलो भवति। षड्गुरुसम्मितो द्विकलचाचपुटो द्विगुणीकृत्य द्वादशगुरुसम्मितः संश्चतुष्कलो भवति।

—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, ताला०, पृ० ११

६–षट्पितापुत्रकस्त्र्यस्रभेदः सोऽपि तथा त्रिधा।

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० ११

तस्य षट्पितापुत्रकस्य उत्तरः पञ्चपाणिश्चेत्येतन्नामद्वयम्।

—सिंह०, सं० टी०, अ० सं०, ताला०, पृ० ११

प्लुत होते हैं। फलतः इसमें अक्षरों की स्थिति प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु, प्लुत अर्थात् 'ऽ।ऽऽ।ऽ' है। (३+१+२+२+१+३=) १२ मात्राओं से यथाक्षर षट्पितापुत्रक ताल बनता है।

यथाक्षर चञ्चत्पुट की तालक्रिया[७]

तालक्रिया	सं०		श०		ता०	श०		
तालरूप	ऽ		ऽ		।	ऽ		
तालाक्षर	चं		चत्		पु	ट		
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८

द्विकल चञ्चत्पुट में आठ गुरु अर्थात् सोलह लघु होते हैं—

द्विकल चञ्चत्पुट की तालक्रिया[८]

तालक्रिया	नि०		श०		वि०		ता०	
तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
तालक्रिया	श०		प्र०		वि०		श०	
तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

चतुष्कल चञ्चत्पुट ताल में सोलह गुरु अर्थात् ३२ मात्राएँ होती हैं—

चतुष्कल चञ्चत्पुट की तालक्रिया[९]

१	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
२	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		ता०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

७–चञ्चत्पुटे त्वेककले संशताशं यथाक्रमम्। —सं० र०, अ० सं०, पृ० १४

८–निशौ निताश प्रविशं द्विकले युग्मके मताः। —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १५

९– ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं

इतिचतुष्कल-चच्चत्पुट-कलाविधिः। —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १७

३	तालक्रिया	आ०		श०		वि०		प्र०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
४	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		सं०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

यथाक्षर चाचपुट की तालक्रिया[10]

तालक्रिया	श०		ता०	श०	ता०	
तालरूप	ऽ		।	।	ऽ	
तालाक्षर	चा		च	पु	ट	
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६

द्विकल चाचपुट की तालक्रिया[11]

द्विकल चाचपुट में छः गुरु अर्थात् बारह मात्राएँ होती हैं—

१	तालक्रिया	नि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४
२	तालक्रिया	ता०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	५	६	७	८
३	तालक्रिया	नि०		सं०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२

चतुष्कल चाचपुट में बारह गुरु अर्थात् २४ मात्राएँ होती हैं—

१०–शता शता (ताश ताश) इत्येककल-चाचपुट-कलाविधिः।

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १५

११–निशौ ताशौ निसमिति ज्ञेयाश्चाचपुटे क्रमात्।

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १५

चतुष्कल चाचपुट की तालक्रिया[१२]

१	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
२	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
३	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		सं०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

यथाक्षर षट्पितापुत्रक की तालक्रिया[१३]

तालक्रिया	सं०			ता०	श०		ता०			श०	ता०	
तालरूप	ऽ			।	ऽ		ऽ			।	ऽ	
तालाक्षर	षट्			पि	ता		पु			त्र	क	
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

द्विकल षट्पितापुत्रक ताल में बारह गुरु या चौबीस मात्राएँ होती हैं, परन्तु एक पाद-भाग चार-चार मात्राओं का होता है।

द्विकल षट्पितापुत्रक की तालक्रिया[१४]

१	तालक्रिया	नि०		प्र०	
	मात्रा	१	२	३	४

१२– ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं इति चतुष्कल-चाचपुटकलाविधिः। —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १७

१३– ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता इत्येककलषट्पितापुत्रककलाविधिः। —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १५

१४– निप्रताशनितानिशताप्रनिसं तथोत्तरे। इति द्विकल-षट्पितापुत्रककलाविधिः। —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १५

२	तालक्रिया	ता०		श०	
	मात्रा	५	६	७	८
३	तालक्रिया	नि०		ता०	
	मात्रा	९	१०	११	१२
४	तालक्रिया	नि०		श०	
	मात्रा	१३	१४	१५	१६
५	तालक्रिया	ता०		प्र०	
	मात्रा	१७	१८	१९	२०
६	तालक्रिया	नि०		सं०	
	मात्रा	२१	२२	२३	२४

चतुष्कल षट्पितापुत्रक की तालक्रिया[15]

चतुष्कल षट्पितापुत्रक में चौबीस गुरु अर्थात् ४८ मात्राएँ होती हैं ।

तालक्रिया	आ		नि०		वि०		प्र०	
मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८
तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
मात्रा	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
मात्रा	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
मात्रा	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
मात्रा	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०

१५– ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र   आ ता वि श   आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ ता वि प्र   आ नि वि सं

इति चतुष्कल-षट्पितापुत्रककलाविधिः । —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १७

तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		सं०	
मात्रा	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८

पूर्वोक्त तीन तालों केअतिरिक्त उद्घट्ट एवं संपक्वेष्टाक नामक दो और ताल भी भरतोक्त हैं, परन्तु जातियों और रागों के प्रस्तारों में चतुष्कल चञ्चत्पुट और चतुष्कल पञ्चपाणि ताल का ही प्रयोग हुआ है, अतः इन्हीं का विशिष्ट वर्णन किया गया है। पञ्चपाणि ताल त्र्यस्त्र चाचपुट का एक भेद है, इसी लिए चाचपुट का वर्णन किया गया है।

चञ्चत्पुट ताल के प्रथम पादभाग में कनिष्ठा, द्वितीय पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका, तृतीय पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा एवं चतुर्थ पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए।[१६]

चाचपुट के तीन पादभागों में क्रमशः कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका एवं कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए। मध्यमा का प्रयोग इस ताल की तालक्रिया में वर्जित है।[१७]

पञ्चपाणि ताल के छः पादभागों में क्रमशः कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा, कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी-मध्यमा, कनिष्ठा-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए।[१८]

मार्ग

महर्षि भरत ने चित्र, वार्तिक, दक्षिण ये तीन 'मार्ग' बताये हैं। शार्ङ्गदेव ने 'ध्रुव' नामक एक और मार्ग भी कहा है। ध्रुवमार्ग में एक, चित्र में दो, वार्तिक में चार और दक्षिण मार्ग में आठ मात्राओं से एक पाद-भाग (कला) का निर्माण होता

१६–प्रथमे पादभागे स्यात् कलाङ्गुल्या कनिष्ठया।
तया चानामयान्यत्र ताभ्यां मध्यमया तथा।
तृतीये स्याच्चतसृभिस्तुर्य्ये चच्चत्पुटस्य तु॥
—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १४

१७–ओजस्य पादभागे तु कला मध्याङ्गुलीं विना।
—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० १४

१८–पञ्चपाणेः कनिष्ठादिचतुष्केण कनिष्ठया।
तर्जन्या च पृथक् पादभागषट्के क्रमात्कलाः॥

है ।[१९] इसी लिए चित्रमार्ग में यथाक्षर या एककल, वार्तिक मार्ग में द्विकल और दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है ।

परिवर्तन या आवृत्ति

पादभागादि से युक्त ताल का दुहराना परिवर्त (न) या आवृत्ति कहलाता है ।[२०]

मान (परिमिति, परिमाण, प्रमाण, नाप)

विश्रान्तियुक्त तालक्रिया से तालों का 'मान' किया जाता है ।[२१]

लय

तालक्रिया के अनन्तर (अगली तालक्रिया से पूर्व तक) किया जानेवाला विश्राम 'लय' कहलाता है । शीघ्रतम लय 'द्रुत,' उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एवं दक्षिण मार्ग में विश्रान्तिकाल के परिमाण में भेद होने के कारण, क्रमशः लय में क्षिप्रभाव, मध्यभाव एवं चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद हो जाते हैं । फलतः क्षिप्रभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित; मध्यभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित तथा चिरभाव में द्रुत, मध्य एवं विलम्बित भेदों का पृथक्-पृथक् रूप होता है ।[२२]

तीनों मार्गों में एक मात्रा का काल पाँच लघु अक्षरों के उच्चारणकाल के समान होता है, तथापि चित्र मार्ग में दस लघु अक्षरों के उच्चारणकाल से परिमित काल के पश्चात् होनेवाली लय 'द्रुत' कहलाती है, वार्तिक मार्ग में बीस लघु अक्षरों के उच्चारण काल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'मध्य' कहलाती है, दक्षिण मार्ग में चालीस लघु अक्षरों के उच्चारणकाल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'विलम्बित' कहलाती है ।

१९–मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः । दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला । शेषेषु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान्मात्राः कला भवेत् ।।
—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० ५

२०–आवृत्तिः पादभागादेः परिवर्तनमिष्यते । —सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २४

२१—विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ।
—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २४

२२–क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः । द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः । द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ । मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ।।

किसी स्थान को जाने के तीन मार्ग हैं, दूसरा मार्ग पहले मार्ग की अपेक्षा दुगुना लम्बा है, तीसरे मार्ग की लम्बाई दूसरे मार्ग की अपेक्षा भी द्विगुण है। एक ही गति से चलनेवाले तीन व्यक्तियों में प्रथम व्यक्ति प्रथम मार्ग से लक्ष्यस्थल पर जितने समय में पहुँचेगा, दूसरे मार्ग से चलनेवाला उससे द्विगुण और तीसरे मार्ग से चलनेवाला उससे भी द्विगुण समय में लक्ष्य स्थल तक पहुँचेगा। अपेक्षया पहले व्यक्ति के पहुँचने का काल द्रुत, दूसरे व्यक्ति के पहुँचने का काल मध्य एवं तीसरे व्यक्ति के पहुँचने का काल विलम्बित होगा। मार्ग-भेद से लय-भेद की स्थिति भी ऐसी ही है।

इस लय का उपयोग अक्षर, शब्द या वाक्य में नहीं होता। क्योंकि बोलचाल के समय इनकी जो लय होती है, उसका सङ्गीत से कोई सम्बन्ध नहीं है।[२३]

यति

लय की प्रवृत्ति (प्रयोग) का नियम 'यति' कहलाता है। उसके तीन भेद 'समा', 'स्रोतोगता' और 'गोपुच्छा' हैं।

समा

आदि, मध्य एवं अन्त में समान लय से युक्त यति 'समा' है। द्रुत, मध्य एवं विलम्बित लय के भेद से इसके तीन भेद हो जाते हैं।

स्रोतोगता

स्रोत जलवृद्धि से पूर्व विलम्बित गति से चलता है, परन्तु जल-वृद्धि होने पर उसका वेग बढ़ जाता है। इसी प्रकार आदि में विलम्बित लय, मध्य में मध्य लय एवं अन्त में द्रुत लयवाली यति स्रोतोगता कहलाती है। विलम्बित और मध्य लयवाली दूसरी 'स्रोतोगता' तथा मध्य एवं द्रुत लयवाली तीसरे प्रकार की 'स्रोतोगता' यति होती है।

गोपुच्छा

गौ की पूँछ अन्त में विस्तृत होती है, फलतः आदि में द्रुत, मध्य में मध्य एवं अन्त में विलम्बित लयवाली यति 'गोपुच्छा' होती है। द्रुत एवं मध्य लयवाली द्वितीय 'गोपुच्छा' और मध्य-विलम्बित लयवाली तृतीय 'गोपुच्छा' कहलाती है।[२४]

२३–लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते।
—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २५

२४–लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते।
समा स्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा॥

ग्रह

ताल में 'सम', 'अतीत' और 'अनागत' तीन 'ग्रह' हैं।

गीत, वाद्य, नृत्य के साथ होनेवाला ताल का आरम्भ 'समपाणि' या 'समग्रह', गीत, वाद्य, नृत्य के पश्चात् होनेवाला ताल का आरम्भ 'अवपाणि' या 'अतीतग्रह' तथा गीत, वाद्य, नृत्य से पूर्व होनेवाला ताल का आरम्भ 'उपरिपाणि' या 'अनागतग्रह' कहलाता है।

सम, अतीत और अनागत ग्रहों में लय क्रमशः मध्य, द्रुत और विलम्बित होती है।[२५]

प्रकरण-गीतक और ब्रह्म-गीत

इन तालों का आश्रय लेकर (१) मद्रक, (२) अपरान्तक, (३) उल्लोप्य, (४) प्रकरी, (५) ओवेणक, (६) रोविन्दक, (७) उत्तर नामक सात गीतों का वादन किया गया है। सात गीत (१) छन्दक, (२) आसारित, (३) वर्धमान, (४) पाणिक, (५) ऋक्, (६) गाथा, (७) साम भी हैं। ब्रह्मा ने मोक्ष के लिए शिवस्तुति में इनका प्रयोग किया है।[२६]

आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वे समा त्रिधा।
लयत्रैधादादिमध्यावसानेषु यथाक्रमात्॥
चिरमध्यद्रुतलया तदा स्रोतोगता मता।
अन्या विलम्बमध्याभ्यां मध्यद्रुतवती परा॥
द्रुतमध्यविलम्बैः स्याद् गोपुच्छा द्रुतमध्यभाक्।
द्वितीयान्या भवेन्मध्यविलम्बितलयान्विता॥

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २६

२५—समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः। गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः। सोऽवपाणिरतीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते। अनागतः प्राक् प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः। लयाः क्रमात्समादौ स्युर्मध्यद्रुतविलम्बिताः॥

—सं०, र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २७-२८

२६—एतैः प्रकरणाख्यानि तालैर्यानि जगुर्बुधाः। तानि गीतानि वक्ष्यामस्तेषामाद्यं तु मद्रकम्। अपरान्तकमुल्लोप्यं प्रकर्योवेणकं ततः। रोविन्दकोत्तरे सप्त गीतकानीत्यवादिषुः। छन्दकासारिते वर्धमानकं पाणिकं तथा। ऋचो गाथा च सामानि गीतानीति चतुर्दश। शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधिः॥

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २९

इन गीतों में भेद उपभेद भी हैं, हमने इनकी चर्चा 'ध्रुवा' से सम्बद्ध होने के कारण की है।

पदाश्रित गीति

स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णों से अलंकृत पद एवं लय से युक्त गानक्रिया 'गीति' कहलाती है। गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला हैं।[२७]

मागधी

प्रथम पादभाग (कला) में विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर, दूसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करने के पश्चात् मध्यलय में गाने के अनन्तर तीसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करके द्रुतलय में गाना 'मागधी' गीति है।[२८] इस गीति का जन्म मगध देश में हुआ है। यदि चार मात्राओं का एक पादभाग मान लिया जाय, तो मागधी गीति का उदाहरण यह होगा—

पहली कला	१	२	३	४
(पादभाग)	मा	गा	मा	धा
	दे	–	वं	–
दूसरी कला	५	६	७	८
	धनि	धनि	सनि	धा
	दे	वं	रु	द्रं
तीसरी कला	९	१०	११	१२
	रिग	रिग	मग	रिस
	देवं	रुद्रं	वं	दे

२७—वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता।गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा।।
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी। सम्भाविता च पृथुला. . . ।।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

२८—गीत्वा कलायामाद्यायां विलंबितलयं पदम्। द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्तर-संयुतम्। सतृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये। इति त्रिरावृत्तपदां मागधीं जगदुर्बुधाः।। —सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

अर्धमागधी

प्रथम कला में 'देवं' पद का मागधी के समान उच्चारण, दूसरी कला में 'देवं' के पश्चात् 'वं' के साथ 'रुद्रं' का उच्चारण और तीसरी कला में 'रुद्रं' के पश्चार्द्ध 'द्रं' के साथ 'वंदे' का उच्चारण 'अर्धमागधी' है।[२९] उदाहरण--

१--	१	२	३	४
	मा	री	गा	सा
	दे		वं	
२--	५	६	७	८
	सा	सा	धा	नीं
	वं	रु	द्रं	–
३--	९	१०	११	१२
	पा	धा	पा	मा
	द्रं	वं	दे	–

कुछ लोगों के अनुसार अर्धमागधी में अवशिष्ट दो पदों की दो बार आवृत्ति होनी चाहिए।[३०] जैसे--

१--	१	२	३	४
	मा	मा	मा	मा
	दे		वं	
२--	५	६	७	८
	धा	सा	धा	नी
	दे	वं	रु	द्रं
३--	९	१०	११	१२
	पा	निध	मा	मा
	रु	द्रं	वं	दे

२९--पूर्वयोः पदयोरर्धे चरमे द्विर्पदोदिते।
तदाऽर्धमागधीं प्राहुः। --सं० र०, अ० सं०, स्वर०, पृ० २८२

३०--द्विरावृत्तपदान्तरे...। --सं० र०, अ० सं०, स्वर, पृ० २८३ पर पाठभेद

सम्भाविता

दीर्घ अक्षरों का आधिक्य एवं पदों का सङ्कोच होने पर सम्भाविता गीति होती है।[३१] जैसे —

१—	१	२	३	४
	धा	मा	मा	रिग
	भ	–	क्त्या	–
२—	५	६	७	८
	री	गा	सा	सा
	दे	–	वं	–
३—	९	१०	११	१२
	नी	धा	सा	नी
	रु	–	द्रं	–
४—	१३	१४	१५	१६
	धा	नी	मा	मा
	वं	–	दे	–

पृथुला

जिसमें अधिकांश पद ह्रस्व अक्षरों से निर्मित हों, वह 'पृथुला' गीति होती है।[३२] जैसे—

१—	१	२	३	४
	मा	गा	री	गा
	सु	र	न	त
२—	५	६	७	८
	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द

३१–संक्षेपितपदा भूरिगुरुः सम्भाविता मता।
—सं० र०, अ० सं०, स्वर०, पृ० २८४

३२–भूरिलघ्वक्षरपदा पृथुला सम्मता सताम्।
—सं० र०, अ०, सं०, स्वर०, पृ० २८५

३—	९	१०	११	१२
	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	लं	—
४—	१३	१४	१५	१६
	पा	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

स्वराश्रित गीति

स्वराश्रित गीतियाँ पाँच हैं—शुद्ध, भिन्न, गौड़ी, वेसरा और साधारणी। यही पाँच गीतियाँ शुद्ध, भिन्न, गौड़, वेसर एवं साधारण नामक पाँच ग्रामराग-भेदों का निर्माण करती हैं।[३३]

मतङ्ग, कल्लिनाथ एवं सिंहभूपाल के मत में ये पाँचों गीतियाँ 'दुर्गामत' के अनुसार हैं।[३४] कल्लिनाथ के समक्ष प्रस्तुत भरत-नाट्यशास्त्र में भी इन पाँचों गीतियों का उल्लेख था।[३५]

शुद्धा

अवक्र एवं ललित स्वर शुद्धा गीति का निर्माण करते हैं।[३६]

३३—पञ्चधा ग्रामरागाः स्युः पञ्चगीतिसमाश्रयात्। गीतयः पञ्च शुद्धा च भिन्ना गौडी च वेसरा। साधारणीति...। ——सं० र०, अ० सं०, रागा०, पृ० ३

३४—गीतयः पञ्च विज्ञेयाः शुद्धा भिन्ना च वेसरा। गौडी साधारणी चैव इति दुर्गामते मतम्॥ ——मतङ्ग, सिंह०, सं० टी०, राग०, पृ० ५

शुद्धादयस्तु प्राधान्येन स्वराश्रिता इतीह ग्रन्थकार एताः पञ्च गीतीर्दुर्गामतानुसारेणालक्षयत्। ——कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० ६

तत्र दुर्गामतमाश्रित्य पञ्च गीतय इत्युक्तम्।

——सिंह०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० ५

३५—तथा चाह भरतः——

'पूर्वरङ्गे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया। वेसरा मुखयोः कार्य्या गर्भे गौडी विधीयते। साधारितावमर्शे स्यात् सन्धौ निर्वहणे तथा।....

——भरत०, कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० ३२

३६—.....शुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः। ——सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३

भिन्ना

वक्र स्वरों एवं सूक्ष्म तथा मधुर गमकों से युक्त गीति भिन्ना कहलाती है।[३७]

गौडी

त्रिस्थानव्यापी प्रगाढ़ गमकों और 'ओहाटी' के कारण ललित स्वरों के द्वारा तीनों स्थानों में अखण्ड रूप से स्थिति गौडी कहलाती है।[३८]

ठोड़ी को हृदय पर रखकर मन्द्र स्वरों को कोमलतापूर्वक कम्पित गमक करके इस प्रकार निकालने से 'ओहाटी' की व्यक्ति होती है, जिसमें श्रोताओं को 'ह' और 'ओ' के सम्मिलित उच्चारण जैसी ध्वनि सुनाई दे। 'ओकार' और 'हकार' पर 'अटन' (गमन) करने के कारण ही इस क्रिया को 'ओहाटी' कहा जाता है।[३९]

वेसरा

आरोही, अवरोही, स्थायी एवं सञ्चारी वर्णों में अत्यन्त रक्तिपूर्वक वेगवान स्वरों से रागों को गाना 'वेसरा' (वेगस्वरा) गीति है।[४०]

साधारणी

पूर्वोक्त चारों गीतियों की विशेषताओं को सम्मिलित करके गाना 'साधारणी' गीति है।[४१]

पद

विभक्तियुक्त शब्द 'पद' है।[४२] अक्षरसम्बद्ध प्रत्येक वस्तु 'पद' है।[४३] स्वर-

---

३७–भिन्ना वक्रैः स्वरैः सूक्ष्मैर्मधुरैर्गमकैर्युता। —सं०, र०, अ० सं०, राग०, पृ ३

३८–गाढैस्त्रिस्थानगमकैरोहाटीललितैः स्वरैः। अखण्डितस्थितिः स्थानत्रये गौडी मता सताम्॥ —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३

३९–ओहाटी कम्पितैर्मन्द्रैर्मृदुद्रुततरैः स्वरैः। हकारौकारयोगेण हृन्यस्ते चिबुके भवेत्॥ —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३

४०–वेगवद्भिः स्वरैर्वर्णचतुष्केऽप्यतिरक्तितः। वेगस्वरा रागगीतिर्वेसरा चोच्यते बुधैः॥ —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ६

४१–चतुर्गीतिश्रितं लक्ष्म श्रिता साधारणी मता। —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ६

४२–विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम्... —भरत०, गा० सं०, अध्याय १४, पृ० २१४

४३–यत्स्यादक्षरसंबद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्। —भरत०, ब० सं०, पृ० ५३५

तालानुभावित गान्धर्व में प्रयोज्य वस्तु को 'पद' कहा जाता है।[४४] पद के दो भेद 'चूर्ण पद' और 'निबद्ध पद' हैं।[४५]

चूर्ण पद या अनिबद्ध पद

छन्दोविधि के अनुसार जो निबद्ध न हो, जिसमें अक्षरों की संख्या नियत न हो, जिसमें शब्दों की संख्या अर्थ के अनुसार हो, ऐसा सार्थक शब्दसमूह 'चूर्ण पद' कहलाता है।[४६]

निबद्ध पद

छन्दोविधि के अनुसार जो निबद्ध अक्षरों से युक्त हो, जिसमें अक्षरों की संख्या नियत हो, जो यतिच्छेद से युक्त हो, वह सार्थक शब्दसमूह 'निबद्ध पद' कहलाता है। (वह अनेक छन्दों से उत्पन्न होता है।[४७])

गीत

दशांश-लक्षणलक्षित स्वरसंनिवेश (राग या जाति), पद, ताल एवं मार्ग इन चार अंगों से युक्त गान गीत कहलाता है।[४८]

बहिर्गीत या निर्गीत

जिनमें सार्थक शब्दों के स्थान पर निरर्थक 'शुष्काक्षरों' या 'स्तोभाक्षरों' का प्रयोग हो, वे 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' कहलाते हैं।[४९] निर्गीत का अर्थ निरर्थक गीत

४४–गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदे तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावितम्॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ५३५ पाठ-भेद

४५–विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं निबद्धं चूर्णमेव वा। —भरत०, गा० सं०, अ० १४, पृ० २३४

४६–अनिबद्धं पदवृन्दं तथा चानियताक्षरम्। अर्थापेक्षाक्षरयुतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० २२४

४७–निबद्धाक्षरसंयुक्तं यतिच्छेदसमन्वितम्। निबद्धं तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियताक्षरम्॥
—भरत०, गा० सं०, अ० १४, पृ० २३४

४८–ग्रहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसंनिवेशविशेषो रागः। तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतम्।
—कल्लि०, सं०, र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३३

४९–निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात। —भरत०, गा० २ सं०, अ० ५, पृ० २२३

है।[५०] इस निर्गीत के आविष्कारक नारद हैं।[५१] इसको विशेषतया असुरों ने अपनाया, इसलिए देवताओं ने इसे बहिर्गीत कहना आरम्भ कर दिया।[५२]

स्तोभाक्षर या शुष्काक्षर

स्तोभाक्षरों या 'शुष्काक्षरों' का उपदेश ब्रह्मा ने किया है। वे हैं—

झण्टुं, जगतिप, वलितक, कुचझल, गितिकल, पशुपति, दिगिनिगि, दिग्ने, गणपति, तिचा।[५३]

आचार्य शार्ङ्गदेव के अनुसार—

'झण्टुं जगतिप वलिकित कुचझल तितिझल पशुपति दिगिदिगि वादिगोंग गणपति तितिधा' हैं। झण्टुं के स्थान पर 'ऋंटुं', 'दिगिदिगि' के स्थान पर 'दिग्ले', 'तितिधा' के स्थान 'तेचाम्' या 'तेन्नाम्' पाठ भी मिलते हैं। ओंकार और स्वर-व्यञ्जनयुक्त 'हकार' की गणना भी स्तोभाक्षरों में है।[५४]

ये स्तोभाक्षर पादपूर्ति के लिए भी उपयोगी हैं और ये सार्थक शब्दों की भाँति छन्दोबद्ध भी हो सकते हैं।

शुष्काक्षरयुक्त एक विशिष्ट छन्द का रूप नौ गुरु, छः लघु और तीन गुरु है। उदाहरण इस प्रकार है—[५५]

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ
१	२	३	४	५	६	७	८	९,	१	२	३	४	५	६,	१	२	३
दि	ग्ले	दि	ग्ले	झं	टुं	झं	टुं	जं	बु	क	व	लि	त	क	ते	त्ते	न्नाम्

वर्णा झण्टुमादयः स्थाय्यादयश्च।

—अभि०, भरत०, गा० २ सं०, अ० ५, पृ० २२३

५०—निर्गीतमिति तावदाद्यं नाम। निरर्थकं गीतमिति।

—अभि०, भरत०, गा० २ सं०, अ० ५, पृ० २२३

५१—नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैस्सभायां देवदानवाः। निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयताल-समन्वितम्॥ भरत०, गा० २ सं०, अ० ५, पृ० २२१

५२—एवं निर्गीतमेतत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः। देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमिति स्मृतम्॥

—भरत०, गा० २ सं०, अ० ५, पृ० २२२

५३—नान्य०, भ० को०, पृ० ७४७

५४—सं० र०, अ० सं०, ताल०, पृ० १२९

५५—भरत०, ब० सं०, पृ० ७९

इस छन्द में सार्थक पदों की योजना भी सम्भव है और प्रत्येक छन्द में शुष्काक्षरों की भी योजना सम्भव है। इसी प्रकार अवनद्ध वाद्यों के पाटाक्षरों (बोलों) से भी छन्द का निर्माण सम्भव है।

पूर्वोक्त मद्रक इत्यादि सप्त गीतों का लम्बा विधान है, वह विधान सप्तरूप विधान कहलाता है। बहिर्गीत उस सप्तरूप विधान से युक्त होते हैं। शुष्काक्षरों का गान 'स्तोभक्रिया' भी कहलाता है।

ध्रुवा-गीत

गीति का आधारभूत नियत पदसमूह 'ध्रुवा' कहलाता है।[५६] नारद इत्यादि द्विजों ने अनेक प्रकार से जिन गीताङ्गों का विनियोग किया है, उन सबकी संज्ञा 'ध्रुवा' है।[५७] जो ऋचाएँ, पाणिका एवं गाथाएँ हैं, जो सप्तरूप के अङ्ग और प्रमाण हैं उन सबकी संज्ञा 'ध्रुवा' है।[५८] इनमें वाक्य, वर्ण, यति, पाणि और लय के अविचल रूप से संबद्ध रहने के कारण इन्हें 'ध्रुवा' कहा गया है।[५९]

'जाति' (वृत्ताक्षरप्रमाण), 'प्रकार' (सम, अर्धसम, विषम इत्यादि), 'प्रमाण' (षट्कल, अष्टकल), 'स्थान' तथा नाम इन पाँच कारणों से ध्रुवाओं के अनेक भेद हो जाते हैं।[६०]

प्रयोग के अवसरों में भेद होने से ध्रुवा के पाँच प्रकार––प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा हो जाते हैं।[६१]

५६–ध्रुवा-गीत्याधारो नियतः पदसमूहः।
––अभि० गा० सं० २, अध्या० ६, पृ० २७०

५७–ध्रुवासंज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः। गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः॥
––भरत०, ब० सं०, पृ० ५३२

५८–या ऋचः पाणिका गाथास्सप्तरूपाङ्गमेव च।
सप्तरूपप्रमाणं च तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम्॥
––भरत०, ब० सं०, पृ० ५३२

५९–वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतयः पाणयो लयाः। ध्रुवमन्योन्यसंबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः॥
––भरत०, ब० सं०, पृ० ५३३

६०–जाति(:)स्थानं प्रकारश्च प्रमाणं नाम चैव हि।
ज्ञेया ध्रुवाणां नाट्यज्ञैर्विकल्पाः पञ्चहेतुकाः॥ ––भरत०, का० सं०, पृ० ४१७

६१–प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्।
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ......॥ " "

प्रावेशिकी

नाटक में अंकारम्भ के समय पात्र रङ्गमञ्च पर आकर विभिन्न रसों और अर्थों से युक्त जिस ध्रुवा का गान करे, वह 'प्रावेशिकी' ध्रुवा कहलाती है।[६२]

नैष्क्रामिकी

अङ्क के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण के समय निष्क्राम के गुणों से युक्त जो ध्रुवा गायी जाती है, उसे 'नैष्क्रामिकी' कहते हैं।[६३]

आक्षेपिकी

विधि के जाननेवाले गुणी नाटय में क्रम का उल्लङ्घन करके जिस ध्रुवा का प्रयोग करते हैं, वह 'आक्षेपिकी' है।[६४]

प्रासादिकी

जो ध्रुवा अन्य रस को प्राप्त अवस्था का, अपने आक्षेप से, परिवर्तन करके रङ्ग-स्थल में प्रसन्नता का सञ्चार कर देती है, वह 'प्रासादिकी' कहलाती है।[६५]

अन्तरा

पात्र के विषादयुक्त, विस्मृत, क्रुद्ध, सुप्त, मत्त, विश्रान्त, मूर्च्छित या पतित होने पर दोषों को ढकने के लिए प्रयुक्त होनेवाली ध्रुवा 'अन्तरा' कहलाती है।[६६]

अन्य दृष्टियों से होनेवाले ध्रुवा-भेदों पर विचार इस अवसर पर अनावश्यक होने के कारण नहीं किया जा रहा है।

६२—नानारसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशेषु ।
प्रादेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया सा ध्रुवा तज्ज्ञैः । —भरत०, ब० सं०, पृ० ५८९

६३—अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु ।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ॥ —भरत०, ब० सं०, पृ० ५८९

६४—क्रममुल्लङ्घ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ ।
आक्षेपिकी ध्रुवासौ...... —भरत०, ब० सं०, पृ० ५८९

६५—या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् प्रसादयति ।
राग (रङ्ग) प्रसादजननीं विद्यात्प्रासादिकीं तां तु ॥
—भरत०, ब० सं०, पृ० ५८९

६६—विषण्णे विस्मृते क्रुद्धे सुप्ते मत्तेऽथ सङ्गते ।
गुरुभारावसन्ने च मूर्च्छिते पतिते तथा ॥ —भरत०, का० सं०
दोषप्रच्छादने या च गीयते सान्तरा ध्रुवा ॥ —भरत०, ब० सं० पृ० ५८९

ध्रुवापद

ध्रुवा-गान के लिए महर्षि ने अनेक वृत्तो एवं छन्दों का विधान किया है, जो गेय हैं। वे ध्रुवापद या ध्रुवावृत्त कहलाते हैं। वे अनेक हैं।

पूर्वरङ्ग

रङ्गस्थल में सब से पूर्व किया जानेवाला प्रयोग पूर्वरङ्ग कहलाता है।[६७] गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य इत्यादि समस्त या व्यस्त रूप में नाटक से पूर्व प्रयुक्त किये जाने पर भी नाट्याङ्ग रहते हैं और उनकी संज्ञा 'पूर्वरङ्ग' होती है।[६८] इसके अनेक अङ्ग हैं।

सन्धियाँ

नाटक में वर्ण्य वस्तु के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को व्यक्त करनेवाले स्थल सन्धि कहलाते हैं। वे पाँच हैं,—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।[६९]

आलाप

ग्रह, अंश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडुव की स्थिति जहाँ दिखाई दे, उसे रागालाप कहा जाता है।[७०] आलाप में अपन्यास स्वरों पर रुका नहीं जाता इसलिए वह एकाकार होता है।[७१]

६७—यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ।।

६८—गीततालवाद्यनृत्तपाठ्यं व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमानं यन्नाटचाङ्गभूतं स पूर्वरङ्ग इत्युक्तं भवति । —अभि०, गा० सं० र०, अध्या० ५, पृ० २०९

६९—मुखं प्रतिमुखञ्चैव गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहणञ्चेति नाटके पञ्च सन्धयः ।।
—भरत०, गा० सं०, अध्याय० १९, पृ० २३

७०—ग्रहांशतारमन्द्राणां न्यासापन्यासयोस्तथा ।
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि ।
अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते ।।
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २०–२१

७१—अपन्यासेष्वविरम्यैकाकारेण प्रवृत्त आलापः ।
—कल्लि० सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २१

रूपक

अपन्यास स्वरों पर रुक रुककर किया जानेवाला 'आलाप' रूपक कहलाता है, उसमें गीतखण्ड पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं।[७२] रञ्जक स्वर-सन्दर्भ गीत कहलाता है।[७३]

आक्षिप्तिका

चञ्चत्पुट इत्यादि तालों और तीनों मार्गों (में से एक) से विभूषित स्वर तथा पदों से गूँथी हुई रचना 'आक्षिप्तिका' कहलाती है।[७४]

वर्तनी

प्रबन्ध के अन्तर्गत लयबद्ध परन्तु तालहीन विलम्ब आलाप 'वर्तनी' है।[७५] इसके पूर्व आलाप होता है।

करण

वर्तनी ही द्रुत लय में प्रयुक्त होने पर 'करण' कहलाती है।[७६]

७२–रूपकं तद्वदेव स्यात् पृथग्भूतविदारिकम् ।

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २१

स (आलाप) एवापन्यासेषु विरम्य विरम्य प्रवृत्तो रूपकमिति।

—कल्लि०, सं० टी०, अ० सं०, राग०, पृ० २१

७३–रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ।

—सं० र०, अ० सं०, प्रब०, पृ० १८७

७४–चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता ।
आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः ॥

—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० २१

७५–वर्तिन्यां वा विवर्तिन्यामालापस्तालवर्जितः ।
आदावारोप्यते यस्याः सा स्यादालापपूर्विका ॥

—सोमराज, भ० को०, पृ० ५८७

७६–मन्तव्योऽत्र सदा भेदैः (दो) वर्तिन्याः करणस्य च ।
सविलम्बस्वरैरेव वर्तिनी कथिता बुधैः ॥ —सोमराज, भ० को० पृ० ५८७

अनुबन्ध (२)

रस एवं स्वर-सन्निवेश

भावों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा प्राणिमात्र का स्वभाव है। भावाभिव्यक्ति के साधनों में नाद के उस रूप का भी एक विशिष्ट स्थान है, जो व्याकरण की दृष्टि से 'निरर्थक' होता है और जिसमें अभिधा वृत्ति नहीं होती।[1]

ये निरर्थक कहे जानेवाले नाद स्वतन्त्र रूप से भी भाव-व्यञ्जन में समर्थ होते हैं और भाषा की भी सहायता करते हैं। भाषा के जिस वाचन को 'पाठ' की संज्ञा दी जाती है, वह स्वरसंवलित होने पर ही पाठ कहलाता और वक्ता के वास्तविक अभिप्राय का बोध कराता है। उस अवस्था में स्वर अपने स्थानों का स्पर्शमात्र करते हुए ऊँचे-नीचे होते हैं, उनके अवधानपूर्ण अनुरणनात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण उस समय नहीं होता। यदि ऐसा हो, तो पाठ एवं गान में कुछ भेद ही न रह जाय।[2]

अस्तु, भावव्यञ्जन की दृष्टि से हमारे मनीषी पूर्वजों ने पाठ-प्रयोज्य अनुरणनहीन ध्वनियों का भी सप्रयोग वर्गीकरण किया है एवं जिन निष्कर्षों पर वे पहुँचे हैं, वे चिरकाल की सतत साधना के परिणाम हैं। उन्होंने कहा है कि शब्दों को सस्वर एवं

१–इह येयं प्रथमेन संवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीना वाग् जन्यते, सा नादरूपा सती हर्षशोकादिचित्तवृत्ति विधिनिषेधाद्यभिप्रायं वा तत्कार्य्यलिङ्गतया वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावत् स्थितम्।

—अ० भा०, गा० सं०, अ० १७, पृ० ३८७

२–उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितरूपतया स्वराणां यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमयं तत्त्यागेनोच्चनीचमध्यमस्थानसंस्पर्शित्वमात्रं पाठचोपयोगीति। यदि स्वरगता रक्तिः पाठचे प्राधान्येनावलम्ब्येत तदा गानक्रियासौ स्यात्, न पाठः।..... तस्माद् गानवैलक्षण्याय रक्तिलक्षणं धर्म्ममनादृत्योच्चादिस्थानसंस्पर्श एवात्र प्रधानमिति...। —अ० भा०, गा० सं०, अ० १७, पृ० ३८५-३८६

उचित स्वर रूप में बोला जाय, तभी वे प्रयोक्ता के अर्थ का साधन करते हैं, अन्यथा वे हानिकारक भी हो सकते हैं।[३]

'पाठ्य' वस्तु में स्वर-प्रयोग हमारे विचार का विषय यहाँ नहीं। गेय स्वरसमुच्चय में भाव-व्यञ्जन की शक्ति ही हमारा प्रस्तुत विषय है। गीत या रञ्जक स्वर-सन्दर्भ से रस-परिपाक की प्रक्रिया को समझने के लिए नाट्यरस की प्रक्रिया को समझना परमावश्यक है।

नाट्य में रसप्रक्रिया

स्थायी भाव

हम जो कुछ देखते, सुनते या अनुभव करते हैं, उसका संस्कार हमारे मन पर पड़ता है। अनुभव क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाता है, परन्तु वह एक स्थायी संस्कार छोड़ जाता है, जिसे 'वासना' भी कहा जाता है। अनुकूल या उद्बोधक सामग्री पाकर हमारे मन में सुप्तप्राय ये संस्कार जाग जाते हैं। वे संस्कार इस जन्म के तथा पूर्व जन्मों के भी हो सकते हैं। इन संस्कारों की गणना असम्भव है, तथापि प्राचीन आचार्य्यों ने उनको निश्चित करने की सीमित चेष्टा की है। ये स्थायी भाव कहलाते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और भय आठ स्थायी भाव हैं, परवर्ती आचार्यों ने एक नवाँ स्थायीभाव निर्वेद भी माना है। इन नवों स्थायी भावों में भी कुछ प्रधान हैं।

विभाव

विभाव दो हैं—'आलम्बन 'और' उद्दीपन।' नायिका एवं नायक इत्यादि स्थायी भावों को उद्बुद्ध करने के कारण 'आलम्बन' कहलाते हैं। बाह्य परिस्थितियाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य इत्यादि वस्तुएँ आलम्बन विभावों के द्वारा उद्बुद्ध स्थायी भावों को उद्दीप्त करने के कारण 'उद्दीपन विभाव' कहलाती हैं।

३—दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—महाभाष्य में उद्धृत

अथ यदब्रवीद् इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्माद् हैनमिन्द्र एव जघान। अथ यद् ह शश्वद-वक्ष्यद् इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वद् ह स इन्द्रमेवाहनिष्यत्।
—शतपथ ब्राह्मण, का० १, प्र० ५, ब्रा० २

अनुभाव

उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त वासनाओं या स्थायी भावों के प्रभाव से मनुष्य की चेष्टाए विभिन्न हो जाती हैं। इन चेष्टाओं या भाव-भंगिमाओं को 'अनुभाव' कहा जाता है।

सञ्चारी या व्यभिचारी भाव

मनुष्य के मन में स्थायी रूप से न रहनेवाले अर्थात् अस्थायी रूप से व्यक्त होनेवाले भाव सञ्चारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। ये अनेकों स्थायी भावों के उद्बोध के समय प्रकट होते हैं, इसी 'व्यभिचार' के कारण इन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। ये निम्नलिखित तेंतीस हैं—

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) पीड़ा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) विबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्थ, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास, (३३) वितर्क।

रसों की संख्या

प्रधान रस चार हैं—शृंगार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों की उत्पत्ति होती है। शृंगार की अनुकृति हास्य, रौद्र का कर्म्म करुण, वीर का कर्म्म अद्भुत एवं बीभत्स का दर्शन भयानक रस है।[४]

रसाभिव्यक्ति

"विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।"[५] यह महर्षि भरत का रससम्बन्धी विख्यात सूत्र है। इस सूत्र के 'संयोग'

४—शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥
—भरत०, गा० सं० २, अ० ६, पृ० २९७-२९८

५—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।
—भरत०, गा० सं० २, अ० ६, पृ० २७२

और 'निष्पत्ति' शब्द की व्याख्याएँ विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की हैं। उनमें निम्नोक्त चार दृष्टिकोण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

मीमांसक भट्ट लोल्लट का दृष्टिकोण

आचार्य भट्ट लोल्लट का मत है कि सीता आदि आलम्बन विभावों और उद्यान इत्यादि उद्दीपन विभावों से राम आदि आश्रयों में रति इत्यादि भावों का जन्म होता है। कटाक्ष, भुजाक्षेप इत्यादि अनुभावों (कार्यों) से वे प्रतीतियोग्य होते हैं, निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होते हैं। साक्षात् सम्बन्ध से वह रस (स्थायीभाव) अनुकरणीय (राम इत्यादि) में जन्म लेता है और उनका अनुकरण करनेवाले नटों (अभिनेताओं) में प्रतीयमान (सहृदयों द्वारा आरोप्यमाण) होता है।[६]

इस मत का निष्कर्ष यह है कि सर्प के न होने पर भी सर्प के रूप में देखी हुई रस्सी से भय का उदय जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार राम की, सीताविषयक, रति (अभिनय के समय) विद्यमान न होने पर भी नट की नाटचनिपुणता के कारण नट में प्रतीत होती हुई सहृदयों के हृदय में चमत्कार अर्पित करती एवं रसपदवी को प्राप्त होती है।[७]

आचार्य भट्ट लोल्लट का यह दृष्टिकोण 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। इसमें रस की उत्पत्ति ऐतिहासिक राम इत्यादि व्यक्तियों में और गौणरूपेण उसकी प्रतीति सामाजिकों में मानी है, फलतः सामाजिकों (दर्शकों या श्रोताओं) का कोई सम्बन्ध 'रस' के साथ नहीं रह जाता। अतः भट्ट लोल्लट से असहमति प्रकट करके आचार्य शंकुक ने अपने 'अनुमितिवाद' की स्थापना की।[८]

६—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्य्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्य्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः। इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

—का० प्र०, पृ० ८७

७—तदयं निर्गलितोऽर्थः—यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयाऽवलोकिताद् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति, तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिरविद्यमानाऽपि नर्तके नाटचनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदवीमधिरोहति। —वामन, का० प्र०, पृ० ८८

८—उक्ते प्रथमव्याख्याने अनुकार्य्ये रामादावेव रसनिष्पत्त्या सामाजिके रस-

नैयायिक आचार्य शंकुक का दृष्टिकोण

शंकुक का कथन है कि रस नट में नहीं होता, परन्तु सामाजिकों की वासना उस नट में स्थायी भाव का अनुमान करके रस का आस्वाद करती है। कुशल नट (अभिनेता) काव्यार्थ के साक्षात् और शिक्षा के अनुसार किये हुए अभ्यास से नाट्य-कर्म्म द्वारा अपने आप में उन कृत्रिम कार्य्य, कारण एवं सहकारियों का प्रकाश करता है, जो विभाव इत्यादि कहलाते हैं और सामाजिकों के द्वारा कृत्रिम नहीं माने जाते। नट में रस की प्रतीति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार चित्रनिर्मित अश्व में अश्व की प्रतीति होती है। यह प्रतीति 'सम्यक् प्रतीति' (राम ही यह है, यही राम है), 'मिथ्या प्रतीति' ('यह राम नहीं है'––इस पश्चात्कालीन ज्ञान से पूर्व होनेवाले भ्रम 'यह राम है'), 'संशय प्रतीति' (यह राम है या नहीं है) और 'सादृश्य प्रतीति' (यह राम के सदृश है) की अपेक्षा विलक्षण होती है। सौन्दर्य (चमत्कार) के कारण रसनीय (आस्वाद्यमान) होने से वस्तु (रति) अन्य अनुमीयमान (अनुमान-ज्ञेय) पदार्थों से भिन्न होती है।[१]

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार कुहरे से आवृत स्थान में कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहनेवाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणतापूर्वक विभाव आदि को 'ये मेरे ही हैं' इस रूप में प्रकाशित किये जाने

निष्पत्त्यभावात् सामाजिकानां चमत्कारानापत्तिरित्यरुचिं मनसि निधाय... श्रीशंकुकमतं द्वितीयम्।

––वामन, वही, पृ० ८८

१––राम एवायम् अयमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद् वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे......काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्य-प्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।

—का० प्र०, वही सं०, पृ० ८८-९०

के कारण, वस्तुतः अविद्यमान विभाव इत्यादि के द्वारा उनमें नियत रति अनुमीयमान होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वाद का विषय बनती और चमत्कार का आधान करती हुई 'रसत्व' को प्राप्त होती है।[१०]

इस मत में कई असङ्गतियाँ हैं। नट-रूप राम का रामत्व निश्चित नहीं, परन्तु उसे अनुमान का आधार बनाया जा रहा है। अनुभाव इत्यादि हेतु भी कल्पित या कृत्रिम हैं, परन्तु उन्हें अकृत्रिम माना जा रहा है। कृत्रिम हेतु के द्वारा साध्य स्थायी भाव भी सम्भावित मात्र (अयथार्य) हैं। अनुमिति भी कल्पित है।

सांख्यवादी भट्ट नायक के द्वारा अन्य मतों की आलोचना

भट्ट नायक का कथन है कि राम इत्यादि अनुकार्य और नट इत्यादि अनुकर्ता में रस की स्थिति मानने से सामाजिकों के हृदय के साथ उस पर-गत रस का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और वह तटस्थ सामाजिक के लिए निष्प्रयोजन होगा।

यदि रस की स्थिति स्वगत (सामाजिकों के हृदय में) मानें, तो भी सङ्गति नहीं बैठती, क्योंकि सीता इत्यादि विभावों के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है, जो सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं होते, अपितु राम इत्यादि के प्रति होते हैं।

यदि यह कहा जाय कि साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सीता इत्यादि से सीतात्व इत्यादि निकल जाते हैं, उनमें सामान्य कान्तात्व इत्यादि रह जाता है, फलतः वे सामाजिकों के प्रति भी विभाव आदि हो सकते हैं, तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि जब देवता इत्यादि का वर्णन होता है, तो उनके प्रति सामाजिकों के हृदय में पूज्य बुद्धि हो जाती है जो साधारणीकरण में बाधक है।

यदि यह कहा जाय कि अपनी कान्ता का स्मरण होने से सामाजिकों को रसास्वाद होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि रसास्वाद के क्षणों में न तो अपनी कान्ता याद आती है और रसास्वाद उन्हें भी होता है, जिनकी कान्ता न तो थी और न है।

१०—एतन्मतस्यायं निष्कर्षः—यथा कुज्झटिकाकुलिते देशेऽसतोऽपि धूमस्याभिमानाद् धूमनियतस्य वह्नेरनुमानम्, तथा नटेनैव सुनिपुणं 'ममैवैते विभावादयः'—इति प्रकाशितैस्तत्रासद्भिरपि विभावादिभिस्तन्नियता रतिरनुमीयमानापि निजसौन्दर्यबलात् सामाजिकानामास्वाद्यमानतया चमत्कारमादधती रसतामेतीति रतेरनुमितिरेव रसनिष्पत्तिः।

—वामन, का० प्र० टी०, वही सं०, पृ० ९०

रस की अभिव्यक्ति मानने पर भी सङ्गति नहीं बैठती, क्योंकि अभिव्यक्ति तो उस वस्तु की होती है, जो पहले से सिद्ध हो, अन्धकार में पहले से विद्यमान वस्तुओं का प्रकाशन दीपक करता है, परन्तु रस की सत्ता उसके अनुभव से पूर्व या पश्चात् नहीं रहती। फलतः—

भट्ट नायक का दृष्टिकोण

परगत या स्वगत भाव से रस प्रतीत, उत्पन्न या अभिव्यक्त नहीं होता, अपितु काव्य एवं नाटच में, अभिधा वृत्ति से अतिरिक्त, भावकत्व व्यापार से विभाव आदि का साधारणीकरण (व्यक्तिविशेष अंश के परित्याग से उपस्थापन) हो जाता है। अतः भावकत्व व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत होते हुए) स्थायी भाव की भुक्ति होती है। इस भुक्ति का कारण अन्य ज्ञेय वस्तुओं के सम्पर्क से शून्य स्थिति या सत्त्वोद्रेक से प्रकाशरूप आनन्दमय साक्षात्काररूप भोग होता है।[११]

इस मत का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार शब्द का व्यापार अभिधावृत्ति (शब्द का सीधा सादा अर्थ बतानेवाली वृत्ति) है, उसी प्रकार काव्य एवं नाटच में अभिधा से विलक्षण 'भावकत्व' एवं 'भोजकत्व' दो व्यापार हैं। काव्यार्थ के बोध के पश्चात्, भावकत्व व्यापार से विभावादि रूप सीता आदि, सीतात्व को और राम-सम्वन्धिनी रति रामत्व से सम्वद्ध अंश को छोड़कर, सामान्यतया कामिनीत्व रतित्व आदि के रूप में उपस्थापित होते हैं। उक्त रीति से साधारणीकृत विभाव आदि का

११—न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाटचे चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी तत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

—का० प्र०, वही सं०, पृ० ९०

काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाटचे चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमय-निजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते (इति भट्टनायकः)।

—अभिनव०, गा० सं० २, अ० ६, पृ० २७७

योग भोजकत्व व्यापार से होता है, तत्पश्चात् सहृदय सामाजिक उस भोजकत्व व्यापार के द्वारा रति का आस्वाद करते हैं।[१२]

भट्ट नायक के इस मत से श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य को सन्तोष न हुआ और उन्होंने भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की कल्पना को प्रमाणहीन और उस प्रकार के साक्षात्कार की कल्पना को भी प्रमाणहीन माना है। वे भावकत्व एवं भोजकत्व दोनों को व्यञ्जना का ही रूप मानते हैं।* इनके मत में साधक काव्य है, साधन व्यञ्जना है और साध्य रस है। इनका दृष्टिकोण निम्नोक्त है—

आलंकारिक आचार्य अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण

अभिनवगुप्तपादाचार्य्य का कथन है कि लोक में प्रमदा के कटाक्ष इत्यादि से जो सहृदय व्यक्ति यह निश्चित अनुमान कर लेते हैं कि उसके हृदय में व्यक्तिविशेष के प्रति रति है, उन्हीं को काव्य में रस का आस्वाद होता है।

लोक में जो प्रमदा इत्यादि लौकिक कारण होते हैं, वे काव्य और नाटच में विभावन इत्यादि अलौकिक (काव्यगत, नाटचगत) व्यापारों से युक्त हो जाने के कारण विभाव इत्यादि कहलाने लगते और लौकिक कारणत्व का परित्याग कर देते हैं।

'ये विभाव मेरे हैं—न मेरे हैं, न शत्रु के हैं—न तटस्थ व्यक्ति के हैं' इन लौकिक सम्बन्ध-विशेषों के स्वीकार या परिहार के अनिर्णय के कारण वे विभाव सामान्यतया कामिनी इत्यादि रूपों में रह जाते हैं।

१२—शब्दस्याभिधारूपवत् काव्यनाटचयोस्तद्विलक्षणं भावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयमतिरिक्तमस्ति, काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपसीतादयो रामसंबन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामत्वसम्बन्धांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते, अन्त्येन भोजकत्वव्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृतविभावादिसहकृतेन सा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते (अत एव असत्या अपि रतेरास्वादः अलौकिकत्वादुपपन्नः) इति रतेरास्वाद एव रसनिष्पत्तिरिति।

—वामन, का० प्र०, वही सं०, पृ० ९१

*वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों में क्रमशः अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना वृत्तियाँ रहती हैं। ये वृत्तियाँ क्रमशः वाच्यार्थ (शब्दों के सीधे सादे अर्थ), लक्ष्यार्थ (वाच्यार्थ के असंघटित होने पर उससे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ) एवं व्यंग्यार्थ (वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न एवं विलक्षण अर्थ) का बोध कराती हैं। व्यञ्जना वृत्ति आलंकारिकों द्वारा मानी गयी है। 'रस' व्यंग्य होता है।

इन साधारणीकृत विभावों के द्वारा, सामाजिकों में वासनात्मक रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति होती है। साधारण (व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से हीन) उपाय के बल से वे विभाव उस समय सामाजिकों की परिमित (सीमित) स्थिति को 'विगलित' कर देते हैं और उन सामाजिकों में एक ऐसी अपरिमित चित्त-वृत्ति का उदय हो जाता हैं, जिसमें अन्य वेद्य विषयों के साथ उन सामाजिकों का कोई सम्पर्क नहीं रहता। फलतः समस्त सहृदयों के संवाद (एक स्थान पर देखी हुई वस्तु के, अन्य स्थान में, वैसे ही दर्शन) के पात्र साधारण्य के द्वारा सहृदयों को रस का आस्वाद होता है।

वह रस सामाजिकों से, उनके अपने आकार के समान, अभिन्न होता है, आस्वाद्य-मानता ही उसका प्राण है। सहृदयों को रसास्वाद उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानक-रस (इलायची, मिर्च, शर्करा, कर्पूर, खटाई इत्यादि को मिलाकर बनाये हुए पेय पदार्थ के स्वाद) का होता है। वह रस सर्वत्र परिस्फुरित होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, प्रत्यङ्ग को (अमृत के समान) स्पर्श करता हुआ-सा, अन्य समस्त ज्ञेय पदार्थों का तिरोधान करता हुआ सा, ब्रह्मास्वाद का अनुभव कराता हुआ-सा और लौकिक सामग्रीजन्य आस्वाद की अपेक्षा विलक्षण एवं चमत्कारपूर्ण होता है।

वह रस उत्पाद्य (कार्य) नहीं होता, क्योंकि कारण के विनाश से तो कार्य का विनाश हो जाता है, परन्तु सीता आदि विभावों के वस्तुतः न होने पर भी सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद होता है। वह रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं होता, क्योंकि ज्ञापन तो पहले से सिद्ध वस्तु का होता हैं, रस पहले से सिद्ध नहीं होता, अपितु विभाव आदि के द्वारा व्यञ्जित होकर आस्वाद्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि 'कारक' और 'ज्ञापक' के अतिरिक्त यह तृतीय विलक्षण वस्तु कहाँ से निकल आयी ? तो यह तीसरी विलक्षण या अलौकिक वस्तु यहीं विद्यमान है, क्योंकि अलौकिक कार्य के लिए अलौकिक कारण भी होना चाहिए, अतः विभावादि व्यञ्जकों की अलौकिकता उनका दूषण न होकर भूषण ही है।

चर्वणा की उत्पत्ति को ही व्यवहार में रसोत्पत्ति कह दिया जाता है, फलतः रस को कार्य भी कह दिया जाय। वह प्रत्यक्ष इत्यादि लौकिक ज्ञान, अपक्व योगियों के प्रमाणनिरपेक्ष ध्यानजन्य ज्ञान, और पक्व योगियों के लौकिक संस्पर्श से शून्य स्वस्वरूप-विषयक एवं आत्ममात्र-विषयक ज्ञान से भी ग्राह्य नहीं होता। क्योंकि उसमें विभाव आदि अलौकिक पदार्थ भी रहते हैं, इसी लिए वह रस लोकातीत स्व-संवेदन (ज्ञान) का विषय होता है, अतः उसे ज्ञेय भी कह दिया जाय।

रसग्राहक ज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता, क्योंकि उसमें विभावादि-सम्बन्ध प्रधान होता है और निर्विकल्पक ज्ञान तो नाम, रूप, जाति-विशेषों से रहित होता है। वह स्वसंवेदन सविकल्पक ज्ञान भी नहीं, क्योंकि अलौकिकानन्दमय रस के आस्वाद की अवस्था में अन्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। फलतः इन दोनों ज्ञानों की अपेक्षा वह विलक्षण भी है और उभयात्मक भी, अतः उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है।[१३]

गीत और रस

रञ्जक स्वर-सन्दर्भ गीत कहलाता है। गीत कण्ठ, तन्त्री या सुषिर से अभिव्यक्त हो सकता है। ये तीनों जब मिल जाते हैं, तब स्वर्ण, गन्ध और कोमलता का

१३—लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादि--शब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते—इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

स च न कार्य्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्, नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्य्योऽप्युच्यताम्, लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित--स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षण--लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः।

—का० प्र०, वही सं०, पृ० ९५

मिश्रण-सा हो जाता है, परन्तु निरपेक्ष रहकर भी ये तीनों साधन पृथक्-पृथक् रूप में भी 'गीत' की ही अवतारणा करते हैं। भगवान् वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के वेणु-वादन को 'वेणु-गीत' कहा है।

प्राचीन आचार्यों ने गीत में व्यञ्जना शक्ति मानी है[१४], इसी लिए वे गीत से रस-व्यञ्जना के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[१५] आनन्दवर्धन तथा उनके विरोधी भी गीत-शब्दों में रस-व्यञ्जना की शक्ति मानते हैं और कहते हैं कि गीत के शब्द अवाचक होने पर भी रस-व्यञ्जक होते हैं।[१६]

जिस प्रकार सार्थक शब्दों का एक वाचक रूप होता है, उसी प्रकार गेय स्वरों का एक विशिष्ट रूप होता है। 'स्थायी' (आधारभूत) स्वर की अपेक्षा स्वरविशेष का अन्तर उसके स्वरूप को स्पष्ट करता है। जिस प्रकार वाक्य के अङ्गभूत शब्द वाच्यार्थ के पश्चात् व्यंग्यार्थ का बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वरसन्दर्भ के अङ्गभूत स्वर अपने स्वरूप के पश्चात् भाव या रस का बोध कराते हैं। अर्थात् गेय स्वर का 'स्वरूप' व्यंग्यार्थ के बोधन में वही कार्य करता है, जो व्यञ्जक शब्दों का वाचक रूप करता है। गीत में स्वरों का अपना स्वरूप ही व्यञ्जना का माध्यम है, उन्हें व्यंग्यार्थ बोधन के लिए सार्थक शब्दों के समान वाचकता पर निर्भर नहीं रहना होता।

आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि जिन नील, मधुर इत्यादि वस्तुओं का इन्द्रियजन्य ज्ञान सभी को होता है, भिन्न-मति व्यक्ति भी उन वस्तुओं के विषय में

१४—न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमात्।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ, पृ० ३४६

१५—ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ०, पृ० ३३४

१६—तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ०, पृ० ३५८

मतभेद के शिकार नहीं होते। जिस वस्तु के नील रूप का निर्बाध ज्ञान हो रहा हो, उसके विषय में कोई भी नहीं कहेगा कि वह वस्तु पीली है, नीली नहीं। उसी प्रकार वाचक शब्दों, अवाचक गीतध्वनियों एवं अशब्द चेष्टाओं (मुद्राओं) की सर्वानुभवसिद्ध व्यञ्जकता को भला कौन अस्वीकृत कर सकता है?[१७]

रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ भी काव्य, गीत एवं नाटच को निरपेक्ष रूप में अर्थात् पृथक्-पृथक् रस का उद्गम स्थान मानते हैं।[१८]

भाषा की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। भाषाविशेष का मर्मज्ञ सहृदय व्यक्ति ही काव्य के द्वारा रसास्वाद करता है, परन्तु गीत का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है।[१९] गीत से तो तिर्यक् योनियों में उत्पन्न प्राणी भी आनन्द-मग्न होते और प्राण तक दे देते हैं।[२०] नाद के इस प्रभाव के कारण ही महर्षि भरत ने गीत को नाटच की शय्या कहा है। गीत के द्वारा 'असहृदय' व्यक्तियों के हृदय में पड़ी हुई राग-द्वेष की ग्रन्थियाँ भी घुल जाती हैं, उनका हृदय भी तरल हो जाता है और वे भी सहृदयों के समान ही रसास्वाद करने लगते हैं।

तिर्यक् योनि में उत्पन्न होनेवाले प्राणी अपने भावों की अभिव्यक्ति भी नाद के द्वारा ही करते हैं, हमारे पास उनके मनोभावों को जानने का यही साधन है। भाषा भले ही कभी-कभी ठीक-ठीक मनोभावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो, परन्तु नाद कभी असफल नहीं होता। हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियों को व्यक्त करनेवाले नाद-रूप सार्वभौम हैं, वे भाषा की भाँति एकदेशीय नहीं। कालिदास के मूल काव्य

१७—न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते।
—ध्व०, कारिका ३३, वृ०, पृ० ३७६

१८—नाटचे गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसश्शुद्धबुद्धस्वभावः।
—भ० को०, पृ० ५२९

१९—अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्य्यङ्किकागतः।
रुदन् गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥

२०—वने चरन् तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसङ्गीते गीते यच्छति जीवितम्॥

का आनन्द असंस्कृतज्ञ व्यक्ति नहीं ले सकता, परन्तु नाद-सौन्दर्य-जनित आनन्द का अनुभव प्रत्येक को होता है।[२१]

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप को हम एक बार पुनः ध्यान में रख लें —

"रजोगुण एवं तमोगुण से अस्पृष्ट अन्तःकरण सत्त्व कहलाता है[२२] या बाह्य विषयों से चित्तवृत्तियों को हटानेवाला अन्तःकरण का धर्मविशेष 'सत्त्व' है[२३]। रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर 'सत्त्व' का प्रकाशित होना उसका 'उद्रेक' कहलाता है।[२४] सत्त्व के उद्रेक के कारण अखण्ड, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप चेतना 'रस' है। अन्य पदार्थों का ज्ञान उस चेतना के समय नहीं होता। वह चेतना या अनुभूति ब्रह्मा-स्वाद-सहोदर है। अलौकिक चमत्कार, अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण के दब जाने के परिणामस्वरूप हो जानेवाला चित्त का विस्तार, इसका प्राण है। कुछ प्राक्तन पुण्यशाली सहृदय सामाजिक उसी प्रकार उस रस का अनुभव करते हैं, जिस प्रकार वे अपने आपसे अभिन्न अपने आकार का अनुभव करते हैं।"[२५]

२१—तथा च प्राण्यन्तरस्य मृगसारमेयादेरपि नादमाकर्ण्य भयरोषशोकादि प्रतिपद्यते, तदयं नादाच्चित्तवृत्त्याद्यवगमोऽनुमानं तावत्। ये त्वेते वर्णविशेषास्ते तन्नाद-रूपसामान्यात्मकपदतन्तु (न्तु) ग्रन्थिमया इव प्राच्यप्रयत्नातिरिक्तनिमित्ता-न्तरापेक्षाः, तत एवानभिप्रेतेऽन्यथापि प्रयोक्तुं शक्याः, अत एव दृष्टव्यभिचाराः। नादस्तु झटित्युद्भिन्नमुखरागपुलकस्थानीयो नान्यथासिद्धोऽन्यथासिद्धं शब्दार्थं बाधते। —अभि०, गा० सं०, अध्या० १७, पृ० ३८७

२२—रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् उद्धृत

२३—इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्म्मः सत्त्वम्।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् वृत्ति

२४—तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् वृत्ति

२५—सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

जो लोग स्वभाव से ही स्वच्छ दर्पण के समान हृदय से युक्त हैं, वे अपने मन को संसारोचित क्रोध, लोभ, इच्छा आदि के वशीभूत नहीं होने देते, उनके लिए 'दश रूपकों' (रूपक के दस भेदों) के श्रवण मात्र से वह 'रस' स्पष्ट होता है, जो साधारण रसनात्मक चर्वणा के द्वारा ग्राह्य है। जो लोग वैसे विशुद्धान्तःकरण नहीं उन्हें भी वैसी चर्वणा कराने के लिए नट आदि की प्रक्रिया है। ऐसे लोगों के क्रोध, शोक आदि से ग्रस्त हृदय की ग्रन्थियों का भञ्जन करने के लिए महर्षि भरत ने 'गीत' आदि (वाद्य, नृत्य) की प्रक्रिया विरचित की है।[२६]

उपर्युक्त पंक्तियों से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(अ) रस एक विशेष चेतना है, जो रजोगुण एवं तमोगुण के दब जाने पर होती है।

(आ) मनुष्य उस चेतना के क्षणों में रज एवं तम से उत्पन्न व्यक्तिगत चिन्ता, क्रोध, शोक इत्यादि से मुक्ति पा लेता है।

(इ) गीत अर्थात् स्वरसन्निवेश भी रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न व्यक्तिगत हर्ष, शोक इत्यादि हृदयग्रन्थियों का भञ्जन करने अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्व का उद्रेक करने में समर्थ है।

स्वरसन्निवेश से रसपरिपाक की प्रक्रिया

दूसरों को सुनाने एवं आनन्दित करने की दृष्टि से गीत की सृष्टि करते समय गायक या वादक जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे वास्तविक भावों का अभिनय ही होते हैं। करुण भावों की अभिव्यक्ति के समय कलाकार लौकिक रूप में पीडित नहीं होता। फलतः स्वरों द्वारा भावों का अभिनय करते समय कलाकार की स्थिति अभिनेता से भिन्न नहीं होती। हाँ, अभिनेता की अपेक्षा उसके पास साधन सीमित होते हैं। गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिये बिना ही स्वरसंवलित, शुष्काक्षरों से अथवा आलाप द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है, उसकी कण्ठध्वनि अनुकूल 'काकु' से

२६—तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एवं संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चयो नाटचलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता।

—अभिनव०, गा० सं० २, अ० ६, पृ० २९१

युक्त होती है और उसकी मुद्राएँ भावानुकूल होती जाती हैं, परन्तु वह अभिनेता के समान पात्रविशेष के वेष इत्यादि से युक्त नहीं होता।

गायक स्वरसन्निवेश के द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे 'साधारण्य' एवं 'प्राणिमात्र-हृदयसंवाद' के कारण 'सावधान' श्रोताओं की, रजस्तमोनिर्मित रागद्वेषरूप ग्रन्थियों को विगलित करके उनके हृदय में उस चेतना का अनुभव करा देते हैं, जिसे 'रस' कहा जाता है।

स्वरसन्निवेश की इसी शक्ति के कारण हरिण-जैसे प्राणी में भी उस लौकिक भय का विगलन हो जाता है, जो लौकिक स्थिति में उसे लुब्धक से चौकन्ना रखता है। फलतः स्वरसन्निवेश के प्रभाव से सहृदय हरिण सहृदयता का अभिनय मात्र करनेवाले कलाकार लुब्धक की हृदयहीनता का ग्रास बन जाता है।

महाकवि कालिदास ने कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर प्राणी के मन में जन्मान्तर से स्थित भावनाएँ जाग जाती हैं।[२७] जहाँ तक नाद-माधुरी का सम्बन्ध है, वह तिर्यक् योनि के प्राणियों तक को तो प्रभावित करती ही है, श्रीमद्भागवत के अनुसार जड़ प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है।[२८]

गान-क्रिया में स्थायी, उसके संवादी एवं सञ्चारी स्वरों का कार्य

नाटच की रस-प्रक्रिया में सीता आदि आलम्बन विभाव, पुष्पवाटिका इत्यादि उद्दीपन विभाव, आश्रय की चेष्टा आदि अनुभाव और निर्वेद, उत्सुकता इत्यादि संचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

स्वर-सन्निवेश के द्वारा रस-प्रक्रिया में स्थायी भाव का आलम्बन 'अंश स्वर' होता है, जिसकी संज्ञा 'स्थायी स्वर' होती है। 'स्थायी स्वर' का संवादी स्वर 'उद्दीपन विभाव' का कार्य करता है, प्रयुज्यमान 'अनुवादी स्वर' अनुभाव का कार्य करते हैं और 'स्थायी स्वर' को उभारते रहते हैं एवं 'सञ्चारी स्वर' सञ्चारी भावों के प्रकाशक होते हैं।

२७—रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्य्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल

२८—नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्तिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अ० २१, श्लो० १५

अतः यह कहा जा सकता है—

स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त, अनुवादी स्वरों द्वारा अनुभावित और सञ्चारी स्वरों द्वारा परिपोषित, सहृदयों की वह चेतनाविशेष 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुण-जनित उनकी रागद्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं।

स्थायी स्वर, संवादी स्वर, अनुवादी स्वर एवं सञ्चारी स्वर ये चारों ही परिभाषाएँ नाट्यशास्त्र में आयी हैं। नाट्यशास्त्र में स्वर-सन्निवेश के द्वारा स्वतन्त्ररूपेण रस-परिपाक पर पृथक् विचार उसी प्रकार नहीं किया गया है, जिस प्रकार श्रव्य काव्य अथवा मुक्तक काव्य में रस-परिपाक पर विचार नहीं।

जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के साहचर्य में आकर सहृदय की हृदय-ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं, उसी प्रकार नाद-सौन्दर्य उसके हृदय को विगलित कर देता है। ऐसी स्थिति में रस-परिपाक के लिए किसी कथा या घटना की आवश्यकता नहीं होती।

स्थायी स्वरों का रसों में विनियोग

स्थायी स्वर	रस	स्थायी भाव
षड्ज	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
ऋषभ	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
गान्धार	करुण	शोक
मध्यम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
पञ्चम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
धैवत	वीभत्स, भयानक	भय, जुगुप्सा
निषाद	करुण	शोक

जब तक स्वर 'स्थायी' नहीं होता, तब तक वह 'भाव' का प्रकाशक होता है, 'रस' का नहीं। उस अवस्था में उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव 'सञ्चारी' होता है, स्थायी भाव नहीं। उस समय वह स्वरविशेष 'स्थायी स्वर' पर आलम्बित स्थायी भाव का परिपोषण करता है।

अनुभव यह सिद्ध करता है कि जिन रागों में मध्यम स्थायी स्वर होता है, वे संयोग शृंगार और जिनमें पञ्चम अंशस्वर होता है, वे विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार के व्यञ्जक होते हैं।

अन्तरगान्धार एवं काकली निषाद भी शोकव्यञ्जक होते हैं, ये भरतसंप्रदाय में स्थायी नहीं होते।

जातिप्रयोग एवं रागप्रयोग में रसाभिव्यञ्जक स्वर प्रयोज्य स्थायी स्वर होता है। अतएव 'स्थायी स्वर' परिवर्तित होने पर एक ही 'जाति' पृथक्-पृथक् रसों में विनियुक्त होती है।

उदाहरणतया षाड्जी जाति के पाँच रूप होते हैं, क्योंकि इसके अंशस्वर या स्थायी स्वर षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम एवं धैवत होते हैं। षड्ज स्थायी स्वर होने पर वीर, अद्भुत, रौद्र, गान्धार या निषाद अंश होने पर करुण, मध्यम या पंचम के स्थायी होने पर शृङ्गार एवं धैवत के अंश होने पर बीभत्स या भयानक रस की अभिव्यक्ति होती है।

स्थायी स्वर में भेद होने पर प्रयोज्य सप्तक का रूप बदल जायगा, क्योंकि स्थायी या अंश स्वर ही सप्तक या स्थान का आरम्भक स्वर होता है। इस प्रकार षाड्जी के एक शुद्ध भेद एवं चार अंश विकृत भेदों के लिए स्थायीभेद से हमें पाँच सप्तक मिलेंगे, जिनके रूप निम्नलिखित हैं—

१—षड्जांश षाड्जी के लिए—स, ३रे, २ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४स

इन आठ स्वरों में प्रथम सात स्वर षाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा का आरोह हैं, अन्तिम स्वर 'अंश' स्वर षड्ज का मध्य सप्तकीय रूप है। ये स्वर हमें षाड्जी का शुद्ध रूप देंगे और षाड्जी जाति का विशिष्ट वर्ण अर्थात् स्वरसन्निवेश हमें षड्ज अंश होने के कारण वीर, अद्भुत या रौद्र रस की अनुभूति करायेगा।

२—गान्धारांश षाड्जी के लिए—ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग*

---

* आधुनिक ठाठवादी शीघ्रतापूर्वक इस सप्तक को सरलता के साथ 'स, रे, ग, मं, प, ध, नि' कह देंगे। उससे केवल एक लाभ यह होगा कि उन्हें भरत-सम्प्रदाय में 'तीव्र मध्यम' का दर्शन हो जायगा, जो कि वास्तव में भरत का धैवत है और 'स्थायी' गान्धार से ग्यारह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है। परन्तु इस सप्तक के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले रस का सिद्धान्त उनकी पहुँच से बाहर रहेगा।

एक विचित्र परिणाम यह होगा कि

'ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग' को—

'स, ४रे, ४ग, ३म, २प, ४ध, ३नि, २स' कहने से चतुःश्रुतिक ऋषभ और धैवत की सृष्टि होगी, त्रिश्रुतिक मध्यम बनेगा, जो षड्ज से ग्यारह श्रुति दूर होगा और एक ऐसा गान्धार उत्पन्न होगा, जो षड्ज से आठ श्रुतियों की दूरी पर होगा, षड्ज से सत्रह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित एक नवीन धैवत का जन्म होगा। इस संज्ञावाले इन स्वरों

इस अवस्था में स्थायी स्वर गान्धार है, जिसका स्थायित्व करुण रस का अभिव्यञ्जक है। शुद्ध षाड्जी में निषाद का प्रयोग अल्प होता है, परन्तु गान्धारांश अवस्था में अंश-संवादी होने के कारण उसका प्रयोग अनल्प होगा। षड्जांश अवस्था में जो बहुलता षड्ज एवं उसके संवादी पञ्चम को प्राप्त थी, वही स्थिति इस अवस्था में गान्धार एवं निषाद की होगी। हाँ, न्यास स्वर षड्ज ही होगा।

३--मध्यमांश षाड्जी के लिए--म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग ४म*

स्वरों की यह स्थिति 'मध्यम' के स्थायी होने का परिणाम है। इस अवस्था में षाड्जी का स्वर-सन्निवेश शृंगार की अभिव्यक्ति करेगा। मध्यम एवं उसके संवादी षड्ज का बहुत्व रहेगा।

४--पञ्चमांश षाड्जी के लिए--प, ३, ध, २ नि, ४ स, ३ रे, २ ग, ४ म, ४ प†

की कोई स्थिति भरत-सम्प्रदाय में नहीं, फलतः पूर्वोक्त स्वरों की भरतोक्त संज्ञाएँ ही वैज्ञानिक हैं।

*उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा में ठीक यही—

'म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग, ४म'

'स, ४रे, ३ग, २म, ४प, ३ध, २नि, ४स' कहलाते हैं, जिनके ऋषभ-धैवत में संवाद नहीं, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों क्रमशः प्राचीन पञ्चम और ऋषभ हैं, जिनमें बारह श्रुतियों का अन्तर है।

पाश्चात्य डायटॉनिक स्केल इस मूर्च्छना में अन्तर गांधार करने से बनता है, जो उत्तर भारतीय बीणा का बिलावल है। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस चतुःश्रुतिक धैवत की बात आधुनिक ठाठवादी करते हैं, उसका अस्तित्व उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा में नहीं। इस सरस्वती वीणा के शुद्ध धैवत का मध्यम के साथ षड्जान्तरभाव है और वह मध्यम से आठ नहीं, सात श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है। उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा के मध्यम और धैवत प्राचीन मध्यमादि मूर्च्छना के निषाद और ऋषभ हैं, जिनमें सात श्रुतियों का अन्तर है।

मध्यमादि सान्तरा मूर्च्छना के स्वरों को षड्ज इत्यादि करने से चतुःश्रुतिक ऋषभ की सृष्टि होती है, जो धैवत के साथ संवाद नहीं करता, अतः भरतोक्त संज्ञाएँ ही वैज्ञानिक हैं।

† आधुनिक ठाठवादी इन--

'प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग, ४म, ४प' को

'स, ३रे, २ग॒, ४म, ३प, २ध॒, ४नि॒, ४स'—

यह पञ्चमांश स्थिति वियोग-शृंगार को अभिव्यक्त करेगी। इस अवस्था में पञ्चम एवं उसके संवादी 'षड्ज' का बहुत्व होगा।

५—धैवतांश षाड्जी के लिए—'ध, २ नि, ४ स, ३ रे, २ ग, ४ म, ४ प, ३ ध' *

कह देंगे, परन्तु त्रिश्रुतिक ऋषभ का अस्तित्व उनके यहाँ नहीं। इन 'स' और 'प' में बारह श्रुतियों का अन्तर होने के कारण इनमें परस्पर संवाद नहीं होगा, क्योंकि वस्तुतः ये 'पञ्चम' और 'ऋषभ' हैं। पञ्चम को 'अङ्गद का चरण' माननेवाले सज्जनों को पञ्चम का यह 'च्युतत्व' भला कैसे स्वीकार्य होगा। 'धैवत' जो कि मूर्च्छना का 'गान्धार' है, वह स्थायी स्वर पञ्चम से चौदह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है। षड्ज से चौदह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित किसी 'ध' की स्थिति की सङ्गति भी ठाठवाद में कैसे होगी ? अतएव इन स्वरों के प्राचीन नाम ही वैज्ञानिक हैं।

आधुनिक मालकोस, दरबारी और आसावरी रागों का 'धैवत' भैरव के 'धैवत' से उतरा हुआ कहा जाता है। वास्तविक स्थिति यह है 'धैवत' कही जानेवाली यह ध्वनि पञ्चमादि षाड्जग्रामिक मूर्च्छना का गान्धार है, जो अंश स्वर 'पञ्चम' से चौदह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है।

इन रागों में तानपूरे का पञ्चमवाला तार मध्यम में मिलाया जाना चाहिए। आसावरी और दरबारी में जब 'म प ग' तान में पञ्चम का स्पर्शमात्र होता है, तब 'पञ्चम' उतरा हुआ लगता है। कुशल तन्त्रीवादक इसी लिए इस स्वर-समुदाय में पञ्चम को 'मींड' द्वारा व्यक्त करते हैं, स्थिर सारिका के पञ्चम का प्रयोग नहीं करते, धैवत भी मींड द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। वस्तुतः यह 'म प ग्र' पञ्चमादि मूर्च्छना का 'स, रे, नि' है, जिसके 'रे-नि' में ऋषभ निषाद से सात श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है।

जो सज्जन इन रागों में षड्ज के साथ पञ्चम का संवाद देखना 'रागरूप' देखने की अपेक्षा अधिक अच्छा समझते हैं, उन्हें वैसा मानने का अधिकार है। हमारी दृष्टि में इन रागों में पञ्चम का संवाद षड्ज के साथ नहीं, क्योंकि वह 'पञ्चम' प्राचीन ऋषभ है।

इस सम्बन्ध में सहृदयों के कान प्रमाण हैं।

* ठाठवादी इन—

'ध, २नि ४स, ३रे, २ग, ४म, ४प, ३ध' को

'स, २रे, ४ग, ३म, २म॑, ४ध, ४नि, ३स'

कह देंगे, परन्तु यह मूर्च्छना ठाठ-सिद्धान्त के लिए 'ठाठ-विध्वंस' और 'मेल-सिद्धान्त' के लिए 'मेल-मर्दन' सिद्ध होगी। क्योंकि—

इस अवस्था में यह स्वरसमूह धैवत के स्थायित्व के कारण वीभत्स एवं भयानक रसों का अभिव्यञ्जक होगा। स्थायी स्वर धैवत एवं उसके संवादी ऋषभ का बहुत्व इस अवस्था में होगा।

(अ) ठाठवादियों को पञ्चम नहीं मिलेगा, जब कि 'मेल' या 'ठाठ' में पञ्चम का होना अनिवार्य है।

(आ) मध्यम के दोनों रूप षाड्जी में आगे-पीछे प्रयुक्त होते हुए मिलेंगे, जब कि एक मेल में दोनों मध्यमों का होना असम्भव है।

(इ) त्रिश्रुतिक षड्ज एवं मध्यम का दर्शन होगा।

अतः इन स्वरों की भरतोक्त संज्ञाएँ ही वैज्ञानिक हैं।

इस मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाले रागों का व्यवहार बारहवीं शताब्दी में उठ चुका-सा था। हमने उन रागों को पुष्ट एवं अखण्डनीय प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट करके उनमें गेय वस्तुओं की रचना करके शिष्यों को उनकी शिक्षा दी है।

जातियों के शुद्ध, विकृत एवं संकीर्ण रूप को स्पष्ट करके उनमें 'वाक्' और 'गेय' की रचना करने की दिशा में हमने कुछ कार्य आरम्भ कर दिया है। कार्य लम्बा है। भगवान् की इच्छा यदि इस शरीर से कार्य लेने की हुई, तो इस सम्बन्ध में एक विशाल ग्रन्थ यथासमय पृथक् प्रस्तुत किया जायगा।

अनुबन्ध (३)

श्रुतियों की अनन्तता और देशी रागों में प्रयोज्य ध्वनियाँ

श्रुतियों की अनन्तता

नाट्यशास्त्र के बम्बई-संस्करण में सप्तरूप-प्रयोज्य अलङ्कारों का वर्णन करते समय श्रुतियों की तीन अवस्थाएँ आयत, मृदु एवं मध्यम बतायी गयी हैं।[1] एकतन्त्री-जैसी वीणा में जब ये श्रुतियाँ अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा घुड़च की ओर अर्थात् नीचे निकलती हैं तो 'आयत', मेरु की ओर अर्थात् ऊँचाई की ओर निकलती हैं तो 'मृदु' और अपने वास्तविक स्वरस्थान पर निकलती हैं तो 'मध्यम' या 'मध्य' कहलाती हैं।

स्वरों की शुद्ध अवस्था को अभिव्यक्त करनेवाली श्रुति-विशेष का भी यह 'आयतत्व' अर्थात् उत्कर्ष एवं 'मृदुत्व' अर्थात् अपकर्ष, प्रयोग अर्थात् गान-क्रिया अथवा वाद्य-क्रिया के परिणाम-स्वरूप होता है, फलतः श्रुतियाँ समुद्र में उठनेवाली तरङ्गों के समान अनन्त हो जाती है। कोहल ने इसीलिए श्रुतियों को अनन्त कहा है।[2]

विभिन्न अवसरों पर गानक्रिया के परिणामस्वरूप स्वर अपने स्थान से प्रमाण-श्रुति या केशाग्र अन्तर उतरते या चढ़ते हैं, उस समय उनका शुद्ध रूप वैस्वर्ययुक्त प्रतीत होता है। इसी लिए विश्वावसु ने कहा है कि 'क्रिया' (गान, वादन) एवं ग्राम-विभाग के परिणामस्वरूप स्वरों की स्वस्थानस्थ अवस्था का बोध करानेवाली श्रुतियों में भी वैस्वर्य प्रतीत होता है।[3]

१–आयतत्वं तु चेन्नीचं (चे) मृदुत्वं तु विपर्ययः (ये)।
स्वस्थाने मध्यमत्वं च श्रुतीनामेष निर्णयः॥ ––नाट्यशास्त्र, ब० सं०, अध्याय २९

२–आनन्त्यं हि श्रुतीनां च सूचयन्ति विपश्चितः।
यथा ध्वनिविशेषाणामानन्त्यं गगनोदरे॥
उत्तालपवनोद्वेलजलराशिसमुद्भवाः।
इयत्तां प्रतिपद्यन्ते न तरङ्गपरम्पराः॥ —कोहल

३–एतासामपि वैस्वर्यं क्रियाग्रामविभागतः। —विश्वावसु

षाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा में श्रुतियों का क्रम एक बार हमें फिर ध्यान में रख लेना चाहिए—

स रे ग अ० म प ध नि का० स

० कखग खग गक खग गकखग कखग खग गक खग

यह स्थिति स्पष्ट करती है कि इस श्रुतिक्रम में —

(अ) प्रत्येक शुद्ध स्वर को अपनी अपकृष्ट या मृदु अवस्था मिल सकती है, क्योंकि प्रत्येक स्वर की अन्तिम श्रुति 'ग' अन्तर या प्रमाणश्रुति है, परन्तु अन्तर-गान्धार एवं काकलीनिषाद की अन्तिम श्रुति 'क' है, 'ग' नहीं। अतः इन्हें प्रमाणश्रुति उतारने पर जो दो ध्वनियाँ प्राप्त होंगी, वह इस श्रुति-क्रम में नहीं हैं।

(आ) गान्धार, मध्यम एवं निषाद की उत्कृष्ट या आयत अवस्था इस श्रुतिक्रम में प्राप्त होगी, क्योंकि इन स्वरों की पश्चाद्वर्तिनी श्रुतियाँ 'ग' अन्तर हैं, परन्तु ऋषभ, धैवत, अन्तरगान्धार एवं काकलीनिषाद को एक प्रमाणश्रुति चढ़ाने पर जो चार नवीन ध्वनियाँ जन्म लेंगी, उनका अस्तित्व इस श्रुतिक्रम में नहीं, क्योंकि इन चारों स्वरों की पश्चाद्वर्तिनी श्रुति 'ग' न होकर 'ख' अन्तर है।

(इ) यदि अपकृष्ट ध्वनियों का और भी अपकर्ष किया जाय और उत्कृष्ट ध्वनियों का और भी उत्कर्ष किया जाय, तो और भी विलक्षण ध्वनियाँ मिलेंगी। 'ग' परिमाण से श्रुतियों का निरन्तर अपकर्ष या उत्कर्ष हमें श्रुतियों की अनन्तता का दिग्दर्शन करा देगा। इस अनन्तता के ज्ञान की प्रक्रिया हमें भरत-बोधित बाईस श्रुतियों के क्रम से ही ज्ञात होती है, अतः मूल श्रुतियाँ बाईस मानी गयी हैं।

शार्ङ्गदेव ने अपकृष्ट षड्ज एवं मध्यम को च्युत षड्ज एवं च्युत मध्यम कहा है, अपकृष्ट पञ्चम माध्यम ग्रामिक या त्रिश्रुतिक पञ्चम कहा गया है और उत्कृष्ट गान्धार एवं निषाद को साधारण गान्धार एवं कैशिक निषाद की संज्ञा दी गयी है।

देशी प्रयोग

नाट्यशास्त्र में सङ्गीत के दो विभाग 'मार्ग' और 'देशी' नहीं किये गये हैं। नाट्य-शास्त्र में वर्णित आतोद्य-विधि का प्रयोजन लोकरञ्जन है। मनीषियों को सदा 'वेद' के साथ 'लोक' का भी प्रामाण्य मान्य रहा है।

वाल्मीकि ने केवल सात जातियों का उल्लेख किया है। नाट्शास्त्र पश्चात्कालीन संग्रह-ग्रंथ है। सम्भव है, उसमें वर्णित सङ्कीर्ण जातियाँ पश्चात्कालीन विकास हों।

सङ्कीर्ण जातियों में 'षड्जोदीच्यवती', 'मध्यमोदीच्यवती' संज्ञाओं का 'उदी-

च्यवती' शब्द उन उन जातियों के रूपों का उत्तरदिशा सम्बद्ध से क्षेत्रों में प्रचलित होने का प्रमाण हो सकता है। सम्भव है, ये जातियाँ उत्तरीय क्षेत्रों की सृष्टि हो।

यद्यपि नाट्यशास्त्र को सप्तस्वर, षट्स्वर एवं पञ्चस्वर प्रयोग ही स्वीकृत हैं, तथापि चतु:स्वर प्रयोग भी नाट्यशास्त्र में देशापेक्ष (देशविशेष में प्रचलित) कहा गया है, अतः आज 'देशी' कहे जानेवाले सङ्गीत का बीज नाट्यशास्त्र में विद्यमान है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित 'आतोद्य विधि' एक विशिष्ट विधि हैं, उसके अपने कुछ नियम हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अनन्त आनन्द की अभिव्यक्ति में समर्थ अनन्त प्रक्रियाएँ नाट्यशास्त्र में गिना दी गयी हैं। हाँ, यह सत्य है कि नाट्यशास्त्र के कुछ व्यापक एवं त्रिकालाबाधित नियम विश्वभर के सङ्गीत को अपने विस्तृत अङ्क में ले लेते हैं।

अन्य आचार्य

वृद्ध काश्यप, याष्टिक, आञ्जनेय एवं मतङ्ग-जैसी विभूतियों ने देशी सङ्गीत पर विचार किया है, परन्तु इनमें से केवल मतङ्ग का ग्रन्थ प्राप्त है। मतङ्ग ने देशी रागों को भी ग्राम-विभाग में वर्गीकृत किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने वृद्ध काश्यप के जो उद्धरण दिये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वृद्ध काश्यप सात शुद्ध स्वर, उत्कृष्ट पञ्चम, एक अन्य धैवत, काकली निषाद, अन्तर गान्धार, षड्ज, मध्यम, गान्धार के साधारित रूप, (तथा मध्यमग्रामीय पञ्चम ?) ये पन्द्रह स्वर जाति प्रयोज्य मानते थे। काश्यप का कथन है कि रागभाषाओं में काकली और अन्तर के योग से चतुःश्रुति, द्विश्रुति एवं एकश्रुति स्वरों का प्रयोग करना चाहिए।

यह 'एकश्रुति' स्वर, 'उत्कृष्ट पञ्चम,, और 'अन्य धैवत' स्वर भरत-सम्प्रदाय में चर्चा का विषय नहीं बने हैं।

भरत-सम्प्रदाय में 'स' के पश्चात् 'क, ख, ग' अन्तर पर ऋषभ स्थित है, यदि इस श्रुतिक्रम को उलटकर 'ग क ख' कर दिया जाय, तो षड्ज के पश्चात् 'ग क' अन्तर पर स्थित ध्वनि षड्ज से उतने ही अन्तर पर स्थित होगी, गान्धार से जितने अन्तर पर अन्तरगान्धार और निषाद से जितने अन्तर पर काकली निषाद है। षड्ज के पश्चात् इस अन्तर पर स्थित ध्वनि को आधुनिक संगीतज्ञ कोमल ऋषभ कहेंगे और भरतोक्त ऋषभ उस ध्वनि से केवल 'ख' अन्तर पर स्थित होगा। यदि धैवत की श्रुतियों के क्रम 'क, ख, ग' को भी उलटकर 'ग, क, ख' कर दिया जाय, तो पञ्चस से 'ग, क' अन्तर पर आधुनिक कोमल धैवत सुनाई देगा और धैवत उससे एक 'ख' श्रुति के अन्तर पर होगा।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने कहा है कि 'जाति-विभाग' रागभाषा-विभाग से सर्वथा भिन्न है और भरत (!) ने कहा है कि वह लक्ष्य में असम्भव है। परन्तु जो श्लोक श्री कवि ने उद्धृत किये हैं, उनमें काश्यप ने अपने पन्द्रह स्वरों का प्रयोग 'जातियों' में ही बताया है। काश्यप की उक्ति को लक्ष्य में असम्भव सूचित करनेवाले 'भरत' कौन हैं, इस दिशा में श्री कवि ने कोई संकेत नहीं किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है कि याष्टिक एवं आञ्जनेय इत्यादि आचार्यों ने श्रुतिसंख्यानियम को छोड़कर किन्हीं स्वरों का पञ्चश्रुतिकत्व, षट्श्रुतिकत्व एवं सप्तश्रुतिकत्व यथेच्छ रूप में ग्रहण करने के पश्चात् लौकिक विनोद के लिए अनेक प्रकार के देशी रागों की सृष्टि की थी। श्री कवि ने यह भी कहा है कि हनुमन्मत में श्रुतियाँ केवल अठारह हैं।

काश्यप, याष्टिक एवं आञ्जनेय के ग्रन्थ जब तक प्राप्त न हो जायँ, तब तक इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक निष्कर्ष प्रस्तुत करना सम्भव नहीं।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं कि माध्यमग्रामिक त्रिश्रुतिक पञ्चम द्वारा परित्यक्त श्रुति का उपभोग धैवत ही करता है। सभी द्विश्रुतिक एवं त्रिश्रुतिक स्वर श्रुति की उत्कृष्टता के कारण अधिकश्रुति किये जाते हैं, काकली और अन्तर के द्वारा चतुःश्रुतिक एवं त्रिश्रुतिक स्वर भी न्यूनश्रुति होते हैं, अतः सभी स्वरों का श्रुतिकृत वैचित्र्य है।

अभिनवगुप्त के इस कथन में 'त्रिश्रुतिक' स्वरों की न्यूनश्रुतिकता, जो काकली और अन्तर प्रयोग अर्थात् चतुःश्रुतिक स्वर के पश्चात् 'ग-क' अन्तर के प्रयोग का परिणाम हो सकती है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

किसी स्वर के पश्चात् 'काकली' अन्तर का प्रयोग एक ऐसी अवस्था सूचित करता है, जिसका प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नहीं। 'नि॒, नि' या 'ग॒-ग' का क्रमशः प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नहीं मिलता, परन्तु भरतोक्त श्रुत्यन्तरों में ही कुछ ऐसे आधुनिक राग प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें भरत के 'नि॒-नि' या 'ग॒-ग' क्रमशः प्रयुक्त हैं।

यथास्थान कहा जा चुका है कि नाट्यशास्त्र में एक स्थान (मन्द्र, मध्य, तार) के अन्तर्गत मुख्य ध्वनियाँ दस हैं। षड्जग्राम में प्रयुक्त गान्धार का प्रयोग मध्यमग्राम में और मध्यमग्रामीय काकलीनिषाद का प्रयोग षड्जग्राम में नहीं होता था। नीचे इस स्थिति को पुनः स्पष्ट किया जा रहा है—

स	रे	ग॒	ग	म	म॑	प	ध	नि॒	नि	—षड्जग्राम
म	प		ध	नि॒	नि	स	रे	ग॒	ग	—मध्यमग्राम

षड्जग्रामीय स्वरों में 'म' वृत्त के अन्तर्गत दिखाया गया है, इस ध्वनि का प्रयोग षड्जग्राम में नहीं होता था, परन्तु षाड्जग्रामिक पञ्चम ही माध्यमग्रामिक षड्ज हो जाता है, फलतः उससे दो श्रुति पूर्व स्थित 'काकली निषाद' षाड्जग्रामिक स्वरों में नहीं मिलता। यदि इस काकलीनिषाद को षाड्जग्रामिक स्वरों में सम्मिलित कर दिया जाय और इसका नाम तीव्र मध्यम रखकर इसे प्रयोग में सम्मिलित कर दिया जाय, तो दोनों ग्रामों का संश्लेष हो जायगा।

षाड्जग्रामिक 'ग' का प्रयोग मध्यमग्राम में नहीं है, यदि इसे मध्यमग्राम में भी सम्मिलित करके 'उत्कृष्ट पञ्चम' नाम इसलिए दे दिया जाये कि मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पञ्चम से दो श्रुति ऊँचा है (यदि यह पञ्चम चतुःश्रुतिक होता, तो यह उत्कृष्ट पञ्चम उससे एक ही श्रुति ऊँचा होता) तो भी दोनों ग्रामों का संश्लेष हो जायगा।

माध्यमग्रामिक पञ्चम के पश्चात् और माध्यमग्रामिक चतुःश्रुतिक धैवत से पूर्व इस स्वर का जन्म वृद्ध काश्यप के समय में ही सम्भवतः हो चुका था, क्योंकि 'उत्कृष्ट पञ्चम' संज्ञा की चर्चा वृद्ध काश्यप भी करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी यह कहकर सम्भवतः इसी ध्वनि की ओर संकेत किया है कि इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं कि मध्यमग्राम में पञ्चम द्वारा परित्यक्त श्रुति का उपभोग धैवत ही करता है। माध्यमग्रामिक पञ्चम से 'ग, क' अन्तर पर 'उत्कृष्ट पञ्चम' की स्थिति है, जो काकली अन्तर है।

उपर्युक्त भरतोक्त दस ध्वनियों का एकत्र प्रयोग ग्रामों के संश्लेष का कारण हुआ। कुछ आधुनिक ठाठ भी इस दृष्टि से ग्राम-संश्लेष के उदाहरण हैं, जिसमें 'नि-नि', 'ग-ग', या 'म-म' (मध्यमग्रामीय काकली) का क्रमशः प्रयोग है और जिनमें दोनों ग्रामों की ध्वनियाँ मिल गयी हैं, जैसे भरतोक्त––

नि, नि, रे, ग, म, म, ध, नि

भैरव ठाठ के स, रे, ग, म, प, ध, नि, सं हैं और भरतोक्त

ग, ग, म, ध, नि, नि, रे, ग,

टोड़ी ठाठ के स, रे, ग, म, प, ध, नि, स हैं।

आरोह-अवरोह में 'नि-नि', 'ग-ग' या 'म-म' का क्रमशः प्रयोग एवं षाड्जग्रामिक ध्वनियों में ऐसे स्थलों पर तीव्रमध्यम के नाम से माध्यमग्रामिक काकलीनिषाद

का भी प्रयुक्त होने लगना लोकरुचि का परिणाम हो, परन्तु ये ध्वनियाँ नाट्यशास्त्र के स्वरविधान से बाहर नहीं ।

नाट्यशास्त्र में जातियों के अन्तर्गत अन्तर स्वरों का प्रयोग केवल आरोह में विहित है, रागों में अन्तर स्वरों का प्रयोग आरोह एवं अवरोह दोनों गतियों में विहित है । कम्बल और अश्वतर ने अल्पनिषाद एवं अल्पगान्धार जातियों में अन्तर स्वरों के प्रयोग की बात कही है और शार्ङ्गदेव ने षाड्जी-जैसी अल्पनिषाद जाति में क्वचित् काकली का प्रयोग बताया है । इससे सिद्ध है कि कुछ जातियों में निषाद और गान्धार के शुद्ध रूप के साथ इनकी द्विश्रुति-साधारण अवस्थाओं का प्रयोग भी होता था । परन्तु शुद्ध एवं साधारण अवस्था का क्रमशः प्रयोग होता था या नहीं होता था, इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र मौन है । काकली एवं अन्तर स्वरों के प्रयोग का जो नियम शार्ङ्गदेव ने बताया है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि गान्धार एवं निषाद की दोनों अवस्थाओं का क्रमशः प्रयोग शार्ङ्गदेव के विधान में नहीं ।

ध्यान देने की बात यह है कि शार्ङ्गदेव ने 'द्विग्राम' रागों की चर्चा की है, परन्तु आश्रय मूर्च्छना पद्धति का लिया है, उनका 'द्विग्रामत्व' वह 'ग्रामसंश्लेष' नहीं, जिसकी चर्चा यहाँ की गयी है। रत्नाकर में उत्क्रुष्ट पञ्चम, पञ्चश्रुति, षट्श्रुति एवं सप्तश्रुति इत्यादि स्वरों की चर्चा तक नहीं हुई है, जब कि काश्यप, याष्टिक, आञ्जनेय इत्यादि ग्रन्थ उनके समय में विद्यमान थे ।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'वराटी' के जनक 'भिन्नपञ्चम' को 'काकली' एवं 'निषाद' दोनों से युक्त बताया है । कल्लिनाथ ने इस उक्ति पर एक शंका उठायी है कि एक ही राग में एक ही स्वर के शुद्ध एवं विकृत दोनों रूपों के प्रयोगभेद से रागभेद हो जायगा ? और इसी शंका का समाधान यह कहकर किया है कि इस राग में मन्द्र एवं मध्यम सप्तक के निषाद काकली हैं, इस राग के माध्यमग्रामिक होने के कारण इसमें तार-व्याप्ति है और तार निषाद शुद्ध है ।

कल्लिनाथ के इस शंका-समाधान से यह सिद्ध होता है कि एक ही स्थान में एक स्वर की दोनों अवस्थाओं का प्रयोग मूर्च्छनाधारित पद्धति में नहीं था ।

शार्ङ्गदेव ने तृतीय सैन्धवी को 'मृदुपञ्चम' से युक्त बताया है, यह 'सैन्धवी' मालव-कैशिक का भाषाङ्ग है, मालवकैशिक 'कैशिकी' जाति से उत्पन्न हुआ है, कैशिकी माध्यमग्रामिक जाति है। माध्यमग्रामिक कैशिकी जाति से उत्पन्न मालवकैशिक राग में पञ्चम त्रिश्रुतिक है, जो माध्यमग्रामिक शुद्ध पञ्चम है। इस राग के भाषाङ्ग 'कैशिकी' के लक्षण में पञ्चम के पहले 'मृदु' विशेषण का प्रयोग बताता है कि यह पञ्चम

मन्द्र पञ्चम है भी और आधुनिक 'तीव्र मध्यम' नहीं।' 'मृदु' शब्द का प्रयोग 'रत्नाकर' में मन्द्रवाची है। इस सैन्धवी की मूर्च्छना षड्जादि है अर्थात् इसमें अंशस्वर षड्ज है।

शार्ङ्गदेव ने 'तुरुष्क गौड' और 'तुरुष्क तोडी' जैसे विदेशी रागों की मूर्च्छनाएँ ढूँढ़कर उनका वर्गीकरण भी मूर्च्छना-पद्धति में किया है।

शार्ङ्गदेव ने अनेक ऐसे रागों की चर्चा की है, जिनके 'स्थायी स्वर' उनके समय बदल चुके थे।

संगीत-रत्नाकर की रचना से पञ्चीस-तीस वर्ष पूर्व उत्तर भारत के कन्नौज प्रदेश में मूर्च्छना-पद्धति प्रचलित थी। कान्यकुब्जनरेश जयचन्द के सभापण्डित महाकवि श्रीहर्ष मूर्च्छना-पद्धति के मर्मज्ञ थे। 'नैषध' के नायक राजा नल 'पञ्चम की मूर्च्छनाओं' के छिड़ने पर दमयन्ती के वियोग का अनुभव और भी तीव्रता से करने लगते हैं। यह मूर्च्छना मालकोष, दरबारी एवं आसावरी-जैसे रागों की अभिव्यक्ति का कारण होती है, इस मूर्च्छना का अंशस्वर 'पञ्चम' वियोग शृङ्गार का अभिव्यंजक है।

जयचन्द की पराजय एक प्रकार से मूर्च्छना-पद्धति के तिरोहित होने का कारण है। कश्मीर से बहिष्कृत मूर्च्छना-पद्धति कन्नौज से भी लुप्त होती और दक्षिण की ओर जाती है, परन्तु रत्नाकर की रचना से प्रायः सौ वर्ष बाद मलिक काफ़ूर का आक्रमण दक्षिण में भी उसे क्षत-विक्षत कर देता है।

१३३६ ई० में श्री विद्यारण्य के द्वारा विजयनगर की स्थापना के पश्चात् मुकाम-पद्धति का मेल-पद्धति के रूप में ग्रहण किया जाना आर्ष मूर्च्छना-पद्धति पर पूर्ण पटाक्षेप है। उस समय के वैणिकों और उनके आश्रित आचार्य्यों को अचल सारिकाओंवाली वीणा पर रागप्रयोज्य ध्वनियों के वादन की सुविधा का ध्यान है, रस एवं भाव के विनियोग को दृष्टि में रखते हुए ध्वनियों की भावानुसारी संज्ञाओं की चिन्ता उन्हें नहीं। इसी लिए मेल-पद्धति रस-भाव के विचार से सर्वथा शून्य है।

चौदहवीं शती में एक ओर जहाँ अचल सारिकावाली वीणाओं के प्रताप से मुकाम-पद्धति दक्षिण तक में मेल-पद्धति का रूप ले रही थी, वहाँ विन्ध्याचल एवं श्रीशैल के मध्य में सिंहभूपाल के द्वारा 'रत्नाकर' पर टीका लिखी जा रही थी और सिंहभूपाल की दृष्टि में ऐसे वैणिक थे, जो वीणा में यथेच्छ स्थान पर स्वरों की स्थापना करते थे।

पन्द्रहवीं शती ई० में 'पण्डित-मण्डली' (१४००–१४४० ई०) प्रयाग में, महाराणा कुम्भवर्ण (राज्यकाल १४३३-१४६८ ई०) मेवाड़ में तथा विजयनगर-नरेश इम्मडिदेव

(रा० का० १४४६-१४६५ ई०) के आश्रित आचार्य्य कल्लिनाथ मूर्च्छना-पद्धति के विशेषज्ञ थे।

देशी रागों की चर्चा करते हुए कल्लिनाथ ने अपने समय की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—

(१) दोनों ग्रामों से 'जाति' इत्यादि की परम्परा से उत्पन्न इन रागों की मूर्च्छना का आरम्भ मध्य सप्तक में स्थित 'षड्ज' या 'मध्यम' (के स्थान) से करना यद्यपि शास्त्रविहित है, तथापि मध्यमग्राम से उत्पन्न मध्यमादि तोडी इत्यादि रागों में मूर्च्छना का आरम्भ मध्य मध्यम से न किया जाकर मध्य षड्ज के ही स्थान से किया जा रहा है। लक्षण का विरोध करके ग्रह स्वर के अधीन उस स्वर-साधारण का भी अभाव है, जो पश्चाद्वर्ती स्वरों में होना चाहिए।

(२) त्रिश्रुतिक या चतुःश्रुतिक होकर जिस पञ्चम को ग्राम-भेदक होना चाहिए, उसका प्रयोग अलोप्य रूप में हो रहा है और सभी रागों में पञ्चम का रूप एक-जैसा ही है।

(३) रामक्रिया नामक क्रियाङ्ग-राग में मध्यम के द्वारा पञ्चम की दो श्रुतियों का ग्रहण तथा नट्ट, देवक्री इत्यादि रागों में ऋषभ और धैवत के द्वारा क्रमशः अन्तर-गान्धार एवं काकलीनिषाद की दो-दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लिये जाने के कारण ऋषभ और धैवत की पञ्चश्रुतिकता शास्त्र में 'विवक्षित' है।

(४) श्रीराग में गान्धार एवं निषाद के द्वारा मध्यम एवं षड्ज की एक एक श्रुति ले लिये जाने के कारण गान्धार एवं निषाद की त्रिश्रुतिकता यद्यपि शास्त्र-विहित है, तथापि मध्यम एवं षड्ज की त्रिश्रुतिकता शास्त्रविरोधिनी है। उसी राग में ऋषभ एवं धैवत के द्वारा क्रमशः गान्धार एवं निषाद की आदिम श्रुति का ग्रहण कर लिये जाने के कारण ऋषभ एवं धैवत का चतुःश्रुतित्व शास्त्रविहित है।

(५) आन्धाली के लक्षण में पञ्चम 'ग्रह' एवं 'अंश' कहा गया है और इसी दृष्टि से प्रस्तार भी लिखा गया है, परन्तु प्रयोग में मध्यम ग्रह और अंश है।

(६) कर्नाट गौड के लक्षण में षड्ज 'ग्रह' और 'अंश' है, परन्तु लक्ष्य में अंश एवं ग्रह स्वर निषाद है।

(७) ग्राम रागों में हिन्दोल का ऋषभ-धैवतहीनत्व शास्त्रोक्त है, परन्तु प्रयोग में ऋषभ-पञ्चम का परित्याग है।

(८) षाडव-औडुव रागों में कहीं लोप्य स्वरों का प्रयोग भी होता है।

(९) कहीं जन्य और जनक के मेलन (ठाठ ?) में भेद और 'रस' इत्यादि के विनि-योग में अनियम भी दिखाई देता है।

आचार्य्य कल्लिनाथ ने इन अनियमों का समाधान यह कहकर किया है कि 'देशी' रागों में ये अनियम ही रागों का 'देशित्व' हैं, क्योंकि आञ्जनेय ने कहा है कि देशी रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति आदि का नियम नहीं होता।

आञ्जनेय की संहिता हमारे समक्ष नहीं, अतः उनकी व्यवस्था के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि 'सङ्गीत' या किसी भी अन्य कला के सम्बन्ध में ये उक्तियाँ पर्य्याप्तरूपेण सन्तोषप्रद नहीं। 'संवाद' संगीत का प्राण है, इसके अभाव में सङ्गीत की सृष्टि हो ही नहीं सकती, 'स्वर' के अनुरणनमयत्व अर्थात् स्वतः रञ्जकत्व की भी आवश्यकता सङ्गीत के लिए अनिवार्य्यरूपेण है और 'राग' या 'स्वर' सन्निवेशविशेष में रञ्जकत्व भी अनिवार्य्य है। अतः कोई भी सङ्गीत-पद्धति हो, रञ्जन के लिए उसमें भावाभिव्यञ्जन की योग्यता तथा आनन्दाभिव्यक्ति के कुछ व्यापक एवं सनातन कारण होने ही चाहिए। यह एक पृथक् तथ्य है कि उन कारणों की खोज न हुई हो। इन कारणों की यथासम्भव खोज अनुसन्धानकर्ता का लक्ष्य होना चाहिए।

आधुनिक ठाठों में प्रयुक्त ध्वनियों की भावानुसारी संज्ञाएँ

यह कहा जा चुका है कि आधुनिक अनेक राग 'ग्रामसंश्लेष' का परिणाम हैं और यह ग्राम-संश्लेष भारत में सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था। काश्यप एवं याष्टिक के रघुनाथोक्त विधान इस दिशा की ओर इङ्गित करते हैं।

यदि ऐसी मूर्च्छनाएँ निर्मित की जायें, जिनमें 'नि-नि', 'ग-ग' और 'म-म' का क्रमशः प्रयोग भी ग्राह्य हो, तो ये मूर्च्छनाएँ भरत-सम्प्रदाय से भिन्न भले ही हों, परन्तु इनके स्वर भरत-सम्प्रदाय के सात शुद्ध एवं तीन अन्तर स्वरों में भी मिल जायँगे। मध्यम-ग्रामीय काकलीनिषाद का प्रयोग इन मूर्च्छनाओं में तीव्र मध्यम, पत पञ्चम, मृदु पञ्चम या वराली मध्यम के नाम से किया जायगा। हम इनमें से 'तीव्र मध्यम' संज्ञा चुन लेते हैं।

काकलीनिषाद, और अन्तरगान्धार अन्तर स्वर होने पर भी गान्धार और निषाद ही हैं, फलतः ये स्वर 'शोक' या 'करुणा' के बोधक हैं, काकलीनिषाद के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद करनेवाला तीव्र मध्यम भी अन्तर स्वर है और उसकी मूल संज्ञा माध्यमग्रामिक काकलीनिषाद ही है, फलतः वह भी 'शोक' या 'करुणा' का बोधक है।

अब यदि उत्तर भारत में प्रयुक्त ठाठों को महर्षि भरत द्वारा बोधित दस स्वरों में देखा जाये, तो स्थिति यह होगी :—

(१) भैरव

संश्लिष्ट मूर्च्छना नि का. रे ग म म ध नि
श्रुति-परिमाण ० ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ स रे ग म प ध नि स

यदि कोई चाहे, तो ठाठ में प्रयुक्त 'गान्धार' और 'निषाद' को पञ्चश्रुतिक कह सकता है, क्योंकि वे अपने पूर्ववर्ती प्रयोज्य स्वर 'रे' और 'ध' पाँच पाँच श्रुतियों के अन्तर पर स्थित हैं।

मूर्च्छना के द्विश्रुतिक काकलीनिषाद और तीव्र मध्यम 'ठाठ' में क्रमशः द्विश्रुतिक ऋषभ और धैवत बन गये हैं।

मूर्च्छना में स्वरों की संज्ञाएँ भावानुसारिणी हैं। उनके अनुसार हम कह सकते हैं—

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर निषाद है, जो करुणा का अभिव्यञ्जक है। काकली-निषाद एवं तीव्र मध्यम जैसे शोक-बोधक स्वरों का अस्तित्व इसके करुण प्रभाव में और वृद्धि करता है। उत्साह, क्रोध एवं विस्मय का व्यञ्जक षडज इस मूर्च्छना में लुप्त है और उसका संवादी पञ्चम भी।

(२) पूरबी

संश्लिष्ट मूर्च्छना नि का. रे अ. म म ध नि
श्रुति-परिमाण ० ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ स रे ग म प ध नि स

यहाँ भी करुणाबोधक निषाद स्थायी स्वर है, काकली, अन्तर गान्धार एवं तीन अन्तर स्वरों का प्रयोग है। मूर्च्छना में गान्धार के स्थान पर अन्तर गान्धार के प्रयोग ने इस मूर्च्छना में अन्तर कर दिया है।

(३) मारवा

संश्लिष्ट मूर्च्छना नि का. रे अ. म प ध नि
श्रुति-परिमाण ० ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ स रे ग म प ध नि स

यहाँ भी करुणाबोधक 'निषाद' स्थायी स्वर है, काकली और अन्तर स्वर है, और मूर्च्छना का पञ्चम ठाठ में चतुः श्रुतिक धैवत हो गया है।

(४) तोड़ी

संश्लिष्ट मूर्च्छना	ग अ. म ध नि का. रे ग
श्रुति-परिमाण	० ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ	स रे॒ ग॒ म प ध॒ नि स

इस मूर्च्छना में करुणाबोधक 'गान्धार' स्थायी स्वर है, उसके संवादी निषाद-अन्तर, गान्धार एवं काकलीगान्धार का अस्तित्व उस करुणा को और भी उभारता है। तीव्र मध्यम के नाम से प्रयुक्त माध्यमग्रामिक काकली भी उस करुणा का परिपोष करता है। षड्ज, मध्यम एवं पञ्चम लुप्त हैं।

(५) बिलावल

शुद्ध मूर्च्छना	नि स रे ग म प ध नि
श्रुति-परिमाण	० ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ	स रे ग म प ध नि स

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर निषाद है, जो करुणा का अभिव्यञ्जक है, परन्तु उस करुणा के परिपोषक अन्तर स्वरों का इसमें सर्वथा अभाव है, फलतः इसकी करुणा, 'दैन्य' अथवा 'निवेदन' का ही रूप ग्रहण करती है। षड्ज, मध्यम, पञ्चम का अस्तित्व भी करुणा में गहराई उत्पन्न नहीं होने देता।

आधुनिक ठाठ-वादियों को अपने ठाठ के चतुःश्रुतिक ऋषभ और धैवत इस षाड्ज-ग्रामिक शुद्ध नैषादी मूर्च्छना में मिल जाते हैं। उनके मध्यम के साथ धैवत का षड्-जान्तरभाव इस मूर्च्छना में नष्ट हो जाता है। यह मूर्च्छना शुद्ध 'रजनी' है।

(६) कल्याण

शुद्ध मूर्च्छना	ग म प ध नि स रे ग
श्रुति-परिमाण	० ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग
ठाठ	स रे ग म प ध नि स

बिलावल की मूर्च्छना से इसमें भेद यह है कि इसमें गान्धार के स्थान पर अन्तर-गान्धार का प्रयोग है, जो ठाठ में 'तीव्र मध्यम' बन गया है। स्थायी निषाद ही है, परन्तु उसका संवादी गान्धार यहाँ नहीं है। षड्ज, मध्यम एवं पञ्चम का अस्तित्व है। यह मूर्च्छना षाड्जग्रामिक सान्तरा 'रजनी' है।]

(७) खमाज

शुद्ध मूर्च्छना	म प ध नि स रे ग म
श्रुति-परिमाण	० ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग
ठाठ	स स रे ग म प ध नि स

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर मध्यम है जो 'रति' या 'अनुराग' का बोधक है, यह षाड्जग्रामिक मध्यमादि मूर्च्छना है।

ठाठ में बतायी हुई स्वरसंज्ञाएँ उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा में प्रयुक्त स्वर-संज्ञाएँ हैं। इस ठाठ के ऋषभ-धैवत में संवाद नहीं।

(८) काफी

शुद्ध मूर्च्छना	स रे ग म प ध नि स
श्रुति-परिमाण	० क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग
ठाठ	स रे ग म प ध नि स

वास्तव में काफ़ी ठाठ के ऋषभ का पञ्चम से संवाद नहीं और यह ठाठ षड्जग्रामीय उत्तरमन्द्रा से भिन्न नहीं। षड्ज इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर है, जो उत्साह, क्रोध या विस्मय का व्यञ्जक है। नाट्यशास्त्र के कुछ पाठों में षड्ज को श्रृंगार का अभिव्यञ्जक बताया गया है।

जिन्हें काफ़ी ठाठ में चतुःश्रुतिक ऋषभ ही चाहिए, उन्हें निम्न मूर्च्छना में अपना 'काफ़ी' मिल जायगा—

संश्लिष्ट मूर्च्छना	ध का. स रे अ. म॑ प ध
श्रुति-परिमाण	० ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग
ठाठ	स रे ग म प ध नि स

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर धैवत है, जो 'भय' या 'जुगुप्सा' का अभिव्यञ्जक है, काफ़ी ठाठ से इन भावों का कोई सम्बन्ध नहीं, फलतः इस दृष्टि से भी यह रूप काफ़ी का नहीं। ठाठवादियों को इस रूप में चतुःश्रुतिक ऋषभ, अपने षड्ज से छः श्रुति दूर अपना कोमल गान्धार और उसके साथ संवाद करनेवाला कोमल निषाद प्राप्त हो जायगा। मध्यम एवं षड्ज त्रिश्रुतिक मिलेंगे तथा अपने मध्यम एवं कोमल निषाद में संवाद नहीं मिलेगा। फलतः काफ़ी के इस रूप के लिए आग्रह ठीक नहीं।

(९) आसावरी

शुद्ध मूर्च्छना   प   ध   नि   स   रे   ग   म   प
श्रुति-परिमाण   ० क ख ग ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग
ठाठ—   स   रे   ग   म   प   ध   नि   स

यह षड्जग्रामिक पञ्चमादि मूर्च्छना है। पञ्चम इसमें स्थायी स्वर है, जो शृंगार का अभिव्यञ्जक है।

दरबारी, आसावरी एवं मालकोस जैसे राग इस मूर्च्छना से सम्बद्ध हैं। इन रागों में 'प' के नाम से प्रयुज्यमान ध्वनि वस्तुतः ऋषभ है, जो स्थायी स्वर पञ्चम से बारह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित है तथा 'ध' के नाम से प्रयुज्यमान ध्वनि प्राचीन 'गान्धार' है, जो स्थायी स्वर पञ्चम से चौदह श्रुतियों के अन्तर पर स्थित हैं।

गुणियों में यह प्रसिद्ध भी है कि इन रागों का धैवत भैरव इत्यादि के धैवत से उतरा हुआ है। वस्तुतः इन रागों के प्रयोग के समय तानपूरे का पञ्चमवाला तार मध्यम में मिलाया जाना चाहिये। उस अवस्था में जोड़े के तार एवं पञ्चम के तार की ध्वनियों की प्राचीन संज्ञाएँ क्रमशः 'प'-'स' हो जायँगी।

जिन्हें आसावरी ठाठ में चतुःश्रुतिक ऋषभ एवं स्वस्थानस्थ पञ्चम का आग्रह है, उन्हें अपने अभीष्ट स्वरान्तराल प्राचीन 'धैवत, काकली निषाद, षड्ज, ऋषभ, अन्तर गान्धार, मध्यम, पञ्चम, में मिलेंगे, परन्तु भय एवं जुगुप्सा के व्यञ्जक धैवत के 'स्थायी' हो जाने पर न तो स्वरों की भावानुसारी संज्ञाएँ मिलेंगी, न राग प्रयोज्य वास्तविक ध्वनियाँ ही।

(१०) भैरवी

सान्तरा मूर्च्छना   ध   नि   स   रे   अ.   म   प   ध
श्रुति-परिमाण   ० ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग
ठाठ—   स   रे   ग   म   प   ध   नि   स

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर धैवत है, जो भय का व्यञ्जक है। इसमें अन्तर गान्धार प्रयुक्त हो रहा है, जिसका स्थायी स्वर के साथ षड्ज-पञ्चम भाव से संवाद है। अतः यह 'सान्तरा' उत्तरायता है। प्राचीन भैरवी की मूर्च्छना शुद्ध उत्तरायता है।

ठाठ-वादियों को अपना गान्धार इसमें अपने 'स' से छः श्रुति दूर दिखाई देगा और उसका संवादी 'निषाद' पञ्चम से छःश्रुति दूर दिखाई देगा।

भैरवी में प्रयोग के समय ठाठ के ऋषभ-धैवत यहीं रहेंगे विलासखानी में 'गान्धार-निषाद' एक एक प्रमाणश्रुति उतरेंगे।

उपर्य्युक्त विश्लेषण भरत-बोधित स्वर समूह में आधुनिक रागों में प्रयुज्यमान ध्वनियों का अस्तित्व दिखाने और उन ध्वनियों की भावानुसारी संज्ञाएँ ढूँढ़ने का प्रयत्न है, परन्तु भाव का यथायोग्य प्रकाशन या 'रस' का परिपाक रागनियमानुसार स्वरों के यथाक्रम बहुत्व एवं अल्पत्वयुक्त प्रयोग का परिणाम होता है। स्वरों का आरोह-अवरोह मात्र 'राग' संज्ञा नहीं ग्रहण करता।

निषादादि मूर्च्छना में 'अन्तर गान्धार' एवं गान्धारादि मूर्च्छना में 'धैवत' आधुनिक ठाठों के तीव्र मध्यम बन जाते हैं, इससे यह सिद्ध है कि जिस ध्वनि को हम आज तीव्र मध्यम समझते हैं। उसका प्रयोग प्राचीनों के द्वारा भली भाँति होता था।

एक ही मूर्च्छना (यह मूर्च्छना सप्तस्वर नहीं) में ग्रामों का संश्लेष अथवा एक स्वर की शुद्ध एवं विकृत अवस्था का प्रयोग भरत-विहित नहीं, इसी लिए हमने ऐसी मूर्च्छनाओं को सांश्लेष्ट भी कहा है। भैरव में प्रयोज्य मूर्च्छना में निषाद एवं मध्यम के दोनों रूपों का प्रयोग है। प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार एक ही स्वर के दो रूपों को मूर्च्छना में न तो स्थान है और न उन दो रूपों को दो विभिन्न स्वर कहा जा सकता है। परन्तु जो लोकरुचि ऐसी नवीन मूर्च्छनाओं की उत्पत्ति में कारण है, वह इन्हें दो पृथक्-पृथक् स्वर मान सकती है।

विहाग के आधुनिक दोनों मध्यम षड्जग्रामीय निषादादि मूर्च्छना के दोनों गान्धार हैं और करुणाबोधक हैं, यही स्थिति ललित और पूर्वी के दोनों मध्यमों की है। खमाज के दोनों मध्यम मध्यमादि मूर्च्छना के दोनों निषाद एवं दोनों निषाद उसी मूर्च्छना के दोनों गान्धार हैं। अतः ऐसे रागों की नवीन मूर्च्छनाओं में हमें दोनों रूपों में प्रयोज्य अभीष्ट स्वरों की स्थिति सम्बद्ध मूर्च्छना के अन्तर्गत माननी होगी।

इस विधान के तीन लाभ हैं—

(१) ध्वनियों की भावानुसारी संज्ञाओं की प्राप्ति।

(२) प्रयोज्य ध्वनियों का स्थायी स्वर से अभीष्ट अन्तर पर मिलना।

(३) भरतबोधित दस स्वरों में अनेक आधुनिक रागों की प्राप्ति।

अनुबन्ध (४)

भारतीय संगीत की महाविभूतियाँ

(पंद्रहवीं शती तक)

१. ब्रह्मा

नाट्यशास्त्र के अनुसार ये सर्वपितामह ब्रह्मा हैं, जिन्होंने देवासुर-संग्राम में थके हुए देवताओं के लिए 'नाट्यवेद' का आविष्कार मनोरञ्जनार्थ किया।

शैव ग्रन्थकार शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद भगवान् शंकर के शिष्य तण्डु से पढ़ा था।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नारद को गानयोग, स्वाति को भाण्डविधि, एवं भरत मुनि को नाट्य में नियोजित करनेवाले यही थे।

सप्तगीतों के प्रवर्तक भी शार्ङ्गदेव के अनुसार ब्रह्मा ही हैं और शुष्काक्षरों के नियोजक भी। एकतन्त्री वीणा 'आदिवीणा' है, जिसे 'ब्रह्मवीणा' भी कहा जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त के परिचित एक आचार्य प्रचलित नाट्यशास्त्र को संग्रह ग्रन्थ मानते थे, जिसमें ब्रह्ममत के प्रतिपादक ग्रन्थों के खण्ड सम्मिलित हैं और जिसकी रचना ब्रह्ममत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए, उनके विचार में, हुई है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मा के मत के प्रतिपादक पृथक् ग्रन्थ कभी रहे होंगे, जो आज अनुपलब्ध हैं।

२. शिव, शंकर

'नन्दिकेश्वरकारिका' के अनुसार भगवान् शंकर के डमरू से व्याकरण के प्रसिद्ध माहेश्वर सूत्र उत्पन्न हुए। ये चौदह सूत्र समस्त वाङमय तथा इनमें प्रदर्शित स्वरवर्ण संगीतसम्बन्धी स्वरों का आधार हैं। 'रुद्रडमरूद्भवसूत्र विवरण' के आधार पर स्वरवर्णों का साङ्गीतिक रूप भी है, जैसे--अ, इ, उ इत्यादि ही क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार इत्यादि हैं।

शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कारक शिव हैं, जिन्होंने तण्डु को नाटच-वेद पढ़ाया। शिव की वीणा 'अनालम्बी' कही जाती है।

नाटचशास्त्र के अनुसार सन्ध्या समय प्रति दिन नृत्य करते करते भगवान् शंकर ने अङ्गहारों की रचना की और तण्डु को शिक्षित किया। ब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत नाटच के पूर्वरङ्ग को सुशोभित करने के लिए भगवान् शंकर ने भरत को तण्डु के द्वारा नृत्य की शिक्षा दिलायी।

अनुश्रुति के अनुसार शिवमत में पाँच रागों के जनक भगवान् शंकर हैं। कहा जाता है कि 'शिव-पार्वती-संवाद' नामक कोई ग्रन्थ शिवमत का प्रतिपादक था, जो आज अनुपलब्ध है।

'औमापतम्' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त होता है। इसमें स्वर, मूर्च्छना, जाति, प्रबन्ध, राग एवं वाद्य आदि के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह भरत एवं उनके अनुयायियों के मत से सर्वथा भिन्न है। संभव है, इसका ग्रथन शिवमत के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए किसी पश्चाद्वर्ती लेखक ने किया हो।

३. पार्वती, शिवा, दुर्गा, शक्ति

शार्ङ्गदेव ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियों में 'शिवा', 'दुर्गा' और 'शक्ति' का निर्देश पृथक्-पृथक् किया है। 'दुर्गाशक्ति' एवं 'दुर्गशक्ति' एक नाम भी कहीं-कहीं मिलता है। सम्भव है, शार्ङ्गदेव द्वारा प्रयुक्त 'शिवा' शब्द पार्वतीवाची हो।

शार्ङ्गदेव के अनुसार भगवती पार्वती ने लास्य का आविष्कार किया और बाणासुर की पुत्री उषा को सिखाया। उषा से यह लास्य द्वारका की स्त्रियों तक पहुँचा और तत्पश्चात् लोक में प्रचलित हुआ।

नन्दिकेश्वर के सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ 'भरतार्णव' में पार्वतीमत का ग्रन्थ 'भरतार्थचन्द्रिका' बताया गया है।

४. नन्दिकेश्वर

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नन्दी' का ही दूसरा नाम 'तण्डु' बताया है। राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर या नन्दी रस के प्रथम आचार्य हैं।

नन्दिकेश्वर के सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ 'नन्दिकेश्वर-कारिका' पर उपमन्यु की टीका उपलब्ध है।

'भरतार्णव' नामक एक ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर के संगीत-सिद्धान्तों का प्रतिपादन

है, ये सिद्धान्त भरत-सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न हैं। भरतार्णव में बारहवीं शती ई० के ग्रन्थकार हरिपाल तथा उसकी उपाधियों के उल्लेख के साथ उसकी रचना 'सङ्गीत-सुधाकर' के अनेक श्लोक भी मिलते हैं। 'भरतार्णव' नन्दिकेश्वर-मतानुयायी किसी व्यक्ति की कृति है, जिसका निर्माणकाल तेरहवीं शती ईसवी के पश्चात् है।

भरतनाटचशास्त्र के पाँचवें अध्याय के अन्त में प्राप्त पूर्वरङ्ग के विशेष अङ्ग के लिए वर्णित ध्रुवा-विनियोग नन्दिकेश्वर-सम्प्रदाय की वस्तु है।

नन्दिकेश्वर मत में तीन ग्राम 'नन्द्यावर्त', 'जीमूत' और 'सौभद्र' हैं।

५. नारद

नाटचशास्त्र में नारद भरत के सहयोगी हैं, जिन्हें गानयोग का कार्य ब्रह्मा ने सौंपा है। नाटचशास्त्र एवं वाल्मीकि रामायण में इन्हें गन्धर्व कहा गया है।

इनके सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ दो कहे जाते हैं, 'पञ्चमसारसंहिता' एवं 'नारदीय शिक्षा'। शुभाकर नामक किसी आचार्य ने नारदीय शिक्षा की व्याख्या लिखी थी।

'पञ्चमसारसंहिता' में रागों के ध्यान भी हैं। 'सङ्गीतमकरन्द' को भी नारद-सिद्धान्तों का प्रतिपादक कहा जाता है, जो तेरहवीं शती के पश्चात् किसी व्यक्ति की कृति प्रतीत होता है। इसमें महामाहेश्वर (अभिनवगुप्त) की चर्चा तो है ही, संगीत-रत्नाकर के अनेक श्लोक भी हैं।

नारद की वीणा का नाम 'महती' है, जिसमें इक्कीस तार थे। नारद को गान्धार ग्राम का प्रयोक्ता कहा गया है। नारद की सम्मति में ग्रामरागों का प्रयोग लौकिक विनोद के लिए न होकर स्तुति या यज्ञ में होना चाहिए। महाकवि बाण ने 'नारदीय' नामक एक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है, सोलहवीं शती के एक ग्रन्थकार शुभंकर ने भी इसकी चर्चा की है।

६. स्वाति

भरतनाटचशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने इन्हें वाद्य-वादन में नियुक्त किया था, ये अनेक अवनद्ध वाद्यों के आविष्कारक हैं।

'स्वाति' विपञ्ची के वादक कहे जाते हैं, जिसमें नौ तारों पर स, रे, ग, अन्तर ग, म, प, ध, नि, काकली निषाद मिले होते थे।

७. तुम्बुरु

नाटचशास्त्र और वाल्मीकिरामायण में इनका नाम नारद के साथ आता है और इन्हें गन्धर्व कहा गया है। इनकी वीणा 'कलावती' कही जाती है।

तुम्बुरु के मत में मूर्च्छना शब्द का अर्थ श्रुति का 'मार्दव' है। शार्ङ्गदेव ने भी नारद के साथ ही साथ इनका नाम लिया है।

८. भरत

नाटच के आदिम प्रयोक्ता भरत ब्रह्मा के शिष्य कहे गये हैं। मत्स्यपुराण में भी इनकी चर्चा मिलती है। डॉ० मनमोहन घोष भरत को काल्पनिक व्यक्तित्व मानते हैं, परन्तु कविकुलगुरु कालिदास इन्हें नाटच का आदिम प्रयोक्ता मानते हैं। बाण ने 'भरत' का स्मरण नृत्यशास्त्र के प्रणेताओं में किया है।

नाटचशास्त्र भरत के पुत्रों की संख्या 'सौ' और शारदातनय का भावप्रकाशन 'पाँच' बताता है। उपलब्ध नाटचशास्त्र के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल में 'भरत' शब्द जातिवाची हो गया था। 'अमरकोश' में भी 'भरत' शब्द 'नट' का पर्याय है।

शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने भरत एवं उनके पुत्रों से कहा—'नाटचवेद' भरत'— अर्थात् नाटचवेद का भरण (धारण, ग्रहण) करो।' तुम लोक में 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे।

नाटचशास्त्र को भरत से सम्बद्ध किया जाता है, परन्तु आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व भी यह धारणा विद्यमान थी कि नाटचशास्त्र एक सङ्ग्रह-ग्रन्थ है और यह धारणा सत्य है।

नाटचशास्त्र के आधार पर महर्षि भरत का काल-निर्णय किया जाना ठीक नहीं। नाटचशास्त्र के आधार-ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं।

९. दत्तिल

नाटयशास्त्र के अनुसार ये महर्षि भरत के पुत्र थे। इन्हें गान्धर्वशास्त्र के संक्षेप का कर्ता कहा जाता है। रत्नाकर के टीकाकार सिंहभूपाल ने अनेक स्थानों पर इनका मत उद्धृत किया है। दत्तिल ने मूर्च्छना के चार भेद,-पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणी माने हैं, इस सम्बन्ध में मतङ्ग ने भी दत्तिल का अनुसरण किया है। प्रथम शती ई० के एक शिलालेख में दत्तिल की चर्चा है।

'नृत्तलक्षण' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा भी प्रायः आती है, जो दत्तिल के सिद्धान्तों का प्रतिपादक कहा जाता है।

'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक एक ग्रन्थ किसी मध्ययुगीन आचार्य की कृति है, जो रत्नाकर के कुछ श्लोकों का संग्रहमात्र हैं।

१०. कोहल

महर्षि भरत के पुत्र एवं महर्षि भरत के सिद्धान्तों का विस्तृत निरूपण करनेवाले प्रसिद्ध हैं। इन्होंने श्रुतियों की अनन्तता प्रतिपादित की है।

कोहलकृत कहे जानेवाले ग्रन्थ के खण्डित भाग ही मिलते हैं। 'कोहलमतम्' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी मिलती है।

'कोहलरहस्यम्' नामक एक ग्रन्थ भी मिलता है, जो नाम से कोहलानुयायी किसी व्यक्ति की कृति प्रतीत होता है।

११: स्कन्द और शुक्र

इनके विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता। एक द्रविड़ ग्रन्थ के अनुसार स्कन्द ने नाट्यशास्त्र की शिक्षा अगस्त्य को दी थी।

शृङ्गारशेखरकृत ग्रन्थ 'अभिनयभूषण' के अनुसार शुक्राचार्य की कृति 'शुक्रमतम्' है। शारदातनय तथा अन्य अनेक ग्रन्थकारों ने शुक्रमत की चर्चा की है।

१२. विश्वावसु

इन्हें अर्जुन का गुरु कहा जाता है। कल्लिनाथ ने विश्वासवसुमत का उल्लेख किया है। इनका विशेष विवरण अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

१३. अगस्त्य

नाट्यशास्त्र काशी-संस्करण के अनुसार महर्षि भरत से नाट्यशास्त्र का श्रवण करनेवालों में अगस्त्य भी हैं। द्रविड़ भाषा का एक ग्रन्थ 'तालसमुद्र' अगस्त्य की रचना कहा जाता है। ताल के सम्बन्ध में इतना विस्तृत विवेचन और कहीं नहीं प्राप्त होता।

१४. विशाखिल

ये सप्तगीतों के प्रामाणिक आचार्य्य माने गये हैं। मतङ्ग ने तान और मूर्च्छना का अन्तर प्रतिपादित करते समय विशाखिल से असहमति प्रकट की है। नान्यदेव ने इनके ग्रन्थ में ध्रुवा गीतों के उदाहरण भी देखे थे, जो अब अप्राप्य है।

१५. कम्बल, अश्वतर

इन दोनों विभूतियों के नाम साथ-साथ आते हैं। शार्ङ्गदेव ने स्वरसाधारण के विषय में चर्चा करते समय इनके मत का उल्लेख किया है।

१६. कश्यप

इन्हें 'मुनि' कहा गया है। कश्यप एवं वृद्ध कश्यप की चर्चा प्रायः आती है। शार्ङ्गदेव ने इनकी चर्चा की है। कल्लिनाथ ने कश्यप की उक्ति के रूप में कुछ श्लोक दिये हैं। एक जाति के शुद्ध एवं विकृत भेदों के लिए एक मूर्च्छना का विधान भी कश्यप ने किया है। बारह ग्रामरागों को भाषाओं का जनक कश्यप ने बताया है।

मतङ्ग ने कश्यप या काश्यप के मत का उल्लेख किया है। वृद्ध काश्यप के कथनानुसार जातियों में प्रयोज्य स्वर पन्द्रह हैं। उनकी संज्ञा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, उत्कृष्ट पञ्चम, अन्य धैवत, काकली, अन्तर, साधारित षड्ज, साधारण मध्यम, साधारण गान्धार (और कैशिक निषाद) है।

चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक एवं एकश्रुतिक स्वरों को काकली एवं अन्तर के संयोग से रागभाषाओं में प्रयुक्त करने का विधान कश्यप ने किया है। विकृत स्वरों के प्रयोग के कारण रागभाषा-विभाग ग्रामराग-विभाग से भिन्न है।

१७. याष्टिक

इनकी रचना 'याष्टिकसंहिता' कही जाती है, जो आजकल नहीं मिलती। मतङ्ग ने इनके मत की चर्चा की है और याष्टिकसंहिता के श्लोक भी उद्धृत किये हैं। इन्होंने देशी रागों के भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा नाम से तीन भेद बताये हैं। पञ्चश्रुतिक, षट्श्रुतिक और सप्तश्रुतिक स्वर भी इनके मत में हैं।

१८. आञ्जनेय

आञ्जनेय के सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ 'आञ्जनेयसंहिता' कहा जाता है, इसे ही कुछ लेखकों ने 'हनुमत्संहिता' कहा है। इसी का एक नाम 'भरतरत्नाकर' भी कहा जाता है।

आञ्जनेय का मत ही 'हनुमन्मत' कहलाता है। इसमें श्रुतिसंख्या अठारह है।

रघुनाथ का कथन है--एक बार आञ्जनेय कदलीवन में पहुँचे, जहाँ याष्टिक मुनि अपने दक्ष इत्यादि शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे।

देशी रागों तथा उनके स्वरों की श्रुतियों में शास्त्रवर्णित स्थिति से विरोध देखकर दक्ष इत्यादि शिष्यों ने याष्टिक मुनि से पूछा कि सप्त शुद्ध एवं द्वादश विकृत स्वरों में एक स्वर की अधिक से अधिक चार (एवं कम से कम दो) श्रुतियाँ हैं, परन्तु देशी रागों में पञ्चश्रुति, षट्श्रुति एवं सप्तश्रुति स्वर भी हैं।

इन स्वरों का शास्त्रों से विरोध है, परन्तु इनके परित्याग से राग-लाभ नहीं होता। इस प्रकार विरोधसम्बन्धिनी शङ्का किये जाने पर याष्टिक मुनि ने इस प्रकार समाधान किया कि शास्त्रविरोध न रहा और रागप्राप्ति भी सम्भव हो गयी।

याष्टिक के शिष्यों की गान-शैली एवं याष्टिक मुनि के द्वारा उपदिष्ट पद्धति को ध्यान में रखकर आञ्जनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की।

आञ्जनेय का मत है--"जिन रागों में श्रुति-स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नहीं होता और जिन पर विभिन्न स्थानों की प्रादेशिक छाया होती है, वे 'देशी राग' हैं।"

ऊपर जिन आचार्य्यों की चर्चा की गयी हैं, उनमें पौर्वापर्य्य-सम्बन्ध किसी सीमा तक भले ही स्थापित किया जा सके, परन्तु उनके काल-निर्णय का कोई वैज्ञानिक उपाय अभी तक उपलब्ध नहीं है।

१९. शार्दूल

इनका अनुमानित काल प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार चौथी या पाँचवीं शती ई० है। ये अभिनय के सम्बन्ध में प्रामाणिक लेखक कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थ 'हस्ताभिनय' में हस्ताभिनय के सोलह भेद हैं। यह ग्रन्थ आजकल अनुपलब्ध है। मतङ्ग ने शार्दूल की चर्चा की है। शार्ङ्गदेव एवं रघुनाथ की श्रुति-जातियाँ शार्दूलमत के अनुसार हैं, इससे सिद्ध होता है कि स्वरविधि पर भी इनका कोई ग्रन्थ होगा।

२०. राहल (राहुल)

ये एक बौद्ध आचार्य्य थे। इनका अनुमानित काल पाँचवीं शती ई० या उससे कुछ पूर्व है। इन्होंने 'भरतवार्तिकम्' के रूप में नाट्यशास्त्र की व्याख्या की है। अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्य्यों ने 'भरतवार्तिकम्' से श्लोक उद्धृत किये हैं। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है।

२१. मतङ्ग

जनश्रुति के अनुसार इनका काल छठीं शती ई० है। प्रो० रामकृष्ण कवि इनका काल नवीं शती ई० का मध्य भाग मानते हैं।

मतङ्ग के ग्रंथ का नाम 'बृहद्देशी' है, जिसमें आठ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में ताल और वाद्य पर भी विचार किया गया है, परवर्ती सभी आचार्य्यों ने मतङ्ग का मत सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है।

मतङ्ग ने काश्यप, नन्दी, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु, शार्दूल, विशाखिल इत्यादि पूर्वाचार्य्यों की चर्चा की है।

इन्होंने भरतोक्त सप्तस्वर मूर्च्छनाएँ मानी तो हैं, परन्तु रागसिद्धि के लिए मूर्च्छना के आकार को विस्तृत करके उसे 'द्वादशस्वर' मानने पर बल दिया है। यह द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद नन्दिकेश्वर का कहा जाता है।

आचार्य्य अभिनवगुप्त ने इस द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है; उसके पश्चात् यह वाद पनप नहीं सका।

मतङ्ग चित्रावादक थे, इसलिए इन्हें 'चैत्रिक' कहा जाता है। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार मतङ्ग ही किन्नरी वीणा के आविष्कारक हैं, इनसे पूर्व वीणा पर सारिकाएँ नहीं होती थीं।

कुम्भ के अनुसार मतङ्ग की किन्नरी पर चौदह पर्दे होते थे, वैसे उनकी संख्या अठारह तक हो सकती थी।

आधुनिक वे सभी तन्त्रीवाद्य किन्नरी के विकसित रूप हैं, जिन पर सारिकाएँ विद्यमान हैं। मतङ्ग ने देशी रागों को भी ग्रामों में वर्गीकृत किया है।

२२. कीर्तिधर

ये एक प्राचीन आचार्य्य हैं। आचार्य्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के छठे एवं उन्नीसवें अध्याय में इनकी चर्चा की है। ये रस एवं संगीत के प्रामाणिक आचार्य्य और नाट्यशास्त्र के व्याख्याता हैं। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है।

२३. सुधाकलश

इनका काल नवीं शती ई० के लगभग कहा जाता है। ये राजशेखर के गुरु जैनाचार्य्य के शिष्य थे। सुधाकलश की रचना 'सङ्गीतोपनिषत्सार' है।

इसी ग्रन्थ के आधार पर रचित एक कृति 'सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार' है, जिसमें

भोज, तालरत्नाकर, शिवमत, गौरीमत, विश्वावसु, तुम्बरु, वसिष्ठपुत्र, पालक भूपाल इत्यादि की चर्चा है। इसी ग्रन्थ में अर्जुन को विश्वावसु का शिष्य बताया गया है।

इस ग्रन्थ के अन्त में 'भवेश भूपाल' एवं 'भवेत्स भूपाल' दो पाठ भिन्न-भिन्न प्रतियों में मिलते हैं। यदि भवेश भूपाल शुद्ध पाठ हो, तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौदहवीं शती ई० होना चाहिए। मिथिलानरेश भवेश के द्वारा १३३० ई० में लिखा एक दानपत्र प्राप्त होता है।

२४. लोल्लट

लोल्लट नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध व्याख्याता हुए हैं, इनकी व्याख्या का नाम 'गुणनिका' है। अभिनवगुप्त ने रस-प्रकरण में इनके मत का खण्डन किया है। रस का प्रत्येक विद्यार्थी इनके नाम से परिचित है। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है।

२५. धण्टक

भरत-नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त संस्करण इनकी व्याख्या का विषय बना है। अभिनवगुप्त ने इनकी चर्चा की है।

२६. रुद्रट

ये कश्मीरनिवासी थे, इनका समय नवीं शती ई० है। इनका दूसरा नाम 'शतानन्द' था और ये सामवेदी ब्राह्मण थे। राजशेखर ने 'काकु' के सम्बन्ध में इनके मत का खण्डन किया है।

२७. देवराज

ये एक अप्रसिद्ध सङ्गीताचार्य्य हुए हैं, इनका अनुमानित काल नवीं शती ई० है।

२८. सागरनन्दी

ये नाटकरत्नकोश और निघण्टुरत्नकोश इत्यादि ग्रन्थों के व्याख्याता हुए हैं। अमरकोश की व्याख्या में सुभूति तथा 'सङ्गीतराज' में कुम्भ ने इनका नाम लिया है। इनका काल ९८० ई० है। अभिनवगुप्त ने इनकी कुछ मान्यताओं का खण्डन भी किया है।

२९. अभिनवगुप्त

प्रत्यभिज्ञादर्शन, नाट्य एवं सङ्गीत के प्रामाणिकतम आचार्य्य श्रीमान् अभिनवगुप्त का काल दशम शती ई० का अन्तिम भाग है। ये कश्मीरी थे। इन्होंने वितस्ता

नदी के तट पर स्थित प्रवरपुर के एक मठ में 'भरतनाट्यशास्त्र' की अमर टीका 'अभिनवभारती' की रचना की।

संस्कृत भाषा के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याग्रन्थों में 'अभिनवभारती' का स्थान है। इसमें न तो कोई अनुपयुक्त बात कही गयी है, न कोई दुर्बोध स्थल अस्पष्ट रहने दिया गया है।

रस के सम्बन्ध में उद्भट, लोल्लट, शङ्कुक इत्यादि के मतों का निराकरण करके इन्होंने 'रस' पर अपने मत की स्थापना सप्रमाण एवं युक्तियुक्त रूप में की है, जो आज भी प्रमाण है।

इन्होंने मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है। इन्होंने लिखा है कि इनके समय के लक्ष्यवेदियों का कथन है कि मध्यमग्राम में पञ्चम के द्वारा परित्यक्त एक श्रुति का ग्रहण केवल धैवत ही करता हो, इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं। इससे सिद्ध है कि इनके समय में ग्रामों का संश्लिष्ट प्रयोग होने लगा था। षड्जग्रामीय ऋषभ और अन्तर गान्धार क्रमशः मध्यमग्रामीय पञ्चम और धैवत बनते हैं। षड्ज-ग्रामीय ऋषभ के पश्चात् और अन्तर गान्धार से पूर्व शुद्ध गान्धार विद्यमान है, प्रतीत होता है कि त्रिश्रुतिक पञ्चम के पश्चात् भी उसका प्रयोग अभिनवगुप्त के काल में होता था। इनके समय में श्रुत्युत्कर्ष से द्विश्रुतिक एवं त्रिश्रुतिक स्वर भी अधिक श्रुतियों से युक्त किये जाकर प्रयुक्त होते थे। काकली और अन्तर के प्रयोग से चतुः-श्रुति एवं त्रिश्रुति स्वर भी न्यूनश्रुति होते थे। अभिनवगुप्त के मत में सभी स्वरों का श्रुतिकृत वैचित्र्य सम्भव है।

अभिनवगुप्त का यह मत देशी रागों में प्रयोज्य स्वरों के सम्बन्ध में है, ग्रामरागों एवं जातियों से इस मत का कोई सम्बन्ध नहीं।

शुद्ध रागों के निर्वचन के पश्चात् अभिनवगुप्त ने काश्यप एवं दुर्गा इत्यादि के मत के अनुसार छियानवे रागों का वर्णन करके उनका रस औस भाव में विनियोग बताया है।

'अभिनवभारती' का आतोद्यविधि भाग अभी तक अप्रकाशित है।

३०. महाराज भोज

प्रसिद्ध विद्याव्यसनी धारानरेश महाराज भोज का काल ९९८ ई० से १०६२ ई० तक है। इनका अलंकारशास्त्र-विषयक विशाल ग्रन्थ 'शृंगारप्रकाश' है, जिसमें छत्तीस 'प्रकाश' हैं।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' भी भोज का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। व्याकरण एवं सङ्गीत पर भी इनकी रचनाओं की चर्चा मिलती है। शार्ङ्गदेव ने इनका स्मरण किया है।

महमूद गजनवी के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए संघटित एक राजसंघ में इन्होंने भी सहायता दी थी।

३१. नान्यदेव

इनका काल १०८० ई० है। ये मिथिला के कर्णाटजातीय राष्ट्रकूट नरेश थे। इन्होंने अपने भाई कीर्तिराज को नेपाल के राजसिंहासन पर अधिष्ठित किया था। इनकी उपाधियाँ 'मोहनमुरारि', 'क्षमापालनारायण' थीं।

नान्यदेव का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वती हृदयालङ्कार' है। इसमें आपिशल, पाणिनि, विशाखिल, काश्यप, मतङ्ग, देवराज, शातातप तथा 'रत्नकोश' इत्यादि की चर्चा है। 'सरस्वतीहृदयालङ्कार' का दूसरा नाम 'भरतभाष्य' भी है।

नान्यदेव ने गान्धारग्राम की चर्चा करते हुए उससे उत्पन्न रागों को लौकिक व्यवहार के लिए भी उपयुक्त बताया है।

'ग्रन्थमहार्णव' नामक एक ग्रन्थ को भी नान्यदेव की कृति कहा जाता है।

३२. त्रिभुवनमल्ल

पश्चिम चालुक्यचक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल का शासनकाल १०७६ ई० से ११२६ ई० तक है। इन्हें जयसिंह भी कहा जाता है। इतिहास में ये 'विक्रमाङ्कदेव' एवं 'परमर्दी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। महाकवि बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' नामक महाकाव्य की रचना इन्हीं के गुणगान में की है।

महाराज त्रिभुवनमल्ल की राजधानी 'कल्याण', दक्षिण हैदराबाद का कल्याणी नामक प्रदेश, थी। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, परन्तु जगदेकमल्ल, शार्ङ्गदेव एवं हम्मीर ने सादर इनके मत का उल्लेख किया है।

३३. सोमेश्वर

ये महाराज त्रिभुवनमल्ल के प्रतापी पुत्र थे, इन्होंने अपने पिता के यशोगान में 'विक्रमाङ्काभ्युदय' की रचना की है। इनके द्वारा रचित दूसरा ग्रन्थ 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' है, जिसे एक विश्वकोश समझा जाना चाहिए, इसमें पाँच प्रकरण हैं और इन प्रकरणों में सौ अध्याय हैं। यह प्रधानतया राजविद्या का ग्रन्थ है, जिसकी रचना राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए हुई है।

इस ग्रन्थ के चौथे प्रकरण में एक हजार एक सौ सोलह श्लोक सङ्गीत हैं।

भाषा, विभाषा, क्रियाङ्ग इत्यादि में विभक्त छियानवे देशी रागों का कथन सोमेश्वर ने किया है। उदाहरणों के द्वारा प्रबन्धों का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में है और यह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अनेक आचार्य्यों ने आदरपूर्वक सोमेश्वरमत का उल्लेख किया है। महाराज सोमेश्वर को भूमल्ल भी कहा जाता है। ये 'कुण्डलीनृत्तम्' के आविष्कर्त्ता एवं प्रवर्त्तक हुए हैं। इनका राज्यकाल ११२७–११३४ ई० है।

३४. जगदेकमल्ल

ये महाराज सोमेश्वर के पुत्र थे, इनकी उपाधि 'प्रतापचक्रवर्ती' थी। इनका राज्यकाल ११३४–११४५ ई० है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'सङ्गीतचूड़ामणि' है, जिसमें परमर्दी, सोमेश्वर, पाण्डुसूनु एवं 'बृहद्देशी' की चर्चा है। 'प्राकृतछन्द' के रचयिता स्वयम्भू की चर्चा भी इस ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के पाँच अध्यायों में प्रबन्ध, ताल, राग, वाद्य एवं नृत्य का वर्णन हुआ है। वाद्याध्याय और नृत्याध्याय असम्पूर्ण प्राप्त हुए हैं।

सङ्गीतसमयसार के रचयिता पार्श्वदेव (तेरहवीं शती ई०) ने 'सङ्गीतचूडामणि' से अनेक श्लोक उद्धृत कर लिये हैं।

मलाबार में 'सार' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जो अनेक प्रतियों के आधार पर किया हुआ 'संगीतचूडामणि' का पुनः संस्कारमात्र है।

जगदेकमल्ल-कृत एक ग्रन्थ 'नाटचटिप्पणी' भी है, जिसे नाटचशास्त्र की संक्षिप्त व्याख्या समझा जाना चाहिए।

जगदेकमल्ल ने जातियों के ध्यान भी दिये हैं।

३५. शारदातनय

इनके पिता का नाम कृष्णभट्ट एवं गुरु का नाम दिवाकर था। इनका काल प्रायः ११५० ई० है। शारदातनय के दो ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' और 'शारदीय' हैं।

भावप्रकाशन नाटच का ग्रन्थ है, परन्तु इसके एक अध्याय में सङ्गीत के सिद्धान्त सार रूप में दिये गये हैं, सङ्गीत के विषय में विस्तृत निरूपण इन्होंने 'शारदीय' में किया है, जिसकी चर्चा 'भावप्रकाशन' में है। 'शारदीय' आजकल अप्राप्य है।

अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, शृंगारप्रकाश, अभिलषितार्थचिन्तामणि, कल्पतरु, योगमाला इत्यादि ग्रन्थ एवं मातृगुप्त, शंकुक, व्यास, वासुकि इत्यादि आचार्य्यों

की चर्चा 'भावप्रकाशन' में है। रूपकलक्षण में ब्राह्मणमत एवं बौद्धमत का स्मरणीय उल्लेख किया गया है।

३६, हरिपाल

महाराज हरिपाल चालुक्यवंशीय सौराष्ट्रनरेश थे, इनकी राजधानी अभिनवपुर (नवानगर) थी। ये महाराज भीमदेव के पुत्र थे और इनकी उपाधि'(विचार-चतुर्म्मुख' थी। इनका काल ११७५ ई० है।

महाराज हरिपाल ने नाटचविद्या-सम्बद्ध नारियों के लिए कावेरीतीर पर स्थित श्रीरङ्गम् में 'सङ्गीतसुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की।

यद्यपि महाराज हरिपाल भरत के अनुयायी प्रतीत होते हैं, तथापि इन्होंने 'भरतार्णव' (नन्दिकेश्वर मत के ग्रन्थ) से भी कुछ संगृहीत किया है। शुद्ध, छायालग इत्यादि वर्गीकरण एवं रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग इत्यादि वर्गीकरण भी इनकी चर्चा का विषय बने हैं और सत्तर रागों का निदर्शन इन्होंने किया है। महाराज हरिपाल ने करण-प्रकरण में कीर्तिधर एवं नन्दी का अनुगमन किया है।

सङ्गीतसुधाकर के प्रथम अध्याय में नृत्य, द्वितीय एवं तृतीय में वाद्य और चतुर्थ में गीत का प्रतिपादन है।

३७. सोमराजदेव

इन्होंने ११८० ई० में 'संगीत-रत्नावली' की रचना की। सोमराजदेव को सोमभूपाल भी कहा जाता है। ये सम्राट् अजयपाल और भीमपाल के वेत्राधिपति थे। ये स्वयं को 'चौलुक्यनृपतिप्रतिहारचूडामणि' कहते हैं। इनकी उपाधि 'नाट्यवेद-विरिञ्चि' थी। सोमराजदेव अत्यन्त दानी थे, इनके पिता जगद्देव ने सिन्धु देश के राजा को पराजित किया था।

'सङ्गीत-रत्नावली' एक प्रौढ़ रचना है, इसमें नौ अध्याय हैं। इनमें क्रमशः, वस्तु-सामान्य, स्वर और ग्राम, प्रबन्ध, बयालीस राग, देशी राग, ताल तथा अन्तिम तीन अध्यायों में वाद्य का वर्णन है।

इन्होंने एकतन्त्री वीणा (ब्रह्मवीणा) एवं आलापिनी वीणा के लक्षण भी दिये हैं और नवीन प्रबन्धों की रचना भी की है।

३८. शार्ङ्गदेव

बारहवीं शती ई० में सम्भवतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण कश्मीर के एक विद्वान् ब्राह्मण श्रीभास्कर को दक्षिण में आश्रय लेना पड़ा।

श्रीभास्कर के पुत्र श्रीसोढल देवगिरि (दौलताबाद) के यादवनरेश भिल्लम और तत्पश्चात् उनके पुत्र सिंघण (राज्यकाल १२१०-१२१७ ई०) के आश्रय में रहे।

श्रीसोढल के पुत्र आचार्य शार्ङ्गदेव भी महाराज सिंघण के आश्रित थे। सिंहभूपाल (चौदहवीं शती) का कथन है कि आचार्य शार्ङ्गदेव से पूर्व समस्त सङ्गीत-पद्धति बिखर गयी थी, जिसे स्पष्ट रूप से शार्ङ्गदेव ने सँजो दिया।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने जिन-जिनके मत का मन्थन करके अपनी अमर कृति 'सङ्गीत-रत्नाकर' का प्रणयन किया वे हैं—सदाशिव, शिवा, ब्रह्मा, भरत, काश्यप, मतङ्ग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, स्वाति, गण, बिन्दुराज, क्षेत्रराज, राहल, रुद्रट, नान्यदेव, भोज, परमर्दी, सोमेश्वर, जगदेक, नाटयशास्त्र के व्याख्याता लोल्लट, उद्भट, शंकुक, अभिनवगुप्त, कीर्तिघर तथा अन्य अनेक सङ्गीतपारङ्गत।

सङ्गीत-रत्नाकर उपलब्ध सङ्गीतग्रन्थों का मुकुट है। केशव, सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ ने संस्कृत में तथा विट्ठल ने तेलुगु में इस पर टीका की है। इसकी हिन्दी (ब्रजभाषा) टीका के कर्ता कोई गङ्गाराम हुए हैं।

रत्नाकर में प्राचीन एवं सामयिक सङ्गीत का विस्तृत वर्णन है। सात अध्यायों में क्रमशः स्वर, राग, प्रकीर्ण विषय, प्रबन्ध, ताल, वाद्य एवं नृत्य का विशद वर्णन शार्ङ्गदेव ने किया है, इसी लिए इनका ग्रन्थ 'सप्ताध्यायी' कहलाता है।

रत्नाकर मूर्च्छना-पद्धति का ग्रन्थ है, फलतः मेल-पद्धति या ठाठपद्धति की मान्यताओं से सर्वथा मुक्त होकर ही इस ग्रन्थ का समझा जाना सम्भव है।

शार्ङ्गदेव ने दुर्गा इत्यादि के मतों का आश्रय लेकर दो सौ चौंसठ रागों का निरूपण किया है।

मेल-पद्धति के विचारक सङ्गीतसुधाकार रघुनाथ ने रत्नाकर के विषय को न समझने के कारण शार्ङ्गदेव का उपहास किया है। षाड्जी जाति की मतङ्गनिर्दिष्ट द्वादशस्वर-मूर्च्छना धैवतादि को रघुनाथ 'मेल' समझे हैं, जब कि मतङ्ग या शार्ङ्गदेव के ग्रन्थों में 'मेल' शब्द की चर्चा तक नहीं है।

प्रो० के० वासुदेव शास्त्री का मत है कि पश्चाद्वर्ती रघुनाथ जैसे ग्रन्थकार संगीत-रत्नाकर तथा उससे पूर्व के ग्रन्थों को समझने में असमर्थ रहे हैं।

शार्ङ्गदेव द्वारा 'तुरुष्क गौड' एवं 'तुरुष्क तोडी' चर्चा यह प्रमाणित करती है कि दक्षिण तक में उस समय मुस्लिम सङ्गीत का प्रभाव पड़ चुका था।

रत्नाकरवर्णित रागों में अनेक राग ऐसे हैं, जिनके साथ मालव, गौड, कर्णाट, बङ्गाल, द्रविड़, सौराष्ट्र, दक्षिण, गुर्जर-जैसे शब्द संलग्न हैं, जो इन रागों का विभिन्न प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होना सिद्ध करते हैं।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने लिखा है कि मेरे समय में बङ्गाल, भैरव, वराटी, गुर्जरी, वसन्त, धन्नासी, देशी, देशाख्या इत्यादि रागाङ्गों, डोम्बक्री, प्रथममञ्जरी, कामोदा जैसे भाषाङ्गों, गौडकृति, देवकृति जैसे क्रियाङ्गों तथा भैरवी, मल्हार, कर्णाट गौड, तुरुष्क गौड, द्राविड गौड, ललिता इत्यादि उपाङ्गों के रूप में सर्वथा परिवर्तन हो गया है।

रागों के वर्तमान रूपों के आधार पर रागवर्गीकरण की कुछ पद्धतियों को असङ्गत समझनेवाले व्यक्तियों के लिए शार्ङ्गदेव का यह कथन आँख खोल देनेवाला है।

रत्नाकर के अनेक रागों का प्रत्यक्षीकरण करके 'वाक्' और 'गेय' की रचना हम कर चुके हैं।

३९. ज्याय सेनापति

ये वारङ्गल-नरेश महाराज गणपति के साले एवं सेनाध्यक्ष थे। गणपति स्वयं भी शास्त्रकार थे, परन्तु उनकी कृति उपलब्ध नहीं।

ज्याय सेनापति ने 'नृत्तरत्नावली' 'वाद्यरत्नावली' एवं 'गीतरत्नावली' की रचना की। नृत्तरत्नावली के अतिरिक्त अन्य दोनों ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

नृत्तरत्नावली के पूर्वार्द्ध में 'मार्ग' एवं उत्तरार्ध में 'देशी' नृत्त पर अच्छा विचार किया गया है। इसका रचना-काल १२४९ ई० है।

ज्याय सेनापति ने कीर्तिधर, तण्डु, अभिनवगुप्त एवं सोमेश्वर के मतों में यत्र-तत्र कुछ संशोधन किये हैं। इनके ग्रन्थ में 'आत्मचरित' नामक किसी ग्रन्थ की चर्चा भी है।

४०: पाल्कुरिकि सोमनाथ

ये एक तेलुगु लेखक हैं। इनके ग्रन्थ 'पण्डिताराध्यचरितम्' का रचनाकाल प्रायः १२७० ई० है। इनके द्वारा उल्लिखित वीणाएँ वीणोत्तमा, ब्रह्मवीणा, कैलासवीणा, सारङ्गवीणा, कूर्मवीणा, आकाशवीणा, मार्गवीणा, रावणवीणा, गौरीवीणा, अम्बिका-वीणा, बाणवीणा, काश्यपवीणा, स्वयम्भूवीणा, भुजङ्गवीणा, भोगवीणा, किन्नरवीणा, त्रिस्वरी वीणा, सरस्वतीवीणा, मोल्लिवीणा, मनोरथवीणा, गणनाथवीणा, रावण-

हस्ता, चित्रिका, नाटयनागरिका, कुम्भिका, विपञ्ची, कसरि-वीणा, परिवारि-वीणा, स्वरमण्डल, घोषवती, औदुम्बरी, तन्त्रीसागर एवं अम्बुज-वीणा हैं।

मृदङ्गों में समहस्त, वैसालम् इत्यादि की चर्चा है।

नन्दी के एक सौ आठ भङ्ग, वंश के उनचास भेद, बाईस गमक, एक सौ आठ राग, बारह वाचक, पाँच स्वादु, तीन स्थान, बत्तीस शुद्ध ठाय, पन्द्रह सालग ठाय, अड़तालीस लास्य रङ्ग, बीस अङ्गहार, इत्यादि वस्तुएँ इस ग्रन्थ के पर्वत-प्रकरण में उद्धृत हैं। इनमें से अधिकांश अन्यत्र अज्ञात हैं।

४१. महाराणा हम्मीर

'तिरिया तेल, हमीर-हठ, चढ़ै न दूजी बार' लोकोक्ति में जिन स्वाभिमानी नरेश महाराणा हम्मीर की चर्चा है, वे प्रतापी योद्धा होने के अतिरिक्त संगीत के धुरन्धर आचार्य एवं ग्रन्थकार भी थे।

ये 'शाकम्भरी' प्रदेश के अधिपति थे, इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शृङ्गारहार' की रचना १३०० ई० से पूर्व की।

शृङ्गारहार में ब्रह्ममत के 'गान्धर्वामृतसागर' से उद्धरण दिये गये हैं। अन्तिम अध्याय में रसों के उदाहरण 'अमरुकशतक', 'उत्तररामचरित', 'सप्तशती' (प्राकृत), 'मेघसन्देश', 'कुमारसम्भव', 'वीरचरित', 'नागानन्द' एवं 'शकुन्तला' (नाटक) से लिये गये हैं।

महाराणा हम्मीर ने अन्य लेखकों के अतिरिक्त अर्जुन, याष्टिक, रावण, दुर्गाशक्ति, अनिल, कोहल, कम्बल, जैत्रसिंह, रुद्रट, भोज, विक्रम, जगदेव, केशिदेव, सिंहण, गणपति एवं जयसिंह की प्रशंसा की है।

ये शैव थे। 'प्रसिद्धालंकारों' का वर्णन इन्होंने किया है। इनका कथन है कि जातियों की उत्पत्ति सामवेद से हुई है। इन्होंने प्राचीन रागों के अतिरिक्त याष्टिक के बीस भाषारागों एवं पन्द्रह जनक रागों का वर्णन भी किया है। तिरपन देशी राग भी इन्होंने दिये हैं। 'रूप' और 'गीत' पर पृथक्-पृथक् अध्याय लिखे हैं। मोक्षदेव ने इस ग्रन्थ से बहुत कुछ जैसा का तैसा ले लिया है।

हम्मीर ने तालाध्याय में एक सौ बीस ताल दिये हैं। एकतन्त्री, नकुला, किन्नरी और आलापिनी के विषय में इन्होंने लिखा है।

इन्होंने दृष्टियों का वर्णन किया है, फिर पुष्पाञ्जलि की चर्चा की है। इनके ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय नाटच पर है।

४२. अल्लराज

ये महाराणा हम्मीर के पुत्र थे। इनकी रचना 'रसतत्त्व समुच्चय' में पाँच अध्याय हैं। आदिम चार अध्यायों में 'संगीत' एवं अन्तिम अध्याय में साहित्य का वर्णन है। 'रसतत्त्वसमुच्चय' एक प्रौढ़ रचना है।

४३. पार्श्वदेव

पार्श्वदेव जैनमतावलम्बी आचार्य थे। इनके पिता ब्राह्मण थे। पार्श्वदेव का काल प्रायः १३०० ई० है। इनके ग्रन्थ 'सङ्गीतसमयसार' में दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वेदमूलक 'सङ्गीत' है, द्वितीय अध्याय में नाड़ी से सम्बद्ध विचार हैं। अवशिष्ट अध्याय देशी सङ्गीत से सम्बद्ध हैं।

सिंहभूपाल ने 'रत्नाकर' की टीका में पार्श्वदेव के ग्रन्थ से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।

पार्श्वदेव ने जाति-गान को मार्गसंगीत कहा है। इन्होंने छियासठ श्रुतियों के नाम दिये हैं, जो 'कोहल' के अनुसार हैं।

तानयज्ञों पर विचार करते हुए पार्श्वदेव ने कहा है कि गायकों को तानों के द्वारा यज्ञफल की प्राप्ति होती है।

तृतीय अध्याय में पार्श्वदेव ने रागों पर विचार किया है। इनके ग्रन्थ को प्रामाणिक रचना समझा जाता है।

४४. गोपाल नायक

तेरहवीं शती ई० में ये सङ्गीत के प्रामाणिक आचार्य, रचनाकार एवं कलाविद् हुए हैं। कुछ लोगों के अनुसार ये देवगिरि के राजा के आश्रित थे, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण नहीं।

हमारी दृष्टि में ये उत्तर-भारतीय आचार्य थे। कारण निम्नलिखित हैं —

(१) इनके प्रसिद्ध गुरु 'बैजू' थे। बैजनाथ का संक्षेप 'बैजू' हो जाना उत्तर-भारतीय भाषाओं तथा ब्रज-प्रदेश की विशेषता है।

(२) अनेक प्रामाणिक ध्रुवपदों में बैजू गोपाल को 'गुपला' कहकर सम्बोधित करते हैं। 'गुपला' अपभ्रंश भी हिन्दी की विशेषता है।

(३) दक्षिण से मलिक काफूर के द्वारा जो सङ्गीतज्ञ बलात् लाये गये, उनमें इनका नाम नहीं।

(४) इनके कुछ सुरक्षित ध्रुवपदों से साक्ष्य मिलता है कि इन्होंने नान्यदेव मिथिलानरेश की कृति से प्रभाव ग्रहण किया।

(५) इनके एक ग्रन्थ 'तौर्य्यत्रिकसार' का पता हमें चला है, जो व्रजभाषा में है। उसके अनेक ध्रुवपद तत्कालीन स्थिति एवं यवनों द्वारा सङ्गीत में किये जानेवाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं।

इनके सम्बन्ध में डागुर वंश के एक वृद्धतम प्रतिनिधि के पास सुरक्षित ध्रुवपदों से ये तथ्य प्रमाणित होते हैं—

गोपाल, बैजू के प्रिय एवं होनहार शिष्य थे। इन्हें गान्धार स्वर पर जब विलक्षण अधिकार हो गया तब इन्हें अभिमान हुआ और ये निकल खड़े हुए। दिल्ली आये, और इनकी चर्चा अलाउद्दीन खिलजी तक पहुँची। खिलजी के समक्ष इन्होंने संस्कृत का ध्रुवपद गाया, जब वह उस ध्रुवपद को नहीं समझा, तब इन्होंने हिन्दी में ध्रुवपद गाये।

मुसलमानों ने षड्ज-मध्यम-भाव का विनाश करके षड्ज-पञ्चम-भाव की स्थापना की। मूर्च्छना-पद्धति के स्थान पर एक और पद्धति (मुकाम-पद्धति) अपनायी। वीणा में सारें अचल कर दीं। फलतः एक राग की दो 'सरगम' हो गयीं। स्वरों के नाम बदल गये, सात प्रकट रहे और सात गुप्त।

उधर अपने प्रतिभाशाली शिष्य के वियोग में बैजू 'बावरे' हो गये और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्होंने यवनों में फँसे हुए गोपाल को पाकर डाँटा और कहा कि तूने केवल एक गान्धार सिद्ध किया और तुझे इतना अभिमान हो गया, तेरे अवशिष्ट स्वरों की स्थिति क्या है? तू यवनों में आ फँसा, तूने विद्या दी नहीं, छिना दी। इन लोगों को श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना इत्यादि का भेद न बता। शत्रुओं पर नागपाश डाल, जब कोई गुणी इस जाति में उत्पन्न होगा, तब यह भेद खुलेगा।

एक सहस्र बैजू के और एक सहस्र अपने ध्रुवपदों का संग्रह गोपाल ने किया। नान्यदेव के भरतभाष्य का अध्ययन करनेवाले गोपाल नायक का पाण्डित्य असन्दिग्ध है।

कल्लिनाथ एवं वेंकट मखी ने इनकी चर्चा सम्मानपूर्वक की है।

४५. अमीर खुसरो

इस महान् प्रतिभाशाली कूटनीतिज्ञ, विद्वान्, कवि एवं संगीतज्ञ का जन्म १२५४ ई० में हुआ। इन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर क्रमशः ग्यारह सम्राटों को देखा था।

ये तुर्की, फारसी, अरबी एवं हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान् थे, संस्कृत का भी कुछ ज्ञान इन्हें था। हिन्दी साहित्य के इतिहास, सूफी परम्परा, इतिहास, फारसी साहित्य एवं

सङ्गीत के विद्यार्थियों के लिए इनका नाम विस्मरणीय नहीं। निस्सन्देह इन जैसी प्रतिभाओं से संसार कहीं शताब्दियों में सुशोभित होता है।

ये सूफी थे और प्रसिद्ध सूफी सन्त हजरत निजामुद्दीन के मुरीद। इनमें नकल करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी। फारसी रचनाओं को सम्मुख रखकर वैसी ही रचना करने में इनको आनन्द आता था।

ईरानी सङ्गीत का इन्हें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान था और भारतीय संगीत का केवल व्यावहारिक। भारतीय सिद्धान्तों से इन्हें परिचय न प्राप्त हो सका।

मुसलमान इनका नाम 'हजरत अमीर खुसरो रहमतुल्ला अलेह' कहकर लेते हैं।

इन्होंने अपने समय दिल्ली के आसपास प्रचलित रागों का सम्भवतः मुकाम-पद्धति से वर्गीकरण किया। मूर्च्छना-पद्धति का ज्ञान इन्हें नहीं था।

ये ईरानी और भारतीय संगीतज्ञों में विवाद कराते और सार-ग्रहण की चेष्टा करते थे।

ईरानी सङ्गीत पर प्रागैतिहासिक काल से भारतीय प्रभाव था, इसी लिए वह भारतीय रागों में घुल-मिल गया।

इन्होंने नये संकीर्ण रागों, नये तालों की रचना की। कौल और तराना की रचना इन्होंने अबुलफज्ल के कथनानुसार 'समित' और 'तातार' की सहायता से की। सम्भव है 'समित' शब्द भारतीय गायकों को किसी 'समिति' का वाचक हो।

खयाल के प्रवर्तक भी यही कहे जाते हैं।

सितार और तबले की चर्चा खुसरो के किसी ग्रन्थ में कहीं नहीं है। ईरानी संगीत ने खुसरो के बहुत पूर्व से 'सहतार' की चर्चा है, जो भारतीय 'त्रितन्त्री' शब्द का ठीक-ठीक पर्याय है।

वाजिदअली शाह ने कहा है—"खुसरो ने अपने आविष्कारों से उन नियमों एवं वाद्यों का विनाश कर दिया, जो सहस्रों वर्षों से चले आते थे। खुसरो के शिष्यों ने अपनी धृष्टता में आकर उन कलावन्तों से झगड़ा किया, जो महादेव के समय से चली आनेवाली परम्पराओं के प्रतिनिधि थे। खुसरो ध्रुवपद के नहीं, खयाल के नायक थे।"

औरंगज़ेबकालीन लेखक फ़क़रुल्लाह ने एक जनश्रुति के रूप में कहा है—"खुसरो ने छिपकर अलाउद्दीन के दरबार में निमन्त्रित गोपाल नायक का संगीत सुना, फिर उन्हीं रागों की 'नकल' करके गोपाल नायक को चकित कर दिया और कहा कि मैं पहले ही इन रागों का आविष्कार स्वयं कर चुका हूँ।"

अमीर खुसरो के अधिकांश आविष्कार आज काल के गर्भ में समा चुके हैं।

४६. श्रृङ्गारशेखर

ये वारङ्गल तैलङ्गाना के निवासी थे। इनकी रचना 'अभिनयभूषण' है। प्रताप-रुद्र (१३३० ई०) के सभासद् वीरभल्लट को इन्होंने अपना गुरु कहा है।

'अभिनयभूषण' पर तामिल टीका भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का भरत-पद्धति से सम्बन्ध खोजना कठिन है। इसमें शुक्राचार्य, स्कन्द, बृहस्पति, कोहल, दुर्वासा, अर्जुन, वायुसूनु, भरतार्णव, नन्दिकेश्वर, याज्ञवल्क्य इत्यादि के उद्धरण हैं।

श्रृङ्गारशेखर ने नक्षत्रों एवं राशियों का साङ्गीतिक वर्णन किया है।

पुरुष एवं स्त्री-रागों की चर्चा भी इन्होंने की है। इनके अनुसार पुरुष राग आठ हैं, जिनके नाम भूपाल, भैरव, श्री, कलपञ्जर, वसन्त, वङ्गाल, मालव एवं टक हैं।

भूपाल की पत्नियाँ—
वेलाकुली, मलहरी और मौलि,
भैरव की पत्नियाँ—
देवक्रिया, मेघरञ्जी और करञ्जी,
श्रीराग की पत्नियाँ—
हिन्दोली और माहुरी,
कलपञ्जर की पत्नियाँ—
शंकराभरण, देशी और ललिता,
वसन्त की पत्नियाँ—
रामक्रिया, वराली और कौलिका,
मालव की पत्नियाँ—
गुण्डक्रिया और गुर्जरी,
वङ्गाल की पत्नियाँ—
धन्यासिका, काम्भोजी एवं कर्णाटगौडिका,
नाटक या नाट की पत्नियाँ—
नारायण, गौड, देशाक्षी और आहिरी हैं।

कुछ लोग राग-रागिनी-वर्गीकरण को केवल उत्तर भारत की विशेषता मानते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य श्रृङ्गारशेखर का उपर्युक्त वर्गीकरण इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करता है।

४७. शम्भुराज

ये काञ्चीनरेश थे। इनका काल १३५० ई० है। इनका ग्रन्थ है 'शम्भुराजीय'। पण्डित-मण्डली ने अपने उपजीव्य ग्रन्थों में 'शम्भुराजीय' की चर्चा की है।

४८. मदनपाल

ये दिल्ली के सम्राट् थे और १३७५ ई० में दिल्ली पर इनका अधिकार था। ये एक तेलुगु राजकुमार थे और इन्होंने धर्म्मशास्त्र, निघण्टु एवं सङ्गीत पर कई ग्रन्थ लिखे थे। विश्वेश्वर नामक एक महाविद्वान् इनके सहायक थे। इनके ग्रन्थ 'आनन्द-सञ्जीवन' की चर्चा कुम्भकर्ण ने 'नृत्यरत्नकोश' एवं पण्डितमण्डली ने 'सङ्गीत-शिरोमणि' में की है।

मदनपाल के ग्रन्थ का आरम्भ तालाध्याय से है, जिसमें एक सौ तीस ताल और तत्पश्चात् प्रस्तार हैं। दूसरे अध्याय में राग और तीसरे अध्याय में प्रबन्ध हैं, जो अकस्मात् समाप्त हो जाता है।

यह ग्रन्थ संक्षिप्त है। रागलक्षणों में रागों की तानें दी गयी हैं। रचना-काल १३५० ई० है।

४९. विद्यारण्य

ये अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित एवं उद्धारक थे। इन्हीं की सहायता से १३३६ ई० में तुङ्गभद्रा नदी के तट पर विजयनगर साम्राज्य की आधारशिला रखी गयी। विद्यारण्य माधवाचार्य इस साम्राज्य के महामन्त्री थे और हरिहर प्रथम नरेश।

नवस्थापित विजयनगर में देश भर के विद्वान् एवं गुणियों को आकृष्ट करने का श्रेय श्री विद्यारण्य को है।

के० वासुदेव शास्त्री का कथन है कि अत्यन्त प्रयत्न करने पर श्री विद्यारण्य को प्रचलित पचास राग मिले, जिनका वर्गीकरण उन्होंने पन्द्रह मेलों में किया।

हमारी दृष्टि में मेल-पद्धति ईरानी मुकाम-पद्धति का रूपान्तर है, जो सारिकाओं का अचल रूप लिये उत्तर भारत से पहुँची, विद्यारण्यजी के पन्द्रह मेलों में 'हेजुज्जी-मेल' भी ईरानी 'हिजाज' का प्रभाव विद्यारण्यजी की मेल-पद्धति पर प्रमाणित करता है।

मूर्च्छना-पद्धति उस समय सुबोध नहीं रही थी, फलतः वादकों के लिए सुकर मेल-पद्धति चल पड़ी।

मेल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विद्यारण्यजी ने किया है, उनका ग्रन्थ 'संगीत-सार' था, जो आज उपलब्ध नहीं।

रघुनाथ ने विद्यारण्यजी के मत का वर्णन किया है।

विद्यारण्यजी के पन्द्रह मेल (१) नट्टा, (२) गुर्जरिका, (३) वराटिका, (४) श्री (५) भैरविका, (६) शंकराभरण, (७) आहरिका, (८) वसन्तभैरवी, (९) सामन्त, (१०) काम्बोदिका, (११) मुखारिका, (१२) शुद्धरामक्रिया, (१३) केदारगौड, (१४) हीजुज्जी, (१५) देशाक्षिका नामक रागों में प्रयोज्य हैं, इन्हीं में अन्य प्रचलित राग भी आ जाते थे।

५०. भुवनानन्द

ये बङ्गाल-निवासी थे। इनका काल १३५० ई० है। ये जन्मना मैथिल थे और इनकी उपाधि 'कविकण्ठाभरण' थी। इनका ग्रन्थ 'विश्वप्रदीप' है, जिसमें विविध विषय हैं। सङ्गीतभाग का नाम 'सङ्गीतालोक' है, जिसमें २६०० श्लोक हैं। संगीतालोक के छः अध्यायों में क्रमशः नाद, राग, ताल, गीत, प्रकीर्णक एवं वाद्य का वर्णन है।

भुवनानन्द ने शिव, नन्दिकेश्वर, शिवा, तुम्बुरु, वायु, नारद, कम्बल, अश्वतर, विश्वावसु, काश्यप, शार्दूल, परमर्दी, कुण्डिन, कोहल, शक्ति, श्रीभरत, याष्टिक, दशग्रीव, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त, विशाखिल, श्रीभूवल्लभ, अनिलज, लाटक (?) मातृगुप्त इत्यादि का स्मरण किया है।

५१. देवेन्द्रभट्ट

ये महाकवि रुद्राचार्य के शिष्य एवं ग्वालियर के निवासी थे। इनका काल १३५० ई० है। इनकी रचना 'सङ्गीतमुक्तावली' में शार्ङ्गदेव इत्यादि की भी चर्चा है। पण्डितमण्डली ने अपने सहायक ग्रन्थों में 'संगीतमुक्तावली' की चर्चा की है।

मुक्तावली में नवीन नृत्यप्रक्रिया पर भलीभाँति विचार किया गया है। आन्ध्र, महाराष्ट्र, कर्णाटकी शैलियाँ भी दी गयी हैं।

५२. भट्टमाधव

ये वाराणसी–निवासी थे। इन्होंने 'सङ्गीत-दीपिका' या 'सङ्गीतचन्द्रिका' की रचना की है। नन्द्यावर्त, जीमूत और सौभद्र ग्राम इनके द्वारा चर्चा का विषय बने हैं और इनके द्वारा राग-रागिनी-वर्गीकरण अपनाया गया है। इनके ग्रन्थ का रचना-काल प्रायः १४०० ई० है। रघुनाथ ने संगीतसुधा में इनकी चर्चा की है।

५३. विप्रदास

इनकी उपाधियाँ शुक्लपण्डित, सत्यवाक्, शिववल्लभ, विचित्रक, विचित्रवाक्, करणाग्रणी और प्रभुसूरि थीं। इनके पिता 'निधिकर' थे।

विप्रदास के ग्रन्थ का नाम 'सङ्गीतचन्द्र' है, जिसका भाग 'नृत्यप्रकाश' ही उपलब्ध है। विप्रदास ने सिंगण, माधव, शार्ङ्गदेव तथा अन्य कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों की चर्चा की है। इनकी शैली प्रौढ़ एवं संक्षेपप्रिय है। इन पर अभिनवगुप्त का पर्याप्त प्रभाव है।

५४. वेम

ये कोण्डवीटि नगर के रेड्डिवंशीय राजा थे। इनकी रचना 'सङ्गीतचिन्तामणि' है। इस ग्रन्थ के वही खण्ड उपलब्ध हैं, जिनमें वाद्य एवं नृत्य का वर्णन है। इन दोनों खण्डों में छः सहस्र श्लोक हैं।

इनका आनुमानिक काल चौदहवीं शती ई० है।

५५. सिंगणार्य

ये वेम तथा प्रौढ देवराय इत्यादि राजाओं के आश्रय में रहे थे। इन्होंने 'भरत-मिति' नामक ग्रन्थ लिखा, जो नाटचशास्त्र की व्याख्या मात्र है। इनके पौत्र विट्ठल ने तेलुगु में सङ्गीतरत्नाकर की टीका की है।

विप्रदास, वेम, हम्मीर इत्यादि ने एक और सिंगणार्य की चर्चा की है।

५६. सिंगभूपाल या सिंहभूपाल

इनका समय चौदहवीं शती ई० है। ये संगीतरत्नाकर के सर्वप्रथम टीकाकार हैं। अपनी एक अन्य रचना 'रसार्णवसुधाकर' में इन्होंने अपने वंश का परिचय दिया है।

ये शूद्र जातीय राजा थे। इनके पिता अनपोत (उपनाम अनन्त) और पितामह दाचन थे, जिन्होंने पाण्डचनरेश को पराजित करके 'खड्गनारायण' उपाधि धारण की।

सिंहभूपाल के अग्रज देवगिरीश्वर का स्वर्गवास शीघ्र ही हो गया। विन्ध्यपर्वत एवं श्रीशैल के मध्य में स्थित 'रागाचल' सिंहभूपाल की राजधानी थी।

रत्नाकर की टीका 'संगीत-सुधाकर' में सिंहभूपाल ने कहा है कि शार्ङ्गदेव के उदय से पूर्व भरत इत्यादि के ग्रन्थ दुर्बोध हो गये थे और संगीतपद्धति बिखर गयी थी। शार्ङ्गदेव ने उसे एकत्र एवं सुबोध कर दिया। संगीतरत्नाकर के मर्म को गिने-चुने

लोग ही जानते हैं, सिंहभूपाल ही उसकी व्याख्या करने में समर्थ है, क्योंकि उसने ही चिरन्तन अभ्यास से भरत इत्यादि के दुर्बोध ग्रन्थों को समझा है।

सिंहभूपाल की टीका सुबोध एवं महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'सङ्गीतसमयसार', 'नन्दिकेश्वर', मतङ्ग, नैषध, वेदान्तकल्पतरु, विचार-चिन्तामणि, दत्तिल पर प्रयोग-स्तवक व्याख्या इत्यादि की चर्चा है।

सिंहभूपाल ने लिखा है कि लोक में वैणिक यथेच्छ स्थानों पर स्वरों की स्थापना करते हैं।

५७. पण्डितमण्डली

जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शर्की (१४००-१४४० ई०) के समय मलिक सुलतान कड़ा का अधिपति था। इसके पुत्र बहादुर मलिक ने सङ्गीत एवं नाट्य पर अनेक ग्रन्थ एकत्र किये तथा भारत के प्रत्येक भाग से अनेक शास्त्रों के पण्डितों को बुलाकर इकट्ठा किया।

उस पण्डित-मण्डली के समक्ष बहादुर मलिक ने कहा कि पण्डितवृन्द मेरा ग्रन्थ-संग्रह देखें और उसके आधार पर एक ऐसे ग्रन्थ की रचना करें, जिसमें सङ्गीत-सम्बन्धी मतभेदों का निर्णय हो। गम्भीर चिन्तन एवं विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ में सङ्गीतसम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त एवं निष्कर्ष होने चाहिए।

बहादुर मलिक के विद्या-प्रेम के परिणामस्वरूप उन समस्त पण्डितों के सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा 'सङ्गीतशिरोमणि' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना १४२९ ई० में हुई।

संगीत-शिरोमणि की प्रति खण्डित रूप में उपलब्ध हुई है, फलतः इसके कर्ताओं के नाम तो नहीं मिलते, आधारग्रन्थों के नाम प्राप्त हैं। वे आधारग्रन्थ, संगीतसागर, रागार्णव, सङ्गीतदीपिका, सङ्गीतचूडामणि, वादिमत्तगजांकुश, संगीतरत्नाकर, सङ्गीतदर्पण, तालार्णव, सङ्गीतकल्पवृक्ष, सङ्गीतरत्नावली, नृत्यरत्नावली, सङ्गीत-मुद्रा, संगीतोपनिषत्सार, संगीतसारकलिका, सङ्गीतविनोद, आनन्दसञ्जीवन, मुक्तावली तथा अन्य अनेक ग्रन्थ हैं।

'सङ्गीतशिरोमणि' में सम्भवतः पाँच या छः प्रकाश रहे होंगे, अब केवल प्रथम एवं चतुर्थ उपलब्ध हैं।

प्रथम अध्याय का परिशीलन बताता है कि इस ग्रन्थ के संग्राहक व्यर्थ विस्तार से बचे हैं। जिस विषय में मतभेद है, वहाँ सभी सम्प्रदायों की चर्चा की गयी है।

'संगीतशिरोमणि' का प्रबन्ध भाग भी पृथक् मिला है, जिसमें परमर्दी, अर्जुन, सोमेश्वर, प्रताप पृथ्वीपति आदि की चर्चा है।

५८. कुम्भ

मेवाड़ के प्रसिद्ध विजयी महाराणा कुम्भकर्ण या कुम्भा 'संगीतराज' नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ के रचयिता हैं। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार प्रकरण और प्रत्येक प्रकरण में चार परिच्छेद हैं। सोलह सहस्र श्लोकों में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

कुम्भ ने विषय-विभाजन इत्यादि में शार्ङ्गदेव का अनुकरण किया है तथा अभिनव-गुप्त, विप्रदास, अशोक, देवेन्द्र, मदन एवं पण्डित-मण्डली का प्रभाव भी उन पर है।

महाराणा कुम्भ की पुत्री और पुत्र ने १४८० ई० के अभिलेख में महाराणा कुम्भ की कृति 'गीतगोविन्दटीका' एवं 'संगीतराज' की चर्चा की है।

महाराणा कुम्भ ने जहाँ भरत, मतङ्ग एवं अभिनवगुप्त इत्यादि के सिद्धान्तों पर असाधारण अधिकार प्रकट किया है, वहाँ देशी संगीत की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत किया है। रागों के ध्यान भी दिये हैं।

५९. देवण भट्ट

इनका समय १४५० ई० है। 'संगीतमुक्तावलि' नामक एक अच्छा ग्रन्थ इनकी रचना है। देवेन्द्र के गतिलक्षण से भी इसमें कुछ श्लोक उद्धृत हैं।

६०. कल्लिनाथ

इनके पिता लक्ष्मीधर एवं पितामह वल्लभदेव शाण्डिल्यगोत्रीय विद्वान् थे।* विजयनगर के यादव वंशीय राजा इम्मडिदेव (१४४६-१४६५ ई०) आचार्य कल्लिनाथ के आश्रयदाता थे। आचार्य कल्लिनाथ संगीतरत्नाकर पर अपनी टीका के कारण प्रसिद्ध हैं।

---

*इस अनुबन्ध का प्रयोजन शोध में रुचि रखनेवाले सज्जनों को संगीत सम्बन्धी आचार्यों एवं ग्रन्थों का परिचय कराना है। जिन विभूतियों या कृतियों की चर्चा यहाँ की गयी है, उनके अतिरिक्त भी आचार्य और रचनाएँ होंगी, उनकी खोज एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

भारतीय सङ्गीत के प्रामाणिक इतिहास एवं विकास को जानने के लिए उन कृतियों का सूक्ष्म परिशीलन आवश्यक है, जिनकी चर्चा हुई है। इस कार्य के महत्त्व की ओर देश के सभी सङ्गीतानुरागियों का ध्यान जाना चाहिए।

इन समस्त उपलब्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियों का संग्रह एक केन्द्र में होना और उपयुक्त स्थितियों का उत्पन्न किया जाना परमावश्यक है।

उपजीव्य सामग्री

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	कलकत्ता-संस्करण, सं० १९४६ वि०
२. अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	गायकवाड़-सीरीज
३. अमरकोश	अमरसिंह	निर्णयसागर-संस्करण, १८८२ ई०
४. अमरविवेक	महेश्वर	" "
५. कलानिधि	कल्लिनाथ	आनन्दाश्रम-संस्करण एवं अडयार-संस्करण
६. काव्यप्रकाश	मम्मट	बम्बई-संस्करण, १९१७ ई०
७. काव्यप्रकाश टीका	वामन	" "
८. तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट	टीकात्रयोपेत, प्रथम काशी-संस्करण
९. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	.....	मद्रास-युनिवर्सिटी-संस्करण
१०. ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	गौतम बुकडिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५२ ई०
११. नाटचशास्त्र	....	बम्बई-संस्करण, काशी-संस्करण, बड़ोदा-संस्करण, प्रो० भोलानाथ कृत हिन्दी व्याख्या सहित प्रथम तीन अध्याय, साहित्य-निकेतन कानपुर
१२. निरुक्त	यास्क	भास्कर पुस्तकालय, कनखल
१३. निरुक्त-टीका	दुर्गाचार्य	भास्कर पुस्तकालय, कनखल
१४. भरत-कोश	प्रोफ़ेसर रामकृष्ण कवि	तिरुपति-संस्करण
१५. महाभाष्य	पतञ्जलि	निर्णयसागर-संस्करण
१६. माहिषेय भाष्य.	....	मद्रास युनिवर्सिटी-संस्करण
१७. रामायण	वाल्मीकि	रामकृत टीकासहित निर्णयसागर-संस्करण
१८. श्रीमद्भागवत (मूल)	वेदव्यास	वेंकटेश्वर प्रेस-संस्करण
१९. साहित्यदर्पण	विश्वनाथ	विमलाटीकासहित, लखनऊ

ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
		संस्करण (द्वितीय)
२०. सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	तत्त्वबोधिनी सहित, बम्बई-संस्करण
२१. सङ्गीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव	अडयार-संस्करण एवं आनन्दाश्रम-संस्करण
२२. सुधाकर	सिंहभूपाल	,, ,, ,,

अनुक्रमणिका

अ

अंश स्वर (लक्षण), ४९,७८,८४
अगस्त्य, २९४
अचलवीण, २०
अजयपाल, ३०२
अतीतग्रह, २४४
अथर्ववेद, ४
अनंश (लक्षण), ८४
अनपोत, ३१२
अनभ्यास (लक्षण), ८४
अनागत, २४४
अनालम्बी, २९१
अनिबद्ध पद (लक्षण), २५०
अनिल, ३०५
अनिलज, ३११
अनुभाव (लक्षण), २५८
अनुमितिवाद, २५९
अन्तर (लक्षण), ७
अन्तर गान्धार, (लक्षण), ७,९,११, १४,२७,२८,१९१
अन्तर मार्ग (लक्षण), ८४,८६
अन्तर साधारण (लक्षण), १९२
अन्तरा (लक्षण), २५३
अन्नंभट्ट, १
अन्योपरागजा, २३२
अन्ववसर्ग, १७
अपन्यास (लक्षण), ४९, ८३,१२१
अपरान्तक, २४४
अबुलफ़ज़्ल, ३०८
अभिनय भूषण, २९४,३०९
अभिनवगुप्त, २,३,५४, ५५, ७४, १३३, १३४, १३५, २५१, २५६, २६२, २६३, २६८, २६९, २७९, २८०, २९०, २९१, २९२, २९६, २९७, २९८, २९९, ३०३, ३०४, ३११, ३१२, ३१४
अभिनवपुर, ३०२
अभिनव भारती, २, २९९
अभिरुद्गता, ३८, ४४, ४५, ५१, ७१, ७३
अभिलषितार्थ चिन्तामणि, ३००, ३०१
अमरकोश, १८, २९३, २९८
अमरविवेक, १८
अमरुकशतक, ३०५
अम्वाहेरिका, २२७
अम्बिका, ३०४
अम्बुजवीणा, ३०५
अर्जुन, २९४, २९८, ३०३, ३०५, ३०९, ३१३
अर्धमागधी (लक्षण), २४५, २४६

अर्धवेसरी, २२९
अलाउद्दीन, ३०७, ३०८
अल्पत्व (लक्षण), ८४
अल्लराज, ३०६
अवपाणि, २४४
अविनाशी, ४७
अविलोपी, ४७
अशोक, ३१४
अश्वक्रान्ता, ३८, ४४, ४६, ५१, ५२, ७०, ७३
अश्वतर, १९४, १९६, १९७, २८१, २९५, ३०३, ३११

आ

आक्षिप्तिका, २५५
आक्षेपिकी (लक्षण), २५३
आञ्जनेय, २७८, २७९, २८१, २८४, २९५, २९६, ३०१
आञ्जनेय संहिता, २९५
आत्मचरित, ३०४
आनन्दवर्धन, २६६
आनन्दसञ्जीवन, ३१०, ३१३
आन्धालिका, २२८
आन्धाली, २८३
आन्ध्र, ३११
आन्ध्री, ७४, ७५, ७६, ८०, ८२, ८३, १३०, १३२, १८१
आन्ध्री (भाषा), २२७
आन्ध्री (विभाषा), २२७
आपिशलि, ३०३
आभीरिका, २२७, २२९
आभीरी, २२७, २३२
आम्रपञ्चम, २२५
आयतत्व, १६, १७
आयाम, १६, १७
आरम्भ (लक्षण), १३५
आर्षभी, ७४, ७५, ७६, ७९, ८०, ८२ ९५, ८३, ८५, १३०,
आलाप (लक्षण) १३५, २५४
आलापिनी, ३०२
आवाप, २३५
आवृत्ति, (लक्षण), २४२
आसारित, २४४
आसावरी, २८७
आहरिका, ३११
आहरी, ३०९

इ

इम्मडिदेव, २८२, ३१५

उ

उत्तर, २३६, २४४
उत्तरमन्द्रा, ३८, ४३, ४६, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५९, ६०, ६१, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ७१, १३३, २७७
उत्तररामचरित, ३०५
उत्तरायता, ३८, ४३, ४६, ५१, ६७, ६८, ७२
उत्पत्तिवाद, २५९
उद्घट्ट, २४१
उद्भट, २, ३०३, ३११
उपनिषद्, २
उपमन्द्र, २९१

उपराग, २२४
उपरिपाणि, २४४
उपाङ्ग, २३३
उपोहन (लक्षण), ८७, ८८
उरुता, १७
उल्लोप्य, २४४
उषा, २९१

ऋ

ऋक्, २४४
ऋग्वेद, ४
ऋषभ-पञ्चम, ७, ९, २३, २४
ऋषभांश आन्ध्री, १३१
ऋषभांश आर्षभी, ९६
ऋषभांश कार्मारवी, १२८
ऋषभांश विकृत धैवती, १०७
ऋषभांश विकृत नैषादी, १०९
ऋषभांश विकृत पञ्चमी, १०४
ऋषभांश षड्जमध्यमा, ११७

ए

एककल, २३६
एकतन्त्री, ४८, ४९, ५५, ५९, ६३, ११०, २७६, २९०, ३०२, ३०५

ओ

ओवेणक, २४४
ओहारी (लक्षण), २४९

औ

औडुद्वेषी, ७७
औडुवित (लक्षण), ३६, ३८, ८५
औदुम्बरी, ३०५
औमापतम्, २९१
औरङ्गजेब, ३०८

क

'क' अन्तर, २६, ३०
ककुभ, २२४, २२६
कच्छेल्ली, २२९
कन्दर्प, २२५
कम्बल, १९४, १९६, १९७, २८१, २९५, ३०३, ३०५, ३११
कम्रिका, ४८
करञ्जी, ३०९
करण (लक्षण), २५५
करुण, ९९, १०८
करणाग्रणी, ३१२
कर्णाट, ३०० ३०४,
कर्णाट (देश), ३११
कर्णाट गौड, २८३, ३०४
कर्नाट गौडिका, ३०९
कलपञ्जर, ३०९
कला, २३५
कलावती, २९३
कलोपनता, ३९, ४५, ४७, ५२, ७२
कल्पतरु, ३०१
कल्याण, ३००, २८६
कल्लिनाथ, १०, २८, ४९, ५०, ६०, ६१, ७९, ८१, ८२, ८६, ८८, ९४, १११, ११४, १२७, १३२, १९६, १९९, २००, २२१, २२२, २२५, २२६, २२८, २२९, २३६, २४८, २५४, २५५, २८१, २८३, २८४, २९४, २९५, ३०३, ३०७, ३१४

कविकण्ठाभरण, ३११
कश्मीर, २८२
कश्यप, ५०, ९३,२०१,२०४, २२६, २९५
कसरि वीणा, ३०५
काकली निषाद, ११, १४, १९१, २७२
काकली (लक्षण), ७,८
काकलीसहिता, ३७
काकली साधारण (लक्षण), १९२
काञ्ची, ३१०
कात्यायन, २
काफ़ी, २८७
कामोद (प्रथम), २२५
कामोद (द्वितीय), २२५
कामोदा, २०४
काम्वोदिका, ३११
काम्भोजी, २२६, २२९, ३०९
कार्मारवी, ७४, ७६, ८०, ८२, ८३, १२६, १७५, २१२, २१३
कालसाधारणता, १९१
कालिदास, २६७, २७०, २९३
कालिन्दी, २२९, २३०
कावेरी, ३०२
काव्यप्रकाश, २५८, २६०, २६२, २६५, ३०१
काश्यप, २७८, २७९, २८०, २८१, २९५, २९७, २९९,३००,३०३,३११
काश्यपवीणा, ३०४
किन्नरवीणा, ३०४
किन्नरी, ५७, ५८, ६४, ८९, ९१, १३९, १४१, १४४, १४६, १४८, १५१, १५४, १५७, १६०, १६३, १६६, १६९, १७१, १७५, १७८, १८१, १८४, १९०, २०४, २९७, ३०५
किरणावली, २३१
कीर्तिधर, २, २९७, ३०२, ३०३, ३०४
कीर्तिराज, ३००
कुणप, १८
कुण्डलीनृत्त, ३०१
कुण्डिन, ३११
कुमारसम्भव, ३०५
कुम्भ, ६, १३, १८, २८, ३१, ३७, ३८, ५२, ५३, ५४, ५५, ६०, ८९, १३३, १३४, १९५, १९८, २८२, २९७, ३१४
कुम्भकर्ण, ३१०, ३१४
कुम्भिका, ३०५
कूर्मवीणा, ३०४
कृष्णभट्ट, ३०१
कृशता, १६
केदारगौड, ३११
केशव, ३०३
कैलासवीणा, ३०४
कैशिक (राग, लक्षण), १९२, २१२
कैशिक ककुभ, २२५
कैशिकी, ७४, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, १२२, १६९, १९५, १९६, २१२, २१३, २१८, २८१
कैशिकी निषाद (लक्षण), १९२
कैशिकी (भाषा), २२७

कोकिला पञ्चम, २२५
कोण, १८, १९
कोण्डवीरि, ३१२
कोलाहला, २२७
कोहल, २६, २७६, २९४, २९७, ३०३, ३०५, ३०६, ३०९, ३११
कोहलमतम्, २९४
कोहलरहस्यम्, २९४
कोहलहास, २२५
क़ौले, ३०८
कौलिका, ३०९
कौशली, २८८
क्रिया, २३५
क्रियाङ्ग, २३३
क्रीडनीयक, ४
क्षेत्रल़, ३०३
क्ष्मापाल नारायण, ३००

ख

ख, १६, १७, १९
'ख' अन्तर (लक्षण), २५
खञ्जनी, २२९
खड्ग नारायण, ३१२
खमाज, २१६
ख़याल, ३०८
खुम्माण कुलनन्दन, ५२
खुसरो, ३०८

ग

'ग' अन्तर, २४, २९
गङ्गाराम, ३०३
गण, ३०३
गणपति, ३०४, ३०५
गर्भ, २५४
गाथा, २४४
गान्धर्व कल्प, ७८
गान्धर्वामृतसागर, ३०५
गान्धारग्राम, ६
गान्धारपञ्चम, २२४, २२६, २२९
गान्धारपञ्चमी, ७६, ७९, ८०, ८२, ८३, १२८, १२९, १७८
गान्धार पञ्चमी (भाषा), २२७
गान्धारवल्ली, २२९
गान्धारांश आन्ध्री, १३१
गान्धारांश कैशिकी, १२४
गान्धारांश रक्तगान्धारी, १२१
गान्धारांश विकृत नैषादी, १०९
गान्धारांश शुद्ध गान्धारी, ९९
गान्धारांश षड्जकैशिकी, ११२
गान्धारांश षड्जमध्यमा, ११७
गान्धारांश षाड्गी, ९२
गान्धारी, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ९८, १२८, १४१, १६३, २०१, २०२
गान्धारी (भाषा), २२६, २२९
गान्धारोदीच्यवती, ७४, ७५, ७६, ८०, ८२, ८३, ११७, ११८, १२५, १६३
गीत (लक्षण) १, २, ५, २५०, २६५
गीतगोविन्दटीका, ३१४
गीतलक्षण, ३१४
गीतरत्नावली, ३०४
गीति, ९१, २४५

गुणनिका, २९८
गुण्डक्रिया, ३०६
गुपला, ३०६
गुरु (लक्षण), २३४
गुर्जर (देश), ३०४
गुर्जरिका, ३१०
गुर्जरी, २२७, २२९, ३०४, ३०९
गोपाल, ३०६, ३०७
गोपालनायक, ३०६
गोपुच्छा, २४३
गौड (देश), ३०४
गौड (लक्षण), २२३, ३०९
गौडकृति, ३०४
गौड कैशिक मध्यम, २२४
गौडी, २२८, २२९
गौडी (गीति), २४९
गौरीमत, २९८
गौरीवीणा, ३०४
ग्रन्थमहार्णव, ३००
ग्रह, २४४
ग्रहस्वर (लक्षण), ८१
ग्राम (लक्षण), ५
ग्रामद्वयबोधकसारणी, ४१

घ

घण्टक, २९८
घुड़्च, १३
घोषक, ४८
घोषवती, ३०५
घोषा, ४८

च

चञ्चत्पुट, १०१, २३६
चतुरस्र, २३६
चतुर्थ सारणा (लक्षण), २१
चतुष्कल, २३६
चतुष्कल चञ्चत्पुट, २३९
चतुष्फल चाचपुट, २३९
चतुष्कल षट्पिता पुत्रक, २४०
चतुस्सारणा, १७
चाचपुट, २३६
चालुक्य, ३०२
चित्र, ९०, ९१, ९४, ९६, ९८, ९९, १०६, १०८, ११०, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४१ (लक्षण)
चित्रिका, ३०५
चूतमञ्जरी, २२८
चूर्णपद (लक्षण), २५०
चैत्रिक, १९, २९७
चौथी सारणा, २४
चौलुक्यनृपति प्रतीहार चूडामणि, ३०२
च्युतषड्ज (लक्षण), १९२

छ

छन्दक, २४४
छेवाटी, २२७, २२८

ज

जगदेक, ९४, ९७, १०१, १०३, १०५, १०७, ३०३
जगदेक मल्ल, ३००, ३०१
जगदेव, ३०५
जगद्देव, ३०२

जयचन्द, २८२
जयचन्द, २८२
जयसिंह, ३००, ३०५
जोति (लक्षण) ४९, ७४
जातिभिन्न (लक्षण), २२१
जातिसाधारण (लक्षण), १९८
जीमूत, २९२, ३११
जैत्रसिंह, ३०५
जौनपुर, ३१३
ज्याय सेनापति, ३०४

झ

झण्टुम्, ८७

ट

टक्क, २२४, २२६, २२७
टक्ककैशिक, २२४, २२५, २२६
टोडी, २८५

ड

डोम्बक्री, ३०४

त

तण्डु, २, २९१, ३०४
तन्त्रीसागर, ३०५
तबला, ३०८
तराना, ३०८
तातार, ३०८
तान, २२६, २३०
तानयज्ञ, ३०६
तानवलिता, २२७
ताना, २२७
तानोद्भवा, २२७, २३०
तारगति (लक्षण), ८१
ताल, ९१, २३४, २३५
तालरत्नाकर, २९८
तालसमुद्र, २९४
तालार्णव, ३१३
तीव्रगांधार, २९
तीव्रनिषाद, २८
तुङ्गभद्रा, ३१०
तुम्बुरा, २२९
तुम्बुरु, ३५, २९३, २९८, ३०३, ३११
तुरुष्क गौड, २८२, ३०३, ३०४
तुरुष्क तोडी, २८२, ३०३
तृतीय सारणा (लक्षण), २१, २३
तैत्तिरीय०, १६
तौर्य्यत्रिक, ५
तौर्य्यत्रिकसार, ३०७
त्रवणा, २२७, २२९
त्रवणोद्भवा, २२७
त्रावणी, २२७
त्रितन्त्री, ३०८
त्रिभुवनमल्ल, ३००
त्रिस्वरी, ३०४
त्र्यस्र, २३६

द

दक्ष, २९६
दक्षिण, ३०४
दक्षिण (मार्ग), ९३, ९४, ९६, ९८, ९९, १०६, १०८, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४१ (लक्षण)
दत्तिल, १३, ३६, ३७, ४७, ९९,

१२२, १२३, १२८, १२९, १३२,
१९८, २९३, २९७, ३०३, ३१३
दत्तिलकोहलीयम्, २९४
दमयन्ती, २८२
दशग्रीव, ३११
दाक्षिणात्या, २२७, २२९
दाचन, ३१२
दारवी, १७
दारुण्य, १६, १७
दिवाकर, ३०१
दुन्दुभि, १८
दुर्गशक्ति, २९१, २९७
दुर्गा, २९१, २९९, ३०३
दुर्गाचार्य्य, ४
दुर्गामत, २४८
दुर्गाशक्ति, २९७, ३०५
दुर्वासा, ३०९
देवकृति, ३०४
देवक्रिया, ३०९
देवकी, २८३
देवगिरि, ३०६
देवगिरीश्वर, ३१२
देवण, ३१४
देवराज, २९८, ३००
देवारवर्द्धनी, २२७, २२८, २३०
देवेन्द्र, ३१४
देवेन्द्र, ३१
देशजा, २३२
देशाक्षिका, ३११
देशाक्षी, ३०९
देशारव्य, २२५
देशाख्या, २३२, ३०४
देशी, ३०४, ३०९
दोह्या, २२७
दौलताबाद, ३०२
द्राविड, ३०३
द्राविडी, २२८
द्रुत, २४२, २४४
द्रुतलय, ६३
द्वादशस्वर मूर्च्छनावाद (लक्षण), ५१
द्वारका, २९१
द्विकल, २३६
द्विकल चञ्चत्पुट, २३७
द्विकल चाचपुट, २३८
द्विकल षट्पितापुत्रक, २३९
द्वितीय सारणा, २०, २२

ध

धन्नासी, ३०४
धन्यासिका, ३०९
धैवत, २४
धैवत भूषिता, २२८
धैवतांश आर्षमी, ९६
धैवतांश कार्मारवी, १२७
धैवतांश कैशिकी, १२४
धैवतांश विकृत मध्यमा, १०२
धैवतांश शुद्ध धैवती, १०७
धैवतांश शुद्ध मध्यमा, ११६
धैवतांश षड्जोदीच्यवा, ११४
धैवतांश षाड्जी, ९३

धैवती, ७५, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, १०५, १०६, १०७, १४९
ध्वनि, २२५
ध्वन्यालोक, २६६, २६७
ध्रुव, २३५
ध्रुव (मार्ग), २४१
ध्रुवा, ८७
ध्रुवा (लक्षण), २५२
ध्रुवागान, २, ११५
ध्रुवावृत्त, २५४

न

नकुला, ३०५
नट्ट, २२५, २८३
नट्ट नारायण, २२५
नट्टा, ३११
नन्दयन्ती, ५३, ७३, ७६, ७९, ८०, १३१
नन्दिकेश्वर, २९१, २९२, २९७, ३०२, ३०३, ३०९, ३११, ३१३
नन्दिकेश्वरकारिका, २९०, २९१
नन्दी, २७, २९७, ३०२, ३०५
नन्द्यावर्त, २९२, ३११
नल, २८२
नवतन्त्री, १०, ११, १२, १३, १५, ३९
नवानगर, ३०२
नागगान्धार, २२५
नागपञ्चम, २२५
नागानन्द, ३०५
नाट, ३०९
नाटक (राग) ३०९
नाटकरत्नकोश, २९८
नाट्य, १, ४, ५
नाट्यटिप्पणी, ३०१
नाट्यनागरिका, ३०४
नाट्यवेदविरिञ्चि, ३०२
नाद्या, २३०,
नान्यदेव, ६, ११, ३५, ४८, ५४, ५५, ६४, ६८, ६९, ९९, ११८, १२७, २९२, २९५, ३००, ३०३, ३०७
नायक, ३०८
नारद, २, ६, २५१, २९०, २९२, २९३, ३०३, ३११
नारदीय, २९२
नारदीय शिक्षा, २९२
नारायण, ३०९
निघण्टु, ३१०
निघण्टुरत्नकोश, २९८
निधिकर, ३१२
निबद्धपद, २५०
निर्गीत, २५०
निर्वहण, २५४
निश्शब्द, २३५
निषाद, ११, २७, ३८
निषादांश आन्ध्री, ९७, १३१
निषादांश कार्मारवी, १२८
निषादांश कैशिकी, १२४
निषादांश रक्तगान्धारी, १२१
निषादांश विकृत गान्धारी, १००
निषादांश शुद्ध नैषादी, १०९
निषादांश षड्जमध्यमा, ११७

निषादांश षड्जोदीच्यवा, ११४
निषादिनी, १०७, २२९
निष्काम (लक्षण), २३५
नृत्तरत्नावली, ३०४
नृत्तलक्षण, २९४
नृत्यरत्नकोश, ३१०
नृत्यप्रकाश, ३१२
नैषध, ३१३
नैषादी, ७४, ७५, ७६, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, १०७, १०८, ११०, १५१
नैष्कामिकी (लक्षण), २५३
न्यास स्वर, ४९, ८२

प

पञ्चपाणि, ९०, १३७, २३६
पञ्चम, ९, २४, ३८, २२७
पञ्चम (राग, लक्षण), २१०, २२६
पञ्चम लक्षिता, २२७
पञ्चम षाडव, २२५, २२६, २३०
पञ्चम सारसंहिता, २९२
पञ्चमांश आन्ध्री, १३१
पञ्चमांश कार्म्मारवी, १२७
पञ्चमांश कैशिकी, १२४
पञ्चमांश नन्दयन्ती, १३४
पञ्चमांश मध्यमोदीच्यवा, १२६
पञ्चमांश रक्तगान्धारी, १२१
पञ्चमांश विकृत मध्यमा, १०२
पञ्चमांश शुद्ध पञ्चमी, १०४
पञ्चमांश षड्जकैशिकी, ११२
पञ्चमांश षड्ज मध्यमा, ११७
पञ्चमांश षाड्जी, ९३
पञ्चमी, ७४, ७५, ७६, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, १०३, १०५, १२८, १४७, १९७, २०१, २०२, २१०
पञ्चमी (भाषा), २२७
पण्डितमण्डली, ३४, ३७, ६०, ६२, १९८, २८२, ३१०, ३११, ३१३, ३१४
पण्डिताराध्यचरितम्, ३०४
पतपञ्चम, २८
पतञ्जलि, २, १६, १७
पद (लक्षण), २४९
पदाश्रित गीति (लक्षण), २४५
परमर्दी, ३००, ३०१, ३०३, ३११, ३१४
परिवर्तन, २४२
परिवारिवीणा, ३०५
पल्लवी, २३१
पश्चिम चालुक्य चक्रवर्ती, ३००
पाठ, २५६
पाठ्य, ४
पाणिक, २४४
पाणिनि, २, २१, ३००
पाण्डुसूनु, ३०१
पात, २३५
पार्वती, २३, २३०, २९१
पार्वतीमत, २९१
पार्श्वदेव, ३०१, ३०६
पालक भूपाल, २९८
पाल्कुरिकि सोमनाथ, ३०४
पिञ्जरी, २२८
पुलिन्दका, २२९
पुष्पाञ्जलि, ३०५

पूरवी, २८५
पूर्णा, ३६
पूर्वरङ्ग, २, २५४ (लक्षण)
पृथुला, ९०, ९४, ९६, ९९, १०६, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४५, २४७, (लक्षण)
पोता, २३०
पौरवी, ३९, ४५, ४७, ५२, ७३
पौराली, २२९, २३०
प्रकरण गीतक, २४४
प्रकरी, २४४
प्रताप चक्रवर्ती, ३०१
प्रताप पृथ्वीपति, ३१४
प्रतापरुद्र, ३०९
प्रतिमुख, २५४
प्रत्यभिज्ञादर्शन, २९८
प्रथममञ्जरी, ३०४
प्रथम सारणा (लक्षण), २०, २२
प्रभुसूरि, ३१२
प्रमाणश्रुति (लक्षण), १६, २०, २२, ४२
प्रयोगस्तवक, ३१३
प्रवरपुर, २९९
प्रवेश, २३५
प्रसंसन, १७
प्रसव, २२५
प्रसारित्व, १६
प्रस्तार, १३६, १९०
प्रस्थानत्रयी, २
प्रातिशाख्य, १६, १७
प्रावेशिकी (लक्षण), २५३
प्रासादिकी (लक्षण) २५३
प्रेङ्खक, २२८
प्रौढ़ देवराय, ३१२
प्लुत, २३४

फ

फ़क़रुल्लाह, ३०८

ब

बङ्गाल, ३०४, ३०९
बङ्गाल (प्रथम), २२५
बङ्गाल (द्वितीय), २२५
बहादुर मलिक, ३१३
बहिर्गीत (लक्षण), २५०
बहुत्व (लक्षण), ८४
बाङ्गाली, २२९
बाण, २९२
बाणवीणा, ३०४
बाणासुर, २९१
बाह्यषाडवा, २३०
बिन्दुराज, ३०३
बिलावल, २८६
बिल्हण, ३००
बृहद्देशी, २३९, २९७, ३०१
बृहस्पति, २०४, ३०९
बैजनाथ, ३०६
बौर, ३०६, ३०७
ब्रह्मगीत, २४४
ब्रह्ममत, २९०, ३०५
ब्रह्मवीणा, ४८, २९०, ३०२, ३०४
ब्रह्मसूत्र, २
ब्रह्मा, २९०, ३०३

भ

भट्टनायक, ३, २६१, २६२, २६३
भट्टमाधव, ३११
भट्टलाल्लट, ३, २५९
भम्माण पञ्चम, २२४
भम्माणी, २२८
भरत, २९३
भरतभाष्य, ३००, ३०६
भरतमिति, ३१२
भरतरत्नाकर, २९५
भरतवार्तिकम्, २९६
भरतार्थचन्द्रिका, २९१
भरतार्णव, २९१, २९२, ३०२, ३०९
भयानक, १०६
भवेशभूपाल, २९८
भावना पञ्चम, २२५
भावनी (भाषा), २२७, २३०
भावनी (विभाषा), २२७
भावप्रकाशन, २९३, ३०१
भाषाङ्ग २३३
भास, २२५
भासवलिता, २३१,
भास्कर, ३०२, ३०३
भिन्न (लक्षण), २२१
भिन्न कैशिक, २२३
भिन्न कैशिक मध्यम, २२३
भिन्न तान, २२३
भिन्न पञ्चम, २२३, २२८, २३६
भिन्न पञ्चमी, २२६
भिन्न पौराली, २२८
भिन्नवलिता, २२८
भिन्नषड्ज, २२३, २२६
भिन्ना (गीति, लक्षण) २४९
भिल्लम, ३०३
भीमदेव, ३०२
भीमपाल, ३०२
भुजङ्गवीणा, ३०४
भुवनानन्द, ३११
भूपाल, ३०९
भूमल्ल, ३०१
भैरव, २२५, २८५, ३०४, ३०९
भैरविका, ३११
भैरवी, २८८, ३०४
भोगवर्द्धनी, २२७
भोज, २९८
भोगवीणा, ३०४

म

मण्डलप्रस्तार, ७, ८, २९, ४०, १९३
मतङ्ग, ५, ९, ३४, ३५, ३७, ३६, ५०, ५२, ५४, ५५, ५७, ६१, ६२, ७३, ७४, ८९, ९१, ९२, ९३, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०३, १०६, १०७, १०८, ११०, १११, ११२, ११३, ११५, ११६, ११९, १२०, १२२, १२३, १२६, १३३, १३४, १३९, १६२, १९६, २००, २१६, २२१, २२२, २२५, २३१, २३२, २३४, २४८, २७८, २९३, २९५, २९६, २९७, ३००, ३०३, ३१३, ३१४
मतङ्गकिन्नरी, ५६, ५७, ८९, ९२,

९६, ९९, १०२, १०४, १०७, १०९, १११, ११४, ११६, ११८, १२१, १२४, १२५, १२७, १२९, १३१, १३३, १३४
मतङ्ग किन्नरी लक्षण, ५५
मत्तकोकिला, १९, ४९, ५९, ११०
मत्सरीकृता, ३८, ६९, ७८
मत्स्यपुराण, २९३
मदन, ३१४
मदनपाल, ३१०
मद्रक, २४४
मधुकरी, २२७
मधुरी, २२६, २२८
मध्य, २४२, २४४
मध्यमग्राम (लक्षण), ६, ७, ११
मध्यमग्राम (राग, लक्षण), २०१
मध्यमग्राम (सिद्धि), ११
मध्यमग्रामदेहा, २२७
मध्यमग्रामा, २२६
मध्य-मध्यम, ५६
मध्यम षाडव, २२५
मध्यम साधारण (लक्षण), १९२
मध्यमांश कैशिकी, १२४
मध्यमांश गान्धारोदीच्यवा, ११९
मध्यमांश रक्त गान्धारी, १२१
मध्यमांश विकृत गान्धारी, ९९
मध्यमांश शुद्ध मध्यमा, १०२
मध्यमांश षड्जमध्यमा, ११७
मध्यमांश षड्जोदीच्यवा, ११४
मध्यमा, ७४, ७५, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८५, १०१, १०३, १०४, १४५, १९७, २०१, २०२, २१०, २१५
मध्यमा (भाषा), २२९
मध्यमादितोडी, २८३
मध्यमोदीच्यवा, ७४, ७५, ७६, ७९, ८०, ८१, ९२, ८३, १२५, १७२, २७
मनमोहन घोष, २९३
मनोरथ वीणा, ३०४
मन्द्रगति (लक्षण), ८१
मन्द्रावधि, ५०
मलहरी, ३०९
मलार, ३०४
मलाबार, ३०१
मलिक काफ़ूर, २८२, ३०६
मलिक सुलतान, ३१३
महती, २९२
महमूद गज़नवी, ३००
महादेव, ३०८
महाभाष्य, १६, १७, २५७
महाराष्ट्र, ३११
महेश्वर, १८
मागधी, ९०, ९३, ९४, ९६, ९७, ९९, १०६, ११०, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४५
माङ्गली, २२७, २२८, २२९
मातृगुप्त, ३०१, ३०३, ३११
माधव, ३१२
मान, २४२
मारवा, २८५
मार्ग, ९१, २४१

मार्गवीणा, ३०४
मार्गी, ३९, ४५, ४७, ५२, ७३
मार्दव, १६
मालव, ३०९
मालव (देश), ३०४
मालव कैशिक, २२४, २२६
मालव पञ्चम, २२४, २२६, २३०
मालवरूपा, २२९
मालववेसरी, २२७, २२८, २२९
मालवा, २३०
मालवी (भाषा), २२०, २२७
माहिषेय भाष्य, १६ , १७
माहुरी, ३०९
माहेश्वरसूत्र, २८९
मुक्तावली, ३१३
मुख, २५४
मुखारिका, ३११
मुख्या, २३२
मूर्च्छना (व्युत्पत्ति), ३४, ३६, ३८
मूला, २३२
मृदुत्व, १८
मेघरञ्जी, ३०९
मेघराग, २२५
मेघसन्देश, ३०५
मेदिनी, १८
मेरु, १७
मोक्षदेव, २०८, २१३, २१५, २१८, ३०५
मोहन मुरारि, ३००
मौलि, ३०९
मौल्लिवीणा, ३०४

य

यजुर्वेद, ४
यति, २४३
यथाक्षर चञ्चत्पुट, २३७
यथाक्षर चाचपुट, २३८
यथाक्षर षट्पितापुत्रक, २३९
याज्ञवल्क्य, ३०९
याष्टिक, २२५, २२६, २३२, २७८, २७९, २८१, २८४, २९५, २९६, २९७, ३०३, ३०५, ३११
याष्टिक-संहिता, २९५
यास्क, ३, ४३
योगमाला, ३०१

र

रक्तगान्धारी, ७४, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ११९, १२०, १६६
रक्तहंस, २२५
रगन्ती, २६, २३२
रघुनाथ, २८४, २९६, ३०३, ३११
रजनी, ३८, ४३, ४६, ५१, ६१, ६२, ६५, ६६, ७२, ८५
रत्नाकर, १५५, २८१
रत्नकोश, २९८, ३००
रम्भा, ३०३
रविचंन्द्रिका, २२७
रस, २५८, २६५, २६८, २७०
रसकौमुदी, २६७
रसतत्त्वसमुच्चय, ३०६
रसार्णव सुधाकर, ३१२

राग (लक्षण) ४९, १९२, २००
रागाङ्ग, २३३
रागाचल, ३१२
रागार्णव, ३१३
राजशेखर, २९७, २९८
रामकृष्ण, ३, ३५, ५४, ८९, २७८, २७९, २९६, २९७
रामक्रिया, २८, २८३, ३०९
रामानुज, २
रावण, ३०३, ३०५
रावणवीणा, ३०४
रावणहस्ता, ३०४
राष्ट्रकूट, ३००
राहल (राहुल), २९६, ३०३
रुद्रट, १३४, २९८, ३०३, ३०५
रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २९०
रुद्राचार्य, ३११
रूपक, २५५
रूपसाधार, २२४
रेवगुप्त, २२५, २३१
रोविन्दक, २४४

ल

लक्ष्मीधर, ३१४
लक्ष्मीनारायण, ६
लघु, ८७, २३४
लङ्घन (लक्षण), ८४
लय, २४२
ललित, २८९
ललिता, २२७, २२९, ३०४, ३०९
लारक, ३११
लास्य, २९१
लोप्य (लक्षण), ८४
लोल्लट, २९८, २९९, ३०३, ३११

व

वराटिका, ३११
वराटी, ३०९
वर्तनी (लक्षण), २५५
वर्धमान, २४४
वल्लभ, २९७
वल्लभदेव, ३१४
वसन्त, ३०४, ३०९
वसन्त भैरवी, ३११
वसिष्ठपुत्र, २९८
वाजिद अलीशाह, ३०८
वादिमत्तगजाङ्कुश, ३१३
वाद्य, १, २, १०२
वाद्यरत्नावली, ३०४
वामन, ३, २५९, २६१, २६३
वायु, ३०३, ३११
वायुसूनु, ३०९
वारङ्गल, ३०८
वारङ्गलनरेश, ३०४
वाराणसी, ३११
वाराही, २२८
वार्तिक, ९०, ९६, ९८, ९९, १०६, ११०, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४१
वाल्मीकि, २७७
वाल्मीकि रामायण, २९२, २९३
वासना, २५७

वासुकि, ३०१
वासुदेवशास्त्री, ३०३, ३१०
विकलेन्द्रिय, १९
विक्रम, ३०५
विक्रमाङ्कदेव, ३००
विक्रमाङ्कदेवचरितम्, ३००
विक्रमाङ्काभ्युदय, ३००
विक्षेप, २३५
विचारचतुर्मुख, ३०२
विचारचिन्तामणि, ३१३
विचित्रक, ३११
विचित्रवीणा, ४८
विजयनगर, २८२, ३१०, ३१४
विट्ठल, ३०३, ३१२
विदारी (लक्षण), ८६
विद्यारण्य, २८२, ३१०, ३११
विन्ध्य पर्वत, ३१२
विन्ध्याचल, २८२
विन्यास (लक्षण), ८७
विपञ्ची, १९, २९२, ३०५
विद्रदास, ३१२, ३१४
विभाव, (लक्षण), २५७
विभावती, २२०
विभावनी, २३०
विमर्श, २५४
विलम्बित, ६३, २४२, २४४
विवादी (लक्षण), ४२
विवृतता, १७
विशाखिल, ३५, २९५, २९७, ३००, ३०३, ३११
विशाला, २२८
विश्वप्रदीप, ३११
विश्वावसु, २१६, २७६, २९४, २९७, २९८, ३०३, ३११
विश्वेश्वर, ३१०
विहाग, २८९
वीणोत्तमा, ३०४
वीरभल्लट, ३०९
वृत्ति, ९३, ९४
वृद्ध काश्यप, २९५
वेङ्कट मखी, २८, ३०७
वेगमध्यमा, २२६
वेगरञ्जी, २२७
वेणीसंहार, १८
वेणु-गीत, २६६
वेदवती, २३०
वेदव्यास, २६६
वेदान्तकल्पतरु, ३१३
वेम, ३१२
वेलाकुली, ३०९
वेसर (लक्षण), २२३
वेसर षाडव, २२४, २२६, २३०
वेसरा (लक्षण), २४९
वेसरी, २२७, २२८
वैणिक, १९
वैपञ्चिक, १९
वैरञ्जी, २२७
वैसालम्, ३०५
वोट्ट, २२४, २२६, २३०
व्यभिचारी भाव (लक्षण), २५८

व्यास, ३०१

श

शक, २२४

शकतिलक, २२४

शकमिश्रा, २२६

शकवलिता, २३१

शका, २३१

शकुन्तला, ३०५

शक्ति, २९१, ३०३, ३११

शङ्कर, २, २९०

शङ्कराभरण, ३०९, ३११

शङ्कुक, २, ३, २५९, २६०, २९९, ३०१, ३०३, ३११

शतपथब्राह्मण, २५७

शतानन्द, २९८

शम्भुराज, ३०९

शम्भुराजीयम्, ३१०

शम्या (लक्षण), २३५

शाकम्भरी, ३०५

शातातप, ३००

शारदातनय, २९०, २९१, २९३, २९४, ३०१

शारदीय, ३०१

शार्ङ्गदेव, ५, ३, ९, १९, २१, ३५, ३७, ४८, ५५, ६१, ६२, ८८, ८९, ९३, ९५, ९६, ९७, ९८, १००, १०१, १०३, १०८, ११०, १११, ११२, ११४, ११६, ११८, १२०, १२३, १२५, १२६, १२७, १२९, १३०, १३२, १३३, १३४, १३५, १९२, १९४, १९७, २०१, २०४, २०७, २१२, २१५, २१८, २३४, २४१, २७७, २८१, २९०, २९१, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३११, ३१२, ३१४

शार्दूल, २२६, २९६, २९७, ३०३, ३११

शालवाहनिका, २२७

शिव, २९०, २९१, ३११

शिव-पार्वती-संवाद, २९१

शिवमत, २९१, २९८

शिवा, २९१, ३०३, ३११

शुक्र, २९४

शुक्राचार्य्य, ३०९

शुक्लपण्डित, ३१२

शुद्ध (लक्षण), २२१

शुद्ध कैशिक (राग, लक्षण), २१२

शुद्ध कैशिक मध्यम (राग, लक्षण), २१८

शुद्ध पञ्चम (राग, लक्षण), २१०

शुद्ध भिन्न (लक्षण), २२२

शुद्ध भिन्ना, २२८

शुद्ध मध्या, ३९, ४५, ४७, ५२, ७२

शुद्ध रागक्रिया, ३११

शुद्ध षड्जा, ३८, ४४, ४६, ५१, ६८, ७२

शुद्धषाडव (राग, लक्षण), २१५

शुद्ध साधारित (राग, लक्षण), २०७

शुद्धा, ३७, २२९, २४८

शुभङ्कर, २००, २९२

शुभाकर, २९३

शुष्काक्षर, (लक्षण), २५१

शृङ्गारप्रकाश, २९९, ३०१

शृङ्गारशेखर, २९४, ३०४
शृङ्गारहार, ३०५
श्रुतिदर्पण, २२, २३, २४, २५, ३१
श्रुतिनिदर्शन, १६
श्रुतिपरिमाण, २४
श्रुतिभिन्न (लक्षण), २२२
श्रुतिवीणा, २९
श्री, ३०९, ३११
श्रीकण्ठ, २८, ४८, २६७
श्रीकण्ठिका, २२९
श्रीकण्ठी, २३०
श्रीभरत, ३११
श्रीभूवल्लभ, ३११
श्रीमद्भागवत, २७०
श्रीरङ्गम्, ३०२
श्रीराय, २२५, २८३
श्रीशैल, २८२, ३१२
श्रीहर्ष, २८२

ष

षट्पितापुत्रक, २३६, २३९
षड्जकैशिक, २२५
षड्जकैशिकी, ७४, ७६, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ११०, ११५, ११६, १६०, १९७, २०४, २०८, २१८
षड्ज ग्राम (लक्षण), ६, ९, १०, २०४
षड्ज-मध्य-भाव, १३
षड्ज-पञ्च-भाव, १३
षड्जभाषा, २२९
षड्जमध्यमा, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ११५, ११६, १६०, १९७, २०४, २०८, २१८
षड्जमध्यमा (भाषा), २२८
षड्जसाधारण (लक्षण), १९२
षड्जांश कैशिकी, १२५
षड्जांश गान्धारोदीच्यवा, ११९
षड्जांश रक्त गान्धारी, १२२
षड्जांश विकृत मध्यमा, १०२
षड्जांश षड्जकैशिकी, १११
षड्जांश षड्जोदीच्यवा, ११५
षड्जांश षाडजी, ९२
षड्जोदीच्यवती, ७४, ७५, ७७, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ११५, ११६, १६०, १९७, २०४, २०८, २१८
षाड्जी, ७४, ७५, ७६, ७७, ७९, ८०, ८२, ८३, ८९, ९१, ९२, ९३, ९४, १३६, १३७, १३९, १९७, २७२, २८१, ३०३
षाड्जी (लक्षण), ८९
षाडव, २१५
षाडवा, ३६
षाडवित (लक्षण), ८४

स

संन्यास, ८६
संवृतता, १६, १७
संहार, १७
संकीर्णा, २३२
सङ्गीतकल्पवृक्ष, ३१३
सङ्गीतचन्द्र, ३१२
सङ्गीतचन्द्रिका, ३११

सङ्गीतचिन्तामणि, ३१२
सङ्गीतचूड़ामणि, ३०१, ३११
सङ्गीतदर्पण, ३१३
सङ्गीतदीपिका, ३११, ३१३
सङ्गीतमकरन्द, २९२
सङ्गीतमुक्तावली, ३११, ३१४
सङ्गीतमुद्रा, ३१३, ३१४
सङ्गीतरत्नावली, ३०२, ३१३
सङ्गीतविनोद, ३१३
सङ्गीतशिरोमणि, ३१०, ३१३, ३१४
सङ्गीतसमयसार, ३०१, ३०६, ३१३
सङ्गीतसागर, ३१३
सङ्गीतसार, ३११
सङ्गीतसारकलिका, ३१३
सङ्गीतसुधा, ३११
सङ्गीतसुधाकर, २९२, ३०२, ३१३
सङ्गीतालोक, ३११
सङ्गीतोपनिषत्सार, २९७, ३१३
सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार, २९७
सञ्चारीभाव (लक्षण), २५८
सत्यवाक्, ३१७
सदाशिव, ३०३
सन्धि, २५४
सन्निपात, २३५
सप्तमी, ७५
सप्ताध्यायी, ३०३
सप्तरूप, २, १८, २५२
सप्तशती, ३०५
सम, २४४
समग्रह, २४४
समपाणि, २४४
समहस्त, ३०५
समा, २४३
समित, ३०८
समुच्छ्राय, ३४
सम्पक्वेष्टाक, २४१
सम्भाविता, ९०, ९३, ९६, ९९, १०६, ११०, १११, ११२, ११५, ११६, १२०, २४५, २४६
सरस्वतीकण्ठाभरण, २९९
सरस्वतीवीणा, २७३, ३०४
सरस्वतीहृदयालङ्कार, ३००
सरोद, ४८
सशब्द, २३५
सागरनन्दी, २९८
साधारण (लक्षण), १९१
साधारण (रागभेद, लक्षण), २२३
साधारण (गीति, लक्षण), ३६, २४९
साधारण गान्धार (लक्षण), १९१
साधारित (राग, लक्षण), २०७
साधारिता, २२६
साम, २४४
सामन्त, ३१, १
सामवेद, ४
सार, ३०१
सारङ्ग वीणा, ३०४
सारङ्गी, ४८
सारणायुक्त श्रुतिदर्पण, २५
साहित्यदर्पण, २६८
सिंहण, ३०३, ३०५

सिंहभूपाल, ९, ३४, ३५, ३७, १९८, २३६, २४८, २८२, २९३, ३०३, ३०६, ३१२, ३१३
सिङ्गण, ३१२
सिङ्गणार्य, ३१२
सिद्धान्त कौमुदी, २
सिन्धु, ३०२
सुधाकलश, २९७
सुलतान हुसेन शर्की, ३१३
सैन्धवी, २२७, २२९
सोढल, ३०३
सोमनाथ, २८
सोमभूपाल, ३०२
सोमराज, १४, २५५
सोमराजदेव, ३०२
सोमेश्वर, ६, ३००, ३०१, ३०३, ३०४, ३१४
सौभद्र, २९२, ३११
सौराष्ट्र, ३०१, ३०४
सौराष्ट्री, २२७
सौवीर, २२४, २२६
सौवीरी, ३९, ५४, ७१, २२६
स्कन्द, २९४, ३०९
स्तोमक्रिया (लक्षण), २५२
स्तोभाक्षर (लक्षण), २५१
स्थायीभाव (लक्षण), २५७
स्थायी स्वर (लक्षण), ८७, १३६
स्रोतोगता, २४३
स्वयम्भू, ३०१
स्वयम्भू वीणा, ३०४
स्वरप्रबन्ध, ६१
स्वर साधारण, १९१, १९७
स्वराख्या, २३२
स्वराश्रिता (गीति, लक्षण), २४८
स्वाति, २९०, २९२, ३०३

ह

हनुमत्संहिता, २९५
हनुमन्मत, २७९, २९६
हम्मीर, ३००, ३०५, ३०६
हरिपाल, ३५, ३६, ४८, १२५, १३०, २९२, ३०२
हरिहर, ३१०
हर्षपुरी, २२९
हस्ताभिनय, २९६
हरिणाश्वा, ३९, ४४, ४७, ५१, ६१, ६२, ७२
हिजाज, ३१०
हिन्दोल, २२४, २२६, २२८, २८३
हिन्दोली, ३०९
हीजुज्जी, ३११
हृष्यका, ३९, ४५, ४७, ५२, ७३, १३२
हेजुज्जी, ३१०
हैदराबाद, ३००